पुस्तक .
"आम्र-मंजरी"

●

प्राप्तिस्थान
मुनि श्री हजारीमल स्मृति प्रकाशन
पीपलिया बाजार,
ब्यावर (अजमेर)

●

सस्करण
द्वितीय, अप्रैल १९७२
११०० प्रतिया

●

मुद्रणव्यवस्था
सजय साहित्य सगम
बिलोचपुरा, आगरा-२

मुद्रक :
रामनारायन मेडतवाल,
श्रीविष्णु प्रिंटिंग प्रेस
राजा की मडी,
आगरा-२

●

मूल्य :
पाच रुपये मात्र

समर्पण

स्वर्गीय श्रद्धेय गुरुणीजी

श्री सरदारकुँवरजी महाराज

को,

जिनकी सहज, शुद्ध सन्निधि

मे

मैंने अपने जीवन

के

नव - निर्माण

का

अमर आलोक पाया।

—अर्चना

प्रकाशकीय

(प्रथम संस्करण)

राजस्थानी साध्वियो मे महासती श्री उमरावकुंवरजी महाराज का अपना एक विशिष्ट स्थान है। अध्ययन और आचरण मे सतीजी का जीवन अतीव उत्तम है। प्रवचन भी सतीजी के सुमधुर और ओज पूर्ण होते है। विद्वत्ता-भरा विश्लेषण और विशिष्ट शैली को लेकर अपनी मधुर मुस्कान के साथ सतीजी जब प्रवचन करते है तो सुनने वाले मन्त्रमुग्ध से बन जाते है।

सतीजी ने अपनी सुयोग्य शिष्याओ के साथ उत्तर प्रदेश, पंजाब, हिमाचल तथा कश्मीर आदि दूरतम प्रान्तो मे भी पद-प्रवास किया है। उधर से सतीजी जब पुनः इधर पधारे तो व्यावर संघ को यह भावना हुई कि सतीजी का एक वर्षावास व्यावर मे हो जाय तो यहा की जनता को अधिक समय तक आपके प्रवचन सुनने का सुअवसर मिल सके।

गत वर्ष सतीजी का वर्षावास व्यावर मे हुआ और श्रावक-सघ की भावना फलवती बनी। सघ ने सतीजी के प्रवचनो को लिखित रूप में लाने की व्यवस्था भी की। श्रीयुत् श्रद्धेय पडित-प्रवर शोभाचन्द्रजी भारिल्ल की सुयोग्य पुत्री श्रीमती कमला जैन 'जीजी' ने प्रवचनो का आलेखन और सम्पादन किया। सम्पादित प्रवचनो का सूक्ष्म अवलोकन श्रीयुत भारिल्लजी ने भी किया और यत्र-तत्र कुछ सशोधन, परिवर्धन भी किया, जिससे यह रचना सोने मे सुगन्ध जैसी बन गई।

आम्र-मजरी की आख्या से सतीजी के प्राय वे सभी प्रवचन एक पुस्तक के रूप मे मुनि श्री हजारीमल स्मृति-प्रकाशन की ओर से प्रथम प्रकाशन का रूप लेकर जन-जन के कर-कमलो मे पहुँच रहे है।

मुनि श्री हजारीमल स्मृति प्रकाशन एक नव्य सस्था है। उप-प्रवर्तक पूज्य मुनिराज श्री व्रजलाल जी महाराज की प्रेरणा तथा श्री मधुकर मुनिजी का प्रयास ही इस सस्था का उद्गम है, दोनो मुनिराजो का परमपुनीत आशीर्वाद इस सस्था के साथ है अत. इस संस्था की प्रगति मे सन्देह ही क्या है ?

अध्येताओ के लिये 'आम्र-मजरी' अध्ययन की एक विशिष्ट सामग्री सिद्ध होगी, ऐसी पूर्ण आशा है।

'आम्र-मजरी' के सम्पादन व मुद्रण में श्रीयुत सेठ गुलावचन्दजी सुराणा ने पन्द्रहसौ रुपयो की सहायता देकर सस्था को सहयोग दिया है। श्री सुराणा जी मूलनिवासी कुचेरामारवाड के है। अभी आप वोलारम-सिकदरावाद के विशिष्ट व्यवसायियो मे अग्रगण्य है। सुराणा जी की सेवा-भावना, सज्जनता तथा उदारता अतीव श्लाघनीय है।

श्रीयुत सुराणा जी तथा अन्य सहयोगियो ने जो सहयोग दिया है उसके लिये यह सस्था सदा उनका आभार मानती रहेगी। आशा की जाती है कि वे सभी सहयोगी समय-समय पर सस्था को सहयोग देकर उसके सदा सहायक वने रहेगे।

प्रकाशन का महत्त्व है उसके अधिकतम प्रचार और प्रसार में। यह तभी सभव हो सकता है जवकि पाठक अधिक अध्ययनशील वने। अन्त मे मैं पाठको से सानुरोध प्रार्थना करूगा कि वे आम्र-मजरी के अध्येता वनकर उसके प्रचार व प्रसार मे निमित्त वने और सस्था के प्रयास को सफल वनावे।

चम्पानगर,
व्यावर (राज)
दिनाक २-१२-६६

मत्री
मुनि श्री हजारीमल स्मृति प्रकाशन

प्रकाशकीय

(द्वितीय संस्करण)

मुनि श्री हजारीमल स्मृति प्रकाशन के प्रथम पुष्प "आम्रमजरी" का द्वितीय सस्करण अपने स्नेही पाठको के हाथो में रखते हुए हार्दिक प्रसन्नता हो रही है। कथा-कहानियो को छोड़कर किसी प्रवचन की पुस्तक का नवीन सस्करण प्रकाशित होना एक महत्त्व की वात है। आम्रमंजरी का नवीन संस्करण प्रकाशित होना इसकी लोकप्रियता का ज्वलन्त प्रामण है। यह पुस्तक सभी श्रेणियो के पाठको द्वारा सराही गई है। सतीजी श्री उमरावकुवरजी महाराज की प्रवचन शैली अत्यन्त हृदयग्राही होती है। पाठकों का मन ये प्रवचन वरवस अपनी ओर खीच लेते है। जहां सन्त सतियो के चातुर्मास नही होते वहां ये प्रवचन व्याख्यान के रूप में पढे जाते है। यह वात इस पुस्तक की उपयोगिता व उत्कृष्टता को प्रमाणित करती है।

आज जव छपाई व कागज की कीमते आसमान को छू रही है, संस्था ने पुस्तक को लागत मूल्य पर ही पाठको को देने का निश्चय किया है। आशा है प्रेमी पाठकगण पुस्तक का उसी तरह स्वागत करेंगे तथा अधिकाधिक प्रचार व प्रसार मे सहयोग प्रदान करेगे।

पीपलिया वाजार
व्यावर (राज.)
ता ४-४-१९७२ ई

निवेदक
सुगनचन्द कोठारी
मत्री
मुनि श्री हजारीमल स्मृति प्रकाशन

शतशः स्वागतम्

प्रस्तुत पुस्तक का नाम 'आम्र-मजरी' है इसमे सतीजी श्री उमराव कुवरजी के प्रवचन सकलित किये गए है।

यौवन के प्रथम पद - विन्यास के क्षणो मे ही सतीजी ने सयमी जीवन में प्रवेश कर दिया था। आपने अपने पिताजी श्री मागीलालजी के साथ चादावतो के 'नोखा' गॉव मे विक्रम सम्वत् १९९४ की मार्गशीर्ष कृष्णा एकादशी को सयम ग्रहण किया था। उस समय आपकी अवस्था करीवन पन्द्रह वर्ष की थी।

आपके गुरु महाराज थे स्वर्गीय स्वामीजी श्री हजारीमल जी महाराज। स्वय स्वामीजी महाराज ने अपने मुखारविन्द से सतीजी को दीक्षा का सूत्र-मत्र सुनाया था।

सतीजी श्री सरदारकुंवरजी महाराज सतीजी की गुरुणीजी थी। सतीजी श्री सरदारकुवरजी अपने समय की एक उज्ज्वलचरिता प्रतिभावाली साध्वीजी थी।

सतीजी का गुरु-पक्ष तथा गुरुणी-पक्ष सदा से उज्ज्वल-समुज्ज्वल रहा है। सतीजी ने भी अपनी उस गुरु परम्परा का पालन किया है, यह वडी प्रसन्नता की वात है।

वर्तमान मे भी परम श्रद्धेय पूज्य गुरुदेव श्री ब्रजलालजी महाराज का सात्त्विक शिक्षण-सन्देश भी सतीजी को समय-समय पर मिलता रहता है। अत इस कारण से भी आपका जीवन प्रतिपल सौरभमय वनता रहता है।

स्वर्गीय पूज्य गुरु महाराज की आपके ऊपर असीम कृपा रही है और आपके हृदय मे भी गुरुदेव के प्रति अचल श्रद्धा रही है। इसी का यह सुपरिणाम है कि आपने जीवन के क्षेत्र मे हर तरह से विशुद्ध विकास पाया है।

सतीजी के पास अपना एक अध्ययन है, गहरा चिन्तन है, आगमो का अवगाहन है। न्याय व दर्शन शास्त्रो का परिशीलन है और आधुनिक साहित्य का भी अवलोकन है।

सती जी की वोली मे मधुरता है, अपनी वात कहने की एक अद्भुत कला है उनमे, भाषा उनकी प्राजल है। आप शुद्ध हिन्दी भाषा मे वोलती है।

हा, अव मै सती जी की प्रवचन शैली के विषय मे कुछ कहू ? सार्वजनिक सभाओ मे वहुधा उनके प्रवचनो को सुनने का अवसर मुझे भी मिला है। मेरे मन को उनके प्रवचन वहुत भाये है।

प्रवचनो मे सार्वजनिकता का रूप अधिक रहता है इसलिये उनके प्रवचन अधिक लोकप्रिय वने हुए हैं।

उत्तरप्रदेश, पजाव,हिमाचल और जम्मू-कश्मीर की यात्रा की है सती जी ने, अत उधर के महत्त्वपूर्ण अनुभव भी आपके प्रवचनो मे यत्र-तत्र मिलते रहते है।

सती जी का गत वर्षावास व्यावर मे था, उस समय आपने जो प्रवचन दिये, उनका सकलन प्रस्तुत पुस्तक 'आम्र-मजरी' मे किया गया है। प्रवचनो के लेखन व सपादन का सर्व उत्तरदायित्त्व प्रिय बहन कमला 'जीजी' ने अपने ऊपर लिया था। जीजी ने अपना उत्तरदायित्त्व निष्ठा के साथ निभाया है। कमला जी स्वय एक विदुषी और कवयित्री महिला है। उनकी कला-कुशलता इस सपादन मे यत्र-तत्र सर्वत्र दृग्गत हो रही है।

सती जी के प्रति कमला जी के स्वान्त मे सहज स्नेह और शुद्ध श्रद्धा है। प्रस्तुत सम्पादन की सफलता मे यह भी एक विशिष्ट निमित्त है।

प्रस्तुत पुस्तक का आम्र-मजरी नाम पूर्णरूपेण उपयुक्त है। जिस प्रकार आम्र-फलो का प्रारम्भ मजरी से ही होता है उसी प्रकार मनुष्यो के हृदयो को उज्ज्वल व पवित्र वनाने का प्रारम्भ सती जी के प्रवचनो मे होगा और तभी यह नाम अपने को सार्थक वनाएगा।

मुनि श्री हजारीमल स्मृति-ग्रन्थ के निर्माण की एक सुन्दर सयोजना व्यावर मे वनी थी। उसके लिये एक समिति का गठन किया गया था। समिति का नाम रखा गया था 'मुनि श्री हजारीमल स्मृति ग्रन्थ प्रकाशन समिति" उच्चतम सम्पादको के सहयोग से समिति को अपने काम से पूर्ण सफलता मिली। स्मृति ग्रन्थ के प्रकाशन के वाद समिति के सदस्यो ने उक्त संस्था को स्थायी रूप से चलाने के लिये तथा उच्चतम साहित्य - प्रकाशन के सम्वन्ध मे विचार विनिमय किया। उक्त विचारविमर्श के अनुसार मुनि श्री हजारीमल स्मृति प्रकाशन इस नाम परिवर्तन के साथ सस्था को स्थायी रूप दिया गया। मुनि श्री हजारीमल स्मृति प्रकाशन से आम्र-मजरी प्रथम प्रकाशन के रूप मे जन-जन के कर-कमलो मे पहुच रही है।

शतशः स्वागतम्!

शारदीया पूर्णिमा
वि० स० २०२३
जैन स्थानक
पीपलिया वाजार,
व्यावर (राजस्थान)

—मधुकर मुनि

अपनी बात . . . . !

●

प्रस्तुत पुस्तक 'आम्र-मजरी' आज पाठको के कर-कमलो मे पहुचा रही हू यह मेरे लिये असीम प्रसन्नता की बात है।

इसमे परम विदुषी महासती जी श्री उमरावकु वर जी 'अर्चना' के समय-समय पर दिये हुए प्रवचन और मुख्य रूप से तो गत वर्ष व्यावर चासुर्मास मे दिये हुए सम्पूर्ण प्रवचन सकलित है।

कहने की आवश्यकता नहीं है, पुस्तक पढकर पाठको को स्वय अनुभव हो जाएगा कि महासती जी का विभिन्न दर्शनो पर तथा विशेषत जैन दर्शन पर कितना गम्भीर अध्ययन है।

आपने मनुष्य के आतरिक तथा वाह्य दोनो ससार मे प्रत्येक स्थल पर निर्वाध रूप से प्रवेश किया है। साधना, श्रद्धा, भक्ति तथा कषाय नाश के द्वारा जहा एक ओर आपने मनुष्य की आत्मशक्ति को सुदृढ व शुद्ध बनाने का प्रयास किया है, दूसरी ओर प्रामाणिकता, उदारता, विनम्रता तथा मैत्री आदि अनेक प्रकार की प्रेरणाएँ देते हुए मानवता को निखारने का तथा उसे महानता मे परिणत करने का प्रयत्न किया है। आपके विचारो की सबसे बडी विशेषता जो मुझे दृष्टिगोचर हुई है, वह है अन्य समस्त धर्मो व सम्प्रदायो के प्रति आपका अत्यन्त उदार दृष्टिकोण। 'सव नदिया सागर की ओर' नामक प्रवचन इसका एक सुन्दर प्रमाण है।

राजस्थान, पजाव, काश्मीर व हिमाचल प्रदेश के सुदूर प्रवासो ने आपके अनुभव, ज्ञान व विद्वत्ता मे चार चाद लगा दिये है और आपकी व्याख्यान शैली को अत्यन्त व्यावहारिक, प्रेरणाप्रद तथा मधुर बना दिया है। इसी कारण व्यावर के प्रतिष्ठित श्री-सघ ने गतवर्ष आपका वर्षावास यहा कराया तथा सघ की प्रार्थना पर होने वाले चातुर्मासो के इतिहास मे किसी साध्वीजी के चातुर्मास के नाते आपका नाम सर्व प्रथम अंकित हुआ।

ब्यावर के श्री-संघ ने महासती जी म० के व्याख्यानों को लिपिबद्ध करवाया और 'मुनि श्री हजारीमल स्मृति प्रकाशन' ने इनका सम्पादन करने का सुअवसर मुझे प्रदान किया।

वैसे मैं व्यक्तिगत रूप से भी महासती जी के सम्पर्क में समय-समय पर रही हूँ। अनेक वार विभिन्न विषयो पर उनसे विचार-विमर्श किया है और निकट से अध्ययन करने के अवसर भी मिलते रहे हैं। उन अवसरों पर मैंने जो उनसे पाया है वह इस पुस्तक में वहुत अधिक महत्त्वपूर्ण तथा प्रभावशाली है।

यद्यपि सुनकर लिखने मे भाषा और शब्दों मे कुछ विभिन्नता होना स्वाभाविक है, पर मौलिक विचार वैसे ही रहने देने में मैंने वहुत सावधानी वरती है। किन्तु फिर भी सम्पादन करते समय विषय रचना मे कही कोई वात या विषय साधु भाषा के प्रतिकूल हो तो उसका उत्तरदायित्व मेरा ही समझना चाहिये। क्योकि महासती जी के प्रवचन तो पूर्णरूप से सन्त-भाषा मे ही होते हैं।

सम्पादन कार्य में मेरे पूज्य पिता जी प० शोभाचन्द्र जी सा० भारिल्ल ने समय-समय पर मुझे वहुमूल्य सहयोग दिया, मेरा पथ-प्रदर्शन किया और पुस्तक को अंतिम निखार दिया, इसके लिये मैं वहुत कृतज्ञ हू।

पूज्य पं० मुनि श्री मिश्रीमल जी म० सा० 'मधुकर' ने पुस्तक की भूमिका 'शतशः स्वागतम्' के रूप मे लिखी और इसके प्रकाशन मे वहुमूल्य योग प्रदान किया है इस सवके लिये वहुत-वहुत आभार'

मुनि श्री हजारीमल स्मृति प्रकाशन ने प्रस्तुत पुस्तक से ही अपने प्रकाशन के पुण्यकार्य का मंगलाचरण किया है। हार्दिक कामना है कि प्रकाशन का कार्य द्रुतगति से अग्रसर हो और वह साहित्य जगत् मे प्रतिष्ठा प्राप्त करे।

चम्पानगर, ब्यावर
दिनाक ४-११-६६

—कमला जैन 'जीजी' एम० ए०

अनुक्रमणिका

अध्यात्म और साधना

●●

१ | साधना की धुरी मन !

साधना के क्षेत्र मे जो स्थान मन का है, और मन का जितना महत्त्व है, उतना किसी भी अन्य साधन का नही है। मन क्या है ? इस सम्बन्ध मे प्राचीनकाल से ही साहित्य मे लिखा जाता रहा है। आज भी मनोविज्ञान के क्षेत्र मे मन की लहरो का विश्लेपण यानी कि मन की भावनाओ का विवेचन तथा मन की क्रियाओ का अध्ययन वडी ही गहराई से किया जाता है। मैट्रिक की कक्षाओ मे ही मनोविज्ञान की शुरुआत हो जाती है और क्रमश बी० ए०, एम० ए० तक मनोविज्ञान के गभीर अध्ययन के द्वारा मन के मर्म को समझने का प्रयत्न किया जाता है। आधुनिक युग मे अनेक दर्शन-शास्त्र है, किन्तु मनोविज्ञान सर्वाधिक लोक-प्रिय दर्शन है, ऐसा माना जाता है। विदेशो मे भी इसका प्रचार अधिकाधिक होता जा रहा है। कारण इसका यह है कि मनोविज्ञान का हमारे जीवन से सीधा सम्बन्ध है। हमारे विचारो का हमारे शरीर पर, समाज पर तथा राष्ट्र पर कैसा प्रभाव पडता है इसका विवेचन सिर्फ मनोविज्ञान ही कर सकता है। इसलिये यही जीवन का शास्त्र है, दर्शन है तथा जीवन की कला भी है। यद्यपि मानव के जीवन मे प्रत्येक विद्या का अपना-अपना महत्त्व है, जीवन को समुज्ज्वल, शांत तथा सुन्दर बनाने के लिये मनुष्य को प्रत्येक विद्या का अध्ययन करना होता है। किन्तु सबसे अधिक सहायक उसमे मनोविज्ञान ही है। मन की प्रत्येक वृत्ति का विश्लेपण करके ही मन के अच्छे संस्कारो को प्रोत्साहन दिया जा सकता है और बुरे सस्कारो को वदला जा सकता है। मन के बुरे सस्कारो का वदला जाना ही मन की विशुद्धि है और यही मन की विशुद्धि-साधना है। साधना के विना मानव जीवन निष्फल है।

किसी भी प्रकार की आध्यात्मिक साधना करने के लिये मन की शुद्धि आवश्यक है, आवश्यक ही नही, अनिवार्य ही समझना चाहिये। एक हद तक तन की शुद्धि भी महत्त्व रखती है किन्तु उसके होने पर भी अगर मन की शुद्धि नही हो पाती है तो करोड़ो जन्मो तक भी साधना का शुभ फल शुभ चिह्न जीवन मे दृष्टिगोचर नही हो सकता। इसके विपरीत अगर तन की विशुद्धि सम्यक् रूप से है तो साधना के चरम लक्ष्य को हम प्राप्त कर सकते है। साधना की धुरी मन ही है क्योंकि वह शरीर की समस्त इन्द्रियो का सारथी है। पाचो के विषयो का ज्ञान तभी होता है जब कि मन का उनके साथ सम्बन्ध होता है। और इसलिये पूर्ण रूप मे इन्द्रियो का स्वामी होने के कारण मन को बडा ही शक्तिशाली तथा चचल माना गया है कहा भी है—

चञ्चल हि मन कृष्ण ! प्रमाथि बलवद् दृढम्।
तस्याह निग्रह मन्ये वायोरिव सुदुष्करम्॥

—गीता

अर्थात् मन बडा ही चंचल है। यह मनुष्य को मथ डालता है, बडा बलवान् है। जैसे वायु को दबाना अति कठिन है, वैसे ही मन को वश मे करना भी मैं बहुत मुश्किल मानता हू।

मन महाशक्तिशाली है और वही मनुष्यो के बन्ध और मोक्ष का कारण है। विषयासक्त मन बन्धन का कारण बनता है तथा निर्विषय मन मुक्ति का प्रदाता कहा जाता है—

मन एव मनुष्याणा, कारण बधमोक्षयो।
बन्धाय विषयासक्तं, मुक्त्यै निर्विषय स्मृतम्॥

—ब्रह्मबिन्दु उपनिषद्

मन ही मनुष्य को स्वर्ग अथवा नरक मे भेज सकता है। पाप कर्मो का आश्रव मन, वचन तथा कर्म से होना माना जाता है किन्तु उसमे मुख्य कारण मन ही है। यथा—

मनसैव कृतं पाप न वाण्या न च कर्मणा।
येनैवालिगिता कान्ता तेनैवालिगिता सुता।

मन के भाव से ही पाप माना जाता है। भावनाए ही पत्नी तथा पुत्री मे भिन्नता करती है। विनोबाभावे कहते है—जब तक मन नही जीता जाता, राग-द्वेष शांत नही होते, तब तक मनुष्य इन्द्रियो का गुलाम बना

रहता है । मन ही अपने लिये जीवन का रास्ता बनाता है और मृत्यु का रास्ता भी मन ही मे तैयार होता है । विचार उस रास्ते की सीमा निर्धारित करते है । जो मनुष्य अपने मन को वश मे कर लेता है वह ससार भर को वश मे कर लेने की शक्ति प्राप्त कर सकता है । इसके विपरीत जो व्यक्ति अपने मन को न जीतकर उसके वश मे स्वय हो जाता है, उसे ससार की अधीनता स्वीकार करनी पडती है और पग-पग पर तिरस्कृत होना पडता है, सुनना पडता है —

पतितः पशुरपि कूपे निःसर्तुं चरण-चालनं कुरुते ।
धिक् त्वा चित्त, भवाब्धेरिच्छामपि नो बिभर्षि निःसर्तुम् ॥

अर्थात् कुए मे गिरा पशु भी उसमे से निकलने के लिये पैर चलाता है, कोशिश करता है, किन्तु हे मन, तुझे धिक्कार है कि तू भव सागर से निकलने की इच्छा भी नही करता ।

जब तक मन स्थिर नही होता चचल रहता है, तब तक किसी को अच्छा गुरु और साधु लोगो की सगति मिल जाने से भी कोई लाभ नही होता । यह ही सुख व दुख का कारण है, इसीलिये ऐसा देखा जाता है कि एक ही विषय को पाकर भी मन की अवस्था के भेद से मनुष्यो को सुख और दुख का अनुभव हुआ करता है । उसी मनुष्य को वीर, महान् व मान्य समझा जाता है जिसने अपने मन को वश मे कर लिया हो । आदि काल से भी मन को मारने का आग्रह किया जाता रहा है । कबीरदासजी ने कहा है—

केसन कहा बिगारिया, जो मूडो सौ बार ।
मन को क्यो नहि मूंडिये, जामें विषय विकार ॥
कबिरा उसको मारिये, जिस मारे सुख होय ।
भला भला सब जग कहे, बुरा न माने कोय ॥

एक उर्दू के कवि ने भी यही कहा है—

बाद मुद्दत के यह ऐ दाग समझ मे आया ।
वही दाना है कहा जिसने न माना दिल का ॥

तात्पर्य यही कि इस मन को वश मे किये बिना, मारे बिना, उसकी शुद्धि नही हो सकती और मनुष्य किसी भी प्रकार की आध्यात्मिक साधना करने मे सफल नही हो सकता ।

अव प्रश्न यह होता है कि मन को मारने का अभिप्राय क्या है ? ससार मे वही मनुष्य कार्य सिद्ध कर सकता है जो जीवित है। मृतक तो कुछ कर ही नही सकता। इसी प्रकार यदि मन को मार दिया जाय तो फिर उससे भी कुछ काम नही लिया जा सकता। इस विषय मे वडे सुन्दर ढग से गीता मे वताया गया है—

असशय महाबाहो ! मनो दुर्निग्रह चल ।
अभ्यासेन तु कौन्तेय, वैराग्येण च गृह्यते ॥
शनै शनै रुपरमेद् बुद्ध्या धृति-गृहीतया ।
आत्मसंस्थं मन कृत्वा न किंचिदपि चिन्तयेत् ॥
यतो यतो निश्चरति मनश्चञ्चलमस्थिरम् ।
ततस्ततो नियम्यैतदात्मन्येव वश नयेत् ॥

हे महाबाहो ! निस्सदेह यह मन वडा ही चचल है, यह रुक नही सकता, परन्तु हे कौन्तेय ! अभ्यास और वैराग्य से यह वश मे किया जा सकता है।

यही उचित है कि धैर्ययुक्त वुद्धि से मन को धीरे-धीरे वश मे करे। मन को सयम मे लाकर अन्य किसी ओर ध्यान न दे। उसके वाद जिधर-जिधर यह चचल और अस्थिर मन जाए उधर-उधर से उसे मोडकर अपने अन्दर ही उसको नियन्त्रित करे।

धैर्यशाली पुरुष अपने हाथ मे विवेक और वैराग्य की लगाम पकड़कर मन रूपी अश्व को वश में कर लेते है। यह वात एक उदाहरण से स्पष्ट हो जाती है—

तीन व्यक्ति थे। उन्होने एकवार घुडसवारी का विचार किया। उन्होंने एक एक अश्व खरीदा और उस पर वैठकर चल दिये। घोडो के स्वभाव से वे अनभिज्ञ थे। उन्हे वश मे करने का उनको अनुभव नही था। घोडे तीव्रगामी थे, दौडने लगे। सवारो ने कई प्रकार से उन्हे रोकने की तथा खडा करने की कोशिश की पर वे सफल नही हो सके। भय के कारण उन्होंने जोर से चावुक फटकारने शुरू किये पर कोई फायदा नही हुआ। तीनो ने समझ लिया कि आज हमारा काल सामने आ खडा हुआ है। अचानक ही एक सवार को न जाने क्या सूझा कि उसने कमर से कटार निकाली और घोडे की टाग काट दी। घोडा गिर पडा और सवार उतर गया। मन मे वह खुश हुआ कि मेरे प्राण वच गए पर जव उसने देखा कि वह घोर जगल मे है, कही रास्ता दिखाई नही देता तो पश्चात्ताप

करने लगा कि घोडे को गिरा देने से मेरी जान बच गई पर मेरी गति भी तो रुक गई। अव मैं इस घोडे से कुछ भी फायदा नही उठा सकता, न अपने गन्तव्य स्थान पर पहुच सकता हूँ। वडा दु.खी होता हुआ वह जोर से रोने लगा।

दूसरे सवार ने जव देखा कि घोडा इतने वेग से भाग रहा है और मैं गिर जाऊँगा तो उसने घोडे पर से छलाग लगादी। घोडा भाग गया पर वह व्यक्ति गिर पडा। टाग टूट चुकी थी। पहले तो वह भी घोडे से मुक्ति पाकर कुछ प्रसन्न हुआ किन्तु जव देखा कि जाघ मे कडी चोट आने से वह चल फिर नही सकता तो वह भी शोकाकुल हो गया।

तीसरा सवार अभी घोडे पर ही था। उसने अपने साथियो की दुर्दशा को भाप लिया था। धैर्यपूर्वक उसने लगाम को पकडे रखा और घोडे को थोडा सा पुचकारा। घोडे की गति कुछ धीमी पडी पर वह सीधा मार्ग छोड कर वीहड जगल की ओर चल पडा। सवार ने एडी लगाकर लगाम को खीचा और उसे ठीक मार्ग पर ले आया। थोडा और पुचकारा। उसके वाद जव-जव घोडा भटकने की चेष्टा करता, सवार कभी उसे पुचकार कर, कभी चावुक से डराकर सही मार्ग पर ले आता। अन्त मे इस प्रकार करते रहने पर घोडा उसके वश मे हो गया और फिर सवार की इच्छानुसार सकेत पर चलने लगा। फलस्वरूप घोडा क्षतिग्रस्त नही हुआ और सवार अपने निर्धारित स्थान पर पहुँच गया।

ससार के सभी व्यक्तियो को मन रूपी अश्व मिले हुए हैं। पर कुछ व्यक्ति पहले घुडसवार के तुल्य होते है जो मन को वश मे न कर पाने के कारण गाजा, चरस आदि सेवन करके उसे जड़ वना लेते है और मन के जडवत् हो जाने के कारण उनकी स्वय की विचारशक्ति, मननशक्ति, ज्ञानशक्ति नष्ट हो जाती है। वे विवेकहीन होकर न तो अपना ही कल्याण कर सकते है और न दूसरो का भला कर पाते हैं।

कुछ मनुष्य दूसरे सवार की तरह होते हैं। वे मन तथा इन्द्रियो के वश मे होकर सासारिक दुख और सताप से आकुल-व्याकुल हो जाते है और उनसे छुटकारा पाने के लिए अनेक दुर्व्यसनो को अपना लेते है। अश्लील नाच तमाशे देखकर दु खो को भूलने की कोशिश करते है, फिर मकडी की तरह मे अपने जाल मे आप ही फँस जाते हैं। उनके दुखो का नाश तो होता नही उलटे नए कर्मो का वन्धन हो जाता है। प्रत्यक्ष रूप मे अनेक व्याधियो के शिकार वनते हैं और फिर पश्चाताप करते है। क्योकि विलासिता से और

अन्य व्यसनों का सेवन करने से उनमें नित्य अवगुणों का उद्गम व आगमन होता है और उन्हें जीवन में कभी शांति नहीं मिल पाती। अग्नि में घी डालने से जिस तरह अग्नि बुझती नहीं, भोगों को भोगने से भी तृप्ति के स्थान पर उलटे अशांति का सामना उन्हें करना पड़ता है।

कुछ मनुष्य तीसरी तरह के भी होते हैं। वे मन को विचारहीन नहीं बनाते, उसे ढील नहीं देते, धैर्ययुक्त पुरुषार्थ से उसे वश में कर लेते हैं। उतावलापन नहीं दिखाते वरन् अभ्यासपूर्वक उसे सही दिशा में चलते रहने के लिए प्रेरित करते हैं। और यह अभ्यास ही साधना करने में सहायक होता है। मन की सहायता के बिना साधना-पथ पर चलना आकाश में महल बनाने का स्वप्न देखने के समान है।

भारतीय साहित्य में एक अन्य प्रकार से भी मन पर विचार किया गया है। मन के तीन मुख्य गुण माने गए हैं—तमोगुण, रजोगुण तथा सतोगुण। मनुष्य के मन में इनमें से किसी एक गुण की अधिकता विद्यमान रहती है।

जब मानव के मन में किसी प्रकार का उत्साह, स्फूर्ति एवं कार्य करने की लगन नहीं होती, मन सदा आलस्य तथा तन्द्रा के आधीन रहता है, उस समय, तमोगुण की पहचान सहज ही हो जाती है। क्रियाहीनता तथा जड़ता तमोगुण का मुख्य लक्षण है। तमोगुणी व्यक्ति साधना में तो क्या, किसी भी क्षेत्र में सफलता प्राप्त नहीं कर सकता। वह मलूकदास की इस उक्ति को सार्थक करता है—

अजगर करे न चाकरी, पंछी करे न काम।
दास मलूका कह गए, सब के दाता राम॥

यानी अजगर जैसे महाकाय को और छोटे-छोटे पक्षियों को भी जब किसी की गुलामी नहीं करनी पड़ती, कोई कार्य नहीं करना पड़ता तो हम ही क्यों व्यर्थ दौड़ धूप करें। राम जब हम सबको देता है तो मुझे भी देगा ही।

इसके अलावा प्रमाद के वशीभूत होकर वह सोचता है, दिन रात हाय-हाय क्यों करें। क्या जल्दी है? समय तो जिन्दगी में बहुत है—

आज करे सो काल कर, काल करे सो परसों॥
इतनी जल्दी क्यों करता रे, अभी तो जीना बरसों॥

सो ऐसे व्यक्ति पुरुषार्थ शून्य हो जाते हैं। वे बिना कर्म किए ही फल की आकांक्षा रखते हैं। ऐसे व्यक्ति तमोगुणी मन के कहलाते हैं।

मन का दूसरा गुण है रजोगुण। रजोगुणी व्यक्ति का मन सदा क्रियाशील, चचल व अशांत रहता है। उसकी मनोवृत्ति अपने कर्म के फल मे इतनी अधिक आसक्त रहती है कि वह किसी भी मूल्य पर अपने कर्म के फल को छोडने के लिए तैयार नही होता। कर्म के फल के लिए ही वह कार्य करता है और अपने कर्म का फल भी अपने ही लिए चाहता है। सारा फल स्वय समेटता है। सबसे पहले अपने कर्म का फल पाना चाहता है। उसके लिये बनाया हुआ भोजन अगर भाग्यवशात् किसी अतिथि को दे दिया जाय तो वह आगबबूला हो उठता है। वह बर्दास्त नही कर सकता कि उसके अधिकार की वस्तु को कोई अतिथि, भिखारी, उसका पुत्र अथवा उसकी पत्नी भी प्राप्त करले। उसे यह सह्य नही होता कि उसके कर्म के फल मे कोई दूसरा भागीदार बन जाए। कर्म फल को बाँटकर उपभोग करने मे उसको विश्वास नही होता। धन, वैभव, पूजा या प्रतिष्ठा के लिये वह जो श्रम करता है उस सबका फल वह अपने लिए ही चाहता है।

तीसरा गुण है सत्वगुण। सत्व गुण आनन्ददायक, उल्लासपूर्ण व ज्योतिर्मान होता है। जिस व्यक्ति के मन मे सत्व गुण की प्रधानता होती है, वह सदा प्रसन्नचित्त, शात व संतुष्ट रहता है। सासारिक वैभव-विलास की आकाक्षा उसके मन मे नही रहती। वह कर्म करता है, किन्तु कर्म के फल की आकाँक्षा नही करता। वह भौतिक सुखो मे आनन्द मानता है। सत्व गुण का यह मतलब नहीं कि सतोगुणी व्यक्ति कर्म को तिलाञ्जलि दे दे, पर यह है कि वह कर्म के फल की अभिलाषा न करे। वह दान देता है पर दान का फल नही चाहता। सेवा करता है पर उसके बदले सराहना करवाने की आकाक्षा नही रखता। वह भगवान की उपासना करता है पर भगवान से कुछ मागता नही। परिवार, समाज व देश के लिए अपना सब कुछ त्याग कर भी उनसे बदले मे कुछ पाने की इच्छा नही रखता। सक्षेप मे सब कुछ देता है पर लेता कुछ भी नही। वह आध्यत्मिकता के उस शिखर पर पहुँच जाता है जहाँ कुछ पाने की अभिलाषा ही शेष नही रह जाती। उसका मन सासारिक प्रपचो से दूर रहकर असीम शाति और निराकुलता का अनुभव करता है। वह सर्वदा अखण्ड आनन्द का अनुभव करता है।

इस प्रकार भारतीय साहित्य मे और विशेषत योगशास्त्रो मे मन की प्रवृत्तियो का बडा ही सुन्दर विवेचन दिया गया है। उसका अभिप्राय यही है कि साधक अपने मन के स्वरूप को समझ सके, क्योंकि हमारी प्रत्येक आध्यात्म-साधना की धुरी मन ही है। मन को साधे विना साधना करना असभव है।

मन को साधने के संबंध मे शास्त्रो मे अनेक उल्लेख मिलते हैं। गौतम स्वामी श्रमणकेशीकुमार को मन के विषय मे बताते है कि यह मन ही साहसिक, दुष्ट और भयकर अश्व है जो चारो ओर भागता है। मैं उसका जातिवान अश्व की तरह धर्म शिक्षा द्वारा निग्रह करता हूं—

मणो साहसिओ भीमो, दुट्ठस्सो परिधावई।
तं सम्म तु निगिण्हामि, धम्मसिक्खाइ कंथगं॥

—उत्तराध्ययन सूत्र २३

हमारा जैन दर्शन भी मन को बिना दबाए, बिना यातना दिये, बिना तिरस्कृत किये और बिना उसे स्वतन्त्र छोडे अत्यन्त शांति पूर्ण व संयत तरीके से बोध देने का निर्देश देता है और इस प्रकार उसे साधना मे सहायक बनाता है।

☆ ☆

२

साधना का मर्म

साधना का क्षेत्र वडा विस्तृत और जटिल है। जव तक साधना के मर्म तक पहुँच कर उसे समझने का प्रयत्न न किया जाए तव तक साधना का आनन्द नही आ सकता। जो व्यक्ति विवेक और बुद्धि के द्वारा सही तरीके से साधना करते है वे अपनी साधना मे अवश्य ही सफल हो सकते है, इसमे कोई सशय नही है। निर्दिष्ट साध्य को प्राप्त करने के लिये साधना करना अनिवार्य है किन्तु उसका लक्ष्य जीवन को निर्मल, पवित्र तथा उज्ज्वल वनाना हो। साधना अन्तर्मुख होनी चाहिये न कि वहिर्मुख। वह आत्म-प्रधान होनी चाहिये देह-प्रधान नही। अन्यथा वह हठयोग का रूप ले लेगी और अतिवादी साधना कहलाने लगेगी।

प्राचीन साहित्य का अध्ययन करने से ज्ञात हो जाता है कि भारत मे एक वर्ग द्वारा किस प्रकार की हठवादी साधना की जाती रही है। उस समय के तपस्वी अपने आश्रमो मे, गुफाओ मे,और जगलो मे किस प्रकार की कठोर तपस्या करते थे। विश्वामित्र और दुर्वासा ऋषि का तप जितना प्रसिद्ध है उनका क्रोध भी उतना ही प्रसिद्ध है। पर यदि तप का परिणाम क्रोध है तो उस तप से आत्मा का हित-साधन नही हो सकता। उन तापसो की दृष्टि मे भयानक से भयानक देह पीडा ही धर्म था। उनका तप तो उग्र होता था किन्तु आत्म-वोध उन्हे नही था। तपस्वी सूखी पत्तिया व घास खाकर, कभी गाय का गोवर खाकर, पानी की शैवाल खाकर भी अपनी तपस्या मे रत रहते थे। भगवान् पार्श्वनाथ वाराणसी मे जाए हुए कमठ तापस के पास गये। उसके प्रचण्ड पचाग्नि तप को देखकर उनके मुख से उद्गार फूट पडे।

अहो कष्टमहो कष्टं पुनस्तत्त्वं न ज्ञायते ।

अर्थात् इस तप -साधना मे कष्ट तथा देह-दमन तो बहुत है मगर तत्व-बोध नही है ।

उग्रवादी और अतिवादी तपस्वियों की क्रिया के साथ विवेक नही था। विवेक के महत्त्व को उन्होने समझा ही नही था जो कि साधना का प्राण है । परिणामस्वरूप जिस साध्य की अभिलाषा वे करते थे उससे कोसो दूर रहे, उसके निकट फटक ही नही पाए। कष्ट दे देकर देह को सुखा देना ठीक उसी तरह है जिस तरह कि बाँबी मे बैठे हुए सर्प को मारने के लिये बाबी पर ही लगातार चोटें करते जाना। बाबी पर प्रहार करने से जिस तरह अन्दर बैठा हुआ विषधर मर नही सकता, उसी तरह शरीर को कृश व दुर्बल बना देने मे ही वासना व विकारो का नाग, जो कि अन्दर है, मर नही सकता । उसे मारने के लिये तो सीधे उसी को पीटना होगा ।

साधना का लक्ष्य आन्तरिक विकारो का शमन करना है । मन के विकारो और विकल्पो को नष्ट कर देना, उनको पनपने न देना ही अध्यात्म साधना का लक्ष्य होना चाहिये ।

जैन धर्म, कहता है कि जप तप या आचार किसी भी प्रकार की साधना की जाए उसका लक्ष्य मन के विकारो को तथा विकल्पो को दूर करना ही होना चाहिये। जो तपस्या मन की शांति को भंग करे, वह तपस्या नही कहला सकती । उत्तराध्ययन सूत्र मे बडे सुन्दर तरीके से बताया गया है—

अप्पाणमेव जुज्झाहि किं ते जुज्झेण बज्झओ,
अप्पणाचेव अप्पाणं, जइत्ता सुहमेहए ।

आत्मा के साथ ही युद्ध करना चाहिये । बाहर के युद्ध से क्या फायदा है ? आत्मा से ही आत्मा को जीतने से सच्चा सुख मिलता है ।

आगे यह भी बताया गया है कि काम-भोग आदि मन के विकारो को क्यो जीतना चाहिये ? क्योंकि—

सल्लं कामा विसं कामा, कामा आसी-विसोवमा ।
कामे पत्थेमाणा, अकामा जंति दुग्गइं ॥

—उत्तराध्ययन

काम भोग शल्य-रूप व विष-रूप हैं तथा आशीविष सर्प के समान है । काम भोगो की अभिलाषा करने वाले काम भोगो का सेवन न करते हुए भी दुर्गति में जाते हैं ।

क्रोध, मान, माया तथा लोभ मानव के सबसे बडे आतरिक शत्रु हैं। इन्हे जीतना ही सबसे वडी साधना है। अन्यथा—

अहो वयइ कोहेण, माणेणं अहमा गई।
माया गइपडिग्घाओ, लोहाओ दुहओ भयं॥

—उत्तराध्ययन

क्रोध करने से जीव नरक मे जाता है, मान से नीच गति होती है, माया से शुभ-गति का नाश होता है और लोभ से इस लोक तथा परलोक मे भी भय बना रहता है।

जैन धर्म की अपनी विशेषता यह है कि वह साधना तथा क्रियाकाण्ड से पूर्व दृष्टि की शुद्धि को महत्त्व देता है। उसके अनुसार सम्यग्-दृष्टि की अल्प साधना भी निर्जरा का कारण होती है। अर्थात् तप तथा अन्य कठोर साधना से पहले दृष्टि को सम्यक् बनाना चाहिये। भगवान् महावीर ने फरमाया है—

पढमं नाणं तओ दया।

पहले ज्ञान और विवेक है, फिर आचार और साधना। तप करना आवश्यक है, पर वह आन्तरिक होना चाहिये। वाह्य तप भी उपयोगी होता है, मगर उसकी उपयोगिता आन्तरिक तप का सहायक होने मे ही है। गीता मे श्रीकृष्ण ने सहज व सरल ढग से तप का महत्त्व समझाया है तथा बताया है कि मन की प्रसन्नता, सौम्यत्व, मौन, आत्मसयम, शाति-भाव तथा अत करण का शुद्ध रखना ही मानसिक तप है।

मन. - प्रसादः सौम्यत्वं मौनमात्म-विनिग्रहः।
भाव - संशुद्धि रित्येतत्तपो मानसमुच्यते॥

एक छोटी सी कथा से शारीरिक तप की निष्फलता तथा मानसिक तप की महत्ता स्पष्ट हो जाती है। एक शिष्य था। वह घोर तपस्वी था। तपस्या करके उसने अपने शरीर को एकदम दुर्वल कर दिया। किन्तु दुर्भाग्य से उसमे क्रोध की मात्रा अत्यधिक थी। जितना बडा तपस्वी था उससे भी अधिक वह क्रोधी था। एक दिन वह अपने गुरुजी के पास आया और बोला—"गुरुदेव! मैंने वर्षों तक घोर तपस्या की है। तपस्या करते-करते शरीर की सारी शक्ति नष्ट हो गई। अब इससे और कार्य नही लिया जा सकता, अत. कृपा करके मुझे समाधि-मरण की आज्ञा दीजिये।" गुरुजी ने कहा—"आयुष्मान्! अभी तुम्हे ऐसी आज्ञा कैसे दी जा सकती है? अभी तुम अपने

को और पतला करो।' शिष्य गुरु की आज्ञा मानकर वापिस चला गया और फिर कुछ समय तक कठोर साधना करता रहा। पहले वह एक दिन उपवास और एक दिन पारणा करता था। अब दो दिन उपवास और एक पारणा करने लगा। कुछ काल बाद फिर वह गुरु से समाधि मरण के लिये आज्ञा मागने आया। बोला मेरा शरीर अब और भी कृश हो गया है। अब आज्ञा दीजिये। पर गुरु ने फिर वही आज्ञा दोहरा दी कि—"अपने को और पतला करो"। शिष्य वापिस चला गया और तीन दिन उपवास करके फिर पारणा करने लगा। कुछ ही दिनो बाद उसका शरीर अत्यन्त निर्बल हो गया तो वह फिर गुरु से आज्ञा लेने के लिये आया। गुरु ने फिर अपनी पुरानी आज्ञा को दुहराया—"अपने को अभी और पतला करो।"

यह सुनते ही शिष्य के मन मे दबी हुई क्रोध की आग भडक उठी। शरीर कापने लगा। गुस्से के मारे उसने अपने हाथ की एक अगुली तोड़कर फैंक दी और बोला—सारा शरीर मेरा सूख गया है, खून की एक बूँद भी नही रही अब और अपने आपको पतला कैसे करूँ? गुरु ने अत्यन्त स्नेह पूर्वक कहा—वत्स! मैं शरीर को पतला करने के लिये नही कह रहा हूँ। मेरा मतलब मन के विकारो को पतला करने से है। तुम्हारा हृदय अभी कषाय से कलुषित बना हुआ है। इतने वर्षों तक घोर तपस्या करने पर भी तुम क्रोध को नही जीत सके, अहकार पर विजय प्राप्त नही कर पाए। भूखा और प्यासा रहना ही तपस्या नही है। मन के विकारो को और विकल्पो को जीतना ही सच्ची साधना है, सच्ची तपस्या है। तुमने इस शरीर रूपी बिल पर अब तक प्रहार किया है, किन्तु इसके अन्दर बैठे हुए क्रोध-विषधर को मारा ही नही। अत तुम्हारी अब तक की तपस्या निष्फल हो गई है।

शिष्य लज्जित हुआ और बडी नम्रता से गुरु की आज्ञा को शिरोधार्य करके अपने मन की कषायो को पतला करने के लिये चला गया।

तात्पर्य यह है कि साधना कितनी भी उग्र क्यो न हो, किन्तु यदि उसमे मन के विकारो को दूर करने की शक्ति नही है तो वह व्यर्थ है। वह तपस्या बाल-तपस्या है। कषायो का शमन जब तक उससे नही हो पाता तो कदाचित् देवगति मिल भी जाय फिर भी जीव को शाश्वत सुख प्राप्त नही हो सकता। अन्त मे उसका सारा प्रयत्न मटियामेट हो जाता है। निम्न कथन से यह स्पष्ट हो जाता है—

वाल तपस्या के निमित्त से देवो की गति पाई,
तो तप संयम देशविरति भी पा न सकोगे भाई।
जब कषाय के एक वेग ने तीव्र आग धधकाई,
मटियामेट हुआ सारा फिर दुर्गति सन्मुख आई।

—शोभाचन्द्र भारिल्ल

जिस साधना मे मन की विषमताओ को दूर करने की शक्ति न हो, अज्ञान का अन्धकार गहरा होता जाता हो, मन की समाधि भग होती हो, उस साधना को विवेकमयी साधना नही कहा जा सकता। जिस साधना के पीछे ज्ञान और विवेक न हो, वह देह को कष्ट देना मात्र है साधना नही है।

शास्त्रो मे साधना के अनेक रूप तथा प्रकार वताए गए हैं। और उनके अनुसार ही साधक अपनी रुचि व शक्ति के अनुसार साधना को अगीकार करता है। जो साधक विवेक व बुद्धि के द्वारा साधना प्रारम्भ करते है वे अपनी साधना मे अवश्य ही सफल होते है।

शास्त्रो मे साधना के मुख्य रूप से दो भेद वताए गए है। प्रथम है गृहस्थधर्म की साधना तथा द्वितीय है साधु धर्म की साधना। गृहस्थ जीवन के अव्रती, सम्यकदृष्टिव्रती आदि अनेक रूप हैं तथा साधु जीवन के भी जिन-कल्पी आदि अनेक रूप होते हैं। साधना मूल मे एक धारा मे होती है किन्तु आगे चलकर उसमे से अनेक उपधारायें वह निकलती है। खैर, साधना कोई भी हो—गृहस्थ-धर्म की अथवा साधु-धर्म की, साधक को अपनी शक्ति व सामर्थ्य के अनुसार ही उसे चुनना चाहिये। अगर साधक जवर्दस्ती किसी भी साधना को करने जाता है तो साधना का जीवनतत्व उसमे से अलग हो जाता है और उसके पास सिर्फ दिखावा ही रह जाता है। उस साधना मे प्राण नही रहता। साधना मे से आध्यात्म भाव तिरोहित हो जाता है तथा प्रतिष्ठा और यश प्राप्ति की कामना ही उसका लक्ष्य वनकर रह जाती है। वह साधना स्थायी और स्थिर नही रह सकती।

जो व्यक्ति अपनी अध्यात्म साधना के वदले सम्मान और प्रतिष्ठा पाकर सतुष्ट हो जाता है वह विवेकवान् नही कहला सकता। वल्कि समझना चाहिए कि उसने अपनी अमूल्य साधना को वडे ही सस्ते दामो मे वेच दिया है। जो साधक अपनी अध्यात्म साधना के वदले ससार के अथवा स्वर्ग के सुख की ही कामना करता है, वह वैसा ही अज्ञानी है जैसे एक व्यक्ति चिन्ता-मणि रत्न को देकर उसके वदले मे चाट-पकोडी अथवा मिठाइयो की खरीद करता है। आध्यात्मिक-सुख के सामने भौतिक सुख कुछ नही है। वडा ही

हीन कोटि का है। तभी भारतीय सस्कृति मे एक चक्रवर्ती सम्राट् से भी अधिक महान् एक सत माना जाता है। भरत जैसे सम्राटो ने भी छ खण्ड के राज्य-वैभव को छोडकर साधु जीवन अपना लिया था। सम्राट् के जीवन मे विशाल साम्राज्य होने पर भी शाति व समाधि का अभाव होता है और एक सत के पास साम्राज्य न होने पर भी असीम शाति होती है। इसीलिये भारतीय संस्कृति मे सत के चरणो मे मस्तक झुकाए जाते है उसकी साधना को सच्ची साधना कहा जाता है।

. सार यही है कि साधक को विवेक व ज्ञान सहित अध्यात्म-साधना करनी चाहिए। यह बात कतई नही है कि शारीरिक तप अथवा अन्य क्रियाओ का साधना मे स्थान नहीं है। ज्ञान तथा क्रिया दोनो अपनी-अपनी जगह आवश्यक है। जिस प्रकार क्रिया ज्ञान के बिना असफल सिद्ध होती है, उसी तरह ज्ञान भी क्रिया रहित हो तो पगु है। एक बीमार व्यक्ति रोग के लक्षण, निदान तथा प्रतीकार के उपाय जानकर भी जब तक औषधि का सेवन नही करता, आरोग्य लाभ नही कर सकता और रोग के लक्षण निदान व प्रतीकार के उपायो को बिना जाने गलत औषधि को लेने वाला व्यक्ति भी स्वास्थ्य लाभ नहीं कर सकता।

भारतीय दार्शनिको मे कुछ तो क्रियारहित ज्ञान से मोक्ष प्राप्ति बताते हैं तथा कुछ ज्ञानहीन क्रिया मात्र से ही, किन्तु जैनदर्शन इन दोनो एकान्तवादो का निषेध करके ज्ञान तथा क्रिया दोनो को मुक्ति के लिए अनिवार्य मानता है। जैन दर्शन का यह सिद्धान्त है—

हतं ज्ञानं क्रियाहीन, हता चाज्ञानिना क्रिया।

ज्ञान आत्मा का नैसर्गिक गुण है और यह प्रत्येक आत्मा मे सदैव रहता है। इसी प्रकार सामान्य क्रिया भी प्राणी मात्र मे विद्यमान रहती है पर इन दोनो मे समीचीनता लाने वाला सम्यक्दर्शन है। सम्यक्दर्शन के बिना ज्ञान मिथ्या ज्ञान होता है तथा मिथ्या ज्ञान के साथ की जाने वाली क्रिया मिथ्या-क्रिया अथवा मिथ्या चारित्र कहलाती है। सम्यक्दर्शन का आविर्भाव ही आत्मा के अधकार को दूर करता है। परिणामस्वरूप—

जं अन्नाणी कम्म,
खवेइ बहुयाहि वासकोडीहिं।
त नाणी तिहि गुत्तो,
खवेइ उस्सास—मित्तेण।

—महाप्रत्याख्यान प्रकीर्णक

अर्थात् अज्ञानी मनुष्य कोटि-कोटि वर्षो तक कठिन कायक्लेश सहन करके जितने कर्मो का क्षय कर पाता है, ज्ञानी एक उच्छ्वास जितने स्वल्पकाल मे ही उतने कर्मों का क्षय कर देता है । इस प्रकार सम्यक् दर्शन समग्र साधना का मूल आधार है । यही साधना का प्राण है । इसके साथ ही जब ज्ञान और क्रिया मिलते है तब मोक्ष का मार्ग प्राप्त हो जाता है ' साधना सच्ची साधना कहलाने लगती है । आचार्य उमास्वाति कहते है—

सम्यग्—दर्शन—ज्ञान—चारित्राणि मोक्षमार्ग.

जिसकी आत्मा मे इन तीनो का निवास होता है वही साधक राजयोग अपनाता है । जैन धर्म के अनुसार राजयोगी उग्रवादी तथा अतिवादी साधना से बच करके विवेक तथा ज्ञानपूर्वक मन को निर्मल व पवित्र बनाता हुआ साधना पथ पर अग्रसर होता है ।

★ ★

साधनापथ पर प्रथम चरण | ३

आज हम विचार करेंगे कि साधना का मार्ग कितना बीहड है और साधक को इस पर कदम बढाने से पहले अपने आपको किस प्रकार तैयार करना चाहिये ? यह मार्ग अथ से इति तक बडा कठोर और दुर्गम है। इस पर साधक को प्रत्येक चरण सोच-विचार कर रखना होता है। सावधानी से बढने पर ही वह अपने साध्य को पा सकता है। यह हम जानते है कि प्रत्येक कार्य करने से पहले उसके साधन तथा उपायो पर गहराई से चिंतन किया जाय। जिस साध्य को हम प्राप्त करना चाहते है, उसके साधनो को सम्यक् रूप मे प्रयोग मे लाया जाय। साधक चाहे गृहस्थ हो या सत, उसकी साधना का एकमात्र लक्ष्य यही है कि वह विषमता से समता की ओर अग्रसर हो। तथा यह साधक की अन्त शक्ति पर निर्भर रहता है। अन्त शक्ति का स्थान अन्तःकरण मे है इसलिये अन्त करण की पवित्रता तथा शुद्धि करना साधक का प्रथम व महत्वपूर्ण कर्त्तव्य है।

प्रत्येक किसान बीज बोने से पहले अपनी जमीन मे हल चलाता है, खाद डालता है ककर पत्थरो को तथा फालतू घास-फूस आदि जो भी होता है उसे हटाता है। उसके बाद वह उसमे बीज बोता है। ऊसर भूमि मे बीज बोने से, या ककरीली, पथरीली भूमि मे बीज डालने से फसल पैदा नही हो सकती।

इसी प्रकार हृदय भी क्षेत्र है। इसमे धर्म रूपी बीज बोने से पहले इसकी शुद्धि करनी होती है। जब तक हृदय मे राग-द्वेष, विषय विकार रूपी ककर पत्थर पडे रहेगे, तब तक हृदय का क्षेत्र शुद्ध नही होगा तथा उसमे धर्मरूपी बीज अकुरित नही हो सकेगा।

आशा है आप मेरा अभिप्राय समझ गए होगे, वह यही है कि मानव को और विशेषत साधक को जिस साधना के पथ पर कदम बढाने हे, जिस मजिल की ओर अग्रसर होना है उस पर पहला ही कदम बड़ी सावधानी से रखना पडेगा। अगर पहला कदम सावधानी से रखा जाएगा तो अगले कदम अपने आप सभल जाए गे। अगर पहला कदम ही किसी गढे मे गिर जाए तो फिर बाकी कदमो का सभलना कठिन ही नही, असभव हो जाता है।

हम सदा महापुरुषो की जीवनिया पढते है, उनके बारे मे सुनते है। समय-समय पर अनेक सत पुरुषो का समागम करते है और श्रद्धा से हमारा मस्तक उनके चरणो मे झुक जाता है। वैसे देखा जाए तो उनमे और हममे अन्तर ही क्या है ? जैसा शरीर उनका होता है वैसा ही हमारा। वे ही पाच इन्द्रिया उनकी होती है जो हमारी है। यही जन्मभूमि उनकी है, यही हमारी भी। अधिक क्या, वे ही साधन जीवन निर्माण के लिये उन्हे मिले हैं, जो आज हमे भी प्राप्त हैं। फिर भी जब हम गहराई से देखते हैं तब पाते है कि उनमे और हममे महान् अन्तर है। जरा सोचिये। वह अन्तर क्या हो सकता है ? वह है सिर्फ अन्तकरण की शुद्धि का। अपने मानस का परिमार्जन करके जो उन्होने पाया है, उसे हम अपना अन्तकरण अशुद्ध होने के कारण ही प्राप्त नही कर सकते। हृदय की पवित्रता व शुद्धता के कारण ही अपने ज्ञान-दाता गुरुओ से और सत महात्माओ के समागम से उन्होंने जो कुछ प्राप्त किया, वह उनके हृदय मे रम गया। और हृदय की शुद्धि नही कर पाने के कारण ही हम बार-बार महापुरुषो की जीवनिया पढकर, वर्षो तक सत-पुरुषो के प्रवचनो को सुनकर तथा महात्माओ का समागम करके भी ग्रहण नही कर पाए। गुण-ग्राहकता, श्रद्धा और विश्वास की कमी के कारण हमने जो कुछ पाया वह हृदय मे टिका नही और टिका भी तो वह अशुद्ध हो गया।

आपको भलीभाति विदित होगा कि गौ का दूध अगर शंख मे डालकर रखा जाए तो वह सरस तथा सुस्वादु रहता है पर उसे ही अगर कडवी तूम्बी मे डालकर रख दिया जाय तो वह पीने लायक नही रहता। उसका माधुर्य ही नष्ट हो जाता है। हमारे हृदय भी आज कडवी तूम्बी के सदृश है और इसीलिये इनमे जिनवाणी रूपी दूध विकृत हो जाता है। सतो के पास तथा गुरुओ के पास मनुष्य अनेक तरह के हृदय लेकर पहुँचते है।

जिनका हृदय शुद्ध होता है तथा जिनमे गुण-ग्राहकता होती है वे कुछ न कुछ लेकर ही आते है और जो कुछ वे लाते हैं वह वैसा ही मधुर तथा पवित्र रहता है। किन्तु जो तुच्छ हृदय के व्यक्ति होते हैं, जिनका हृदय मलिन होता है, वे जो कुछ भी ले जाते हैं उसे जहर बनाकर उगलते है। महाकवि रहीम ने यही बताया है—

कदली सीप भुजंग मुख, स्वाति एक गुन तीन।
जैसी सगत बैठिये तैसोई फल दीन॥

अर्थात् स्वाति नक्षत्र की बूद वही होती है पर अगर वह केले के पत्ते मे गिर जाय तो कपूर बन जाती है, सीप मे गिरे तो मोती तथा विष-धर सर्प के मुँह मे गिर जाए तो जहर बन जाती है। भावार्थ इसका यह है कि उपदेश वही है, किन्तु कलुषित हृदय वाला व्यक्ति उसे यथार्थ स्वरूप मे हृदयगम नहीं कर सकता, उलटा उसमे मीन-मेख निकाला करता है। किन्तु सच्चा साधक, जो पवित्र हृदय लेकर साधना-पथ पर कदम बढाना चाहता है, सदुपदेश के एक-एक शब्द को हृदय मे रमा लेता है और उसे जीवन मे उतारने का प्रयत्न करता रहता है। जहा कहीं भी उसे अपनी साधना-पुष्टि का तत्त्व मिलता है, वह ग्रहण करने मे सकोच नहीं करता। एक-एक बिन्दु से सिन्धु भरता है तथा एक-एक ईट से जैसे विशाल महल बन जाता है, वैसे ही एक-एक गुण अपनाने से ही साधक साधना-पथ पर अग्रसर हो सकता है तथा महान् पुरुष बन सकता है।

गुण-ग्राहक की पहचान किसी बाह्य चिन्ह से नही होती। गुणान्वेषण की वृत्ति ही उसकी सच्ची पहचान है। एक जापानी ने महात्मा गाधी को तीन बन्दर भेट किये थे। उनमे से एक बन्दर अपने दोनो हाथो से अपनी आखें बन्द किए हुए था, दूसरा कान बन्द किये था तथा तीसरा मुह बन्द किये हुए था। गाधीजी ने उन तीनो को गुरु रूप मे स्वीकार किया। वे कहते थे—पहला बन्दर मुझे शिक्षा देता है कि किसी को बुरी नजर से मत देखो। दूसरा कहता है कि बुरे शब्द मत सुनो तथा तीसरा कहता है कि किसी को दुर्वचन मत कहो। गुण-ग्राहकता का यह कितना सुन्दर उदाहरण है।

बन्धुओ! आशा है आप लोगो ने मेरा आशय समझ लिया होगा। हृदय की पवित्रता और शुद्धि के बाद साधक को गुण-ग्राहकता अपनानी होगी। प्रत्येक प्राणी से और प्रत्येक वस्तु मे से उसे गुणो को खोजना पडेगा। ससार मे ऐसा कोई पदार्थ नहीं है जिसमे कि गुण न हो।

'गुणपर्यायाश्रयो द्रव्यम्'

गुण-ग्राहकता सबसे बडी तथा सच्ची साधना है। स्व को पूर्ण तथा अन्य को अपूर्ण समझने का अर्थ है साधना-पथ से विपरीत चलना। आज गुण-ग्राहक तो विरले ही मिलेगे। तभी तो कवियो ने कहा है—

शैले शैले न माणिक्य, मौक्तिकं न गजे गजे।
साधवो नहि सर्वत्र चन्दनं न वने वने॥

प्रत्येक पर्वत पर माणिक्य नही होते और प्रत्येक हाथी के मस्तक मे मोती नही मिलते। सर्वत्र साधु नही मिलते तथा सब वनो मे चन्दन नही होता।

अब हमे यह देखना है कि साधना के पथ पर चलने से पूर्व साधक को और किस गुण को अपनाना है? किस साधन से अपने को दृढ बनाना है? क्योकि साधना का मार्ग अत्यन्त लम्बा और बीहड है। कमजोर हृदय वाला व्यक्ति कुछ कदम चलकर ही लडखडा सकता है,गिर सकता है। और निराश होकर वापिस लौटकर आ सकता है। मेरे विचार से दृढ आत्म-शक्ति इन सारे भयो को दूर कर सकती है।

जीवन मे शक्ति की बडी आवश्यकता होती है। बिना शक्ति के न लौकिक कार्य सम्पन्न हो सकते हैं और न आध्यात्मिक साधना ही सम्पन्न की जा सकती है। लौकिक कार्यों को करने के लिये और शारीरिक तथा आध्यात्मिक साधना सम्पन्न करने के लिये भी मानसिक शक्ति अपेक्षित होती है। साधना-पथ पर कदम रखने वाला साधक भी जब तक आत्म-शक्ति रूपी हथियार से सुसज्जित न हो जाय, पथ मे आनेवाले विघ्नो एव, अनेक प्रकार के भय के भूतो से लड नही सकता।

शक्ति ही सफलता का प्रथम सोपान है, शक्ति ही साधना का सर्वस्व है। शक्ति के बिना कुछ भी होना असभव है। मन की शक्ति, इन्द्रियो की शक्ति तथा शरीर की शक्ति आदि शक्ति के अनेक रूप होते है। आध्यात्मिक दृष्टि से विचार किया जाय तो वही शक्तिशाली माना जाता है जो अनेको परिषहो के आ जाने पर भी धैर्य-च्युत नही होता। आपको ज्ञात ही है कि जब राम को चौदह-वर्ष का वन-वास मिला था, और उन्हे अयोध्या को त्याग कर विकट वनो की यात्रा करनी पडी थी, तब उनके पास क्या साधन थे? आत्म-शक्ति के सिवाय और कुछ भी नही था। स्व-उपार्जित आत्म-शक्ति के बल पर ही उन्होने रावण, मेघनाद, और कुम्भकरण जैसे प्रचण्ड दैत्यो का सामना किया और विजय प्राप्त की। आत्म-शक्ति के कारण ही उन्होने हनुमान जैसे महावीर को अपना अनन्य भक्त बना लिया। सीता ने जब लोकापवाद के

कारण अग्नि मे प्रवेश किया था तब क्या उसके पास अग्नि को बुझाने का कोई साधन था ? नही, सिर्फ सतीत्व-पूरित आत्म-शक्ति ही थी जिसके कारण रच-मात्र भी भयभीत हुए विना उसने अपने को अग्नि मे झोक दिया था। शरीर मे अत्यन्त कृश हो जाने पर भी आत्मिक शक्ति के वल पर ही वह अत तक रावण-से जूझती रही। जूझने का अर्थ आप सिर्फ हथियारो से जूझना या लड़ना ही न समझे। सोने की लका के ऐश्वर्य तथा रावण की अनुचित प्रेम-याचना के आकर्षण से अपने को बचाना ही सीता का जूझना था। मेरे कहने का तात्पर्य यही है कि आत्म-शक्ति पर दृढ विश्वास रखने वाला व्यक्ति कभी भी अपने साध्य की प्राप्ति मे असफल नही हो सकता। साहसी व्यक्ति के लिए दुष्प्राप्य भी सुप्राप्य हो जाता है। साहस होने से अन्य गुण भी उसमे स्वय पैदा हो जाते है। चर्चिल का कथन है —

"Courage is the first of human qualities because it is the quality which guarantees all the others"

अर्थात् मानव के सभी गुणो मे पहला गुण साहस है। क्योकि यह गुण सभी गुणो की जिम्मेदारी लेता है।

तात्पर्य यही है कि साहस व आत्म-शक्ति तथा उस पर विश्वास ही अजेय दुर्ग है जिसे कोई जीत नही सकता। योरुप मे स्ट्रिवन नामक एक धर्म-परायण व्यक्ति हुए। वह वहुत ही उदार, निर्भय, न्याय-परायण तथा सत्य-निष्ठ थे। एक वार उनसे पूछा गया देश और धर्म का द्रोही पुरुष आपके ऊपर आक्रमण करे तो आप क्या करेंगे ? उन्होने उत्तर दिया—"मैं अपने किले मे सुरक्षित वैठा रहूगा"।

सयोग-वश एक वार सचमुच ही एक दुश्मन ने उन्हे अकेला समझ कर घेर लिया और पूछा—अव वताइये कि आपका किला कहाँ है जिसमे आप सुरक्षित वैठ सकेंगे ? स्ट्रिवन ने हृदय पर हाथ रखकर कहा—"यह मेरा किला है।" इसके ऊपर कोई भी हमला नही कर सकता। दुश्मन केवल इस क्षण-भगुर शरीर को नष्ट कर सकता है, परन्तु अजर अमर आत्मा को नष्ट करने मे कोई भी समर्थ नही हो सकता। आपके हथियारो को देखकर मैं डरा नही हूँ। मै अपने विश्वास रूपी दुर्ग मे अव भी सुरक्षित वैठा हू। आत्मा को कोई नष्ट नही कर सकता, अव वताइए मेरा कोई क्या विगाड सकता है ?

स्ट्रिवन की इस अपूर्व निर्भयता एव अटल विश्वास को देखकर शत्रु चकित होकर वापिस लौट गया।

इस छोटी सी कहानी से स्पष्ट हो जाता है कि साधना पथ के पथिक

को अपनी आत्मा को कभी निर्बल नही मानना चाहिए। उसे सदा यही कामना करनी चाहिये कि मेरी आत्मा इतनी वलवान बन जाय कि कभी भी, कैसे भी सकट मे वह विचलित न हो। किसी पजाबी कवि ने कहा है—

ऐसी आत्मा हो बलवान,
मेरा मन कदे बी डोले ना।
निज पर हो ऐसा विश्वास,
किसे दा आसरा टोले ना॥

अर्थात् मेरी आत्मा इतनी वलवान हो जाय कि कभी भी वह विचलित न हो। मुझे अपनी शक्ति पर इतना विश्वास व भरोसा हो कि कभी भी मेरा मन किसी और का आश्रय लेने की आकॉक्षा न करे।

शारीरिक वल मनुष्य का मुख्य वल नही कहला सकता। शरीर से कोई कितना वडा होगा? पद्मपुराण मे कहा है—

सार्वभौमोऽपि भवति खट्वामात्र-परिग्रहः।

—पद्मपुराण

कोई समस्त भूमण्डल का राजा ही क्यो न हो, एक खाट के नाप की भूमि ही उसके उपयोग मे आती है। तो उतने ही वडे शरीर को लेकर वह कौनसा पुरुषार्थ कर लेगा? अतएव यह सही और अकाट्य है कि बाहुवल की अपेक्षा आत्मिक वल ही श्रेष्ठ होता है। मानवीय शक्तियो का विकास वाहर नही, भीतर होता है। मानव शरीर से नही, वरन् आत्मा से महान् होता है। एक आत्म-वीर सहस्र-सहस्र विरोधियो का सामना कर सकता है। प्रसिद्ध विद्वान एमर्सन ने भी यही कहा है—

'Self trus t is the first secret of success"

आत्म-विश्वास सफलता का मुख्य रहस्य है। इसी से आत्मा-हीनता की भावना दूर होती है तथा साधक दृढ कदमो से साधना के दुर्गम पथ पर अग्रसर हो सकता है। प्रत्येक साधक को अपनी आत्मा की शक्ति को पहचानना चाहिये। क्योंकि —

अप्पा कत्ता विकत्ता य, दुहाण य सुहाण य
अप्पा मित्तममित्त च, दुपट्ठिय सुपट्ठिओ॥

उत्तराध्ययन अ० २० गा ३७

आत्मा ही सुखो और दुखो का कर्त्ता है और यही कर्म-क्षय करने वाला

है। श्रेष्ठ आचार विचार वाली आत्मा मित्र और दुराचारी आत्मा शत्रु है।

आप सब महानुभावों की समझ में आ गया होगा कि साधनापथ पर चलने के इच्छुक साधक को उस पर चरण रखने से पहले किस प्रकार अपने को तैयार करना चाहिये। साधना आरम्भ करने से पूर्व उसे किस तरह अपने हृदय को शुद्ध व निर्मल बनाना चाहिए, गुण-ग्राही दृष्टि रखनी चाहिए। साथ ही अपने को निर्बल व क्षुद्र न मान कर अपनी आत्मा की शक्ति को पहचानते हुए उस पर दृढ विश्वास करना चाहिए। एक क्षण से जीवन का निर्माण होता है। अगर जीवन के कुछ क्षण भी बिगड जाएँ तो साधना रूपी धवल वस्त्र पर दाग लग जाने का भय रहता है। जिस तरह हम बादाम खाते हैं, दो, चार, दस, बीस। मुह स्वादिष्ट तथा मन तृप्त हो जाता है किन्तु उसके बाद अगर एक भी बादाम कड़वी आ जाए तो मुह का सारा स्वाद बिगड जाता है और मन मे क्रोध के भाव उभर आते है। उसी तरह साधक को प्रारम्भ से ही प्रत्येक कदम सावधानीपूर्वक रखने की आवश्यकता है। अगर वह तनिक भी साधना-पथ से विचलित हो जाय तो उसके सारे परिश्रम पर पानी फिर सकता है और फिर साध्य की प्राप्ति होना असभव हो जाता है। कहा है—

"यादृशी भावना यस्य, सिद्धिर्भवति तादृशी"

साधक जैसी भावना रखे, वैसा ही उसे फल प्राप्त होता है। बस, आज के मेरे सपूर्ण विचारो का सार यही है कि दृढ विश्वास से जो चरण चल पडते हैं सफलता उन्हे ही चूमती है।

* *

४

योग-साधना

योग एक आध्यात्मिक साधना है। आत्म-विकास की प्रक्रिया है। आध्यात्मिक विकास आत्म-साधना एव आत्म-चिन्तन पर किसी भी जाति, वर्ण, वर्ग धर्म अथवा देश का एकाधिपत्य नही है। विश्व का प्रत्येक प्राणी अपना आत्म-विकास करने के लिये पूर्ण रूप से स्वतत्र है।

भारतीय सस्कृति के समस्त विचारको ने मनन-शील ऋषि-मुनियो ने तथा तत्वचिन्तको ने एक स्वर से योग-साधना के महत्व को स्वीकार किया है। आज हम इसी पर विचार करेगे कि योग-साधना क्या है और यह कैसे की जाती है।

विश्व के प्रत्येक प्राणी की आत्मा असीम शक्ति का पुज है। उसमे अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त शाति तथा अनन्त शक्ति विद्यमान है। वह स्वय ही अपना विनाश करता है तथा विकास भी स्वय ही करता है। किन्तु इतनी महती शक्ति का स्वामी होते हुए भी अनेक बार वह भटक जाता है, पथ-भ्रष्ट हो जाता है, बार बार ससार-सागर मे गोते खाता रहता है, अनेकानेक जन्म-मरण करता है और हजार प्रयत्न करने पर भी अपने लक्ष्य को प्राप्त नही कर पाता। इसका क्या कारण है? यही कि उसके जीवन मे 'योग' का अभाव है।

योग का अभाव होने से मन मे स्थिरता नही रहती और उसे अपनी विराट् शक्तियो पर भरोसा नही होता। उसके मन मे सर्वदा सन्देह बना रहता है और सन्देह के कारण वह निश्चित विश्वास तथा एक निष्ठा के साथ अपने पथ पर नही बढ पाता। इधर उधर भटकता रहता है, ठोकरे खाता रहता है और पतन के गहरे गर्त मे गिर जाता है। उसकी सब शक्तिया

भी निर्बल हो जाती हैं। इसलिये अपनी अनन्त शक्तियों का विकास करने के लिये, अपनी आत्म-ज्योति को प्रकाशित करने के लिये तथा अपने साध्य को प्राप्त करने के लिये प्राणी को अपने मन, वचन तथा कार्य में एकरूपता एकाग्रता तथा स्थिरता लाना आवश्यक है, यही योग है।

हमारी भारतीय संस्कृति तीन धाराओं में प्रवाहित होती रही है—(१) वैदिक (२) जैन तथा (३) बौद्ध। इस कारण योग-साधना की भी तीन परम्पराएं मानी जाती हैं। तीनों के अपने अपने मौलिक विचार हैं।

वैदिक साहित्य में आध्यात्मिक चिंतन को बहुत महत्त्व दिया गया है। उपनिषदों में जगत्, जीव तथा परमात्मा सम्बन्धी सभी विचारों को ऋषियों ने सूत्रों में बद्ध किया है। सभी ने योग-साधना को स्थान दिया है। महर्षि गौतम, महर्षि कणाद आदि ने यम, नियम शौचादि योगांगों का वर्णन किया है। महर्षि पतंजलि का योग-शास्त्र बड़ा ही महत्त्व-पूर्ण ग्रन्थ है पतंजलि ने कहा है—

"समस्त चिन्ताओं का परित्याग कर निश्चिन्त-चिन्ताओं से मुक्त-उन्मुक्त हो जाना ही योग है। वस्तुतः चिन्ताओं से मुक्त होना तथा चित्त की वृत्तियों को वश में रखना योग है।"

गीता में कहा है—

"सर्वत्र समभाव रखने वाला योगी अपने को सब भूतों में और सब भूतों-प्राणियों को अपने में देखता है।" कबीर का बीजक योग पर बड़ा ही उत्तम ग्रन्थ है।

बौद्ध साहित्य में योग के स्थान पर ध्यान और समाधि का उल्लेख पाया जाता है। प्रथम, साधक श्वास एवं प्रश्वास पर चित्त को एकाग्र करता है और उसके बाद निर्वाण-मार्ग में प्रविष्ट होता है। अनित्यता का चिंतन करता है, जिससे वैराग्य का अनुभव होता है और फिर समस्त वृत्तियां तथा मनोभावनाएं विलीन हो जाती हैं और योगी निर्वाण-पद को प्राप्त करता है। तथागत बुद्ध ने अपने शिष्यों से कहा है—

'भिक्षुओ! रूप अनित्य है, वेदना अनित्य है, संस्कार अनित्य है, संज्ञा अनित्य है तथा विज्ञान भी अनित्य है। जो अनित्य है-वह दुःख-प्रद है, अनात्मक है। जो अनात्मक है वह मेरा नहीं है। इस तरह संसार के अनित्य स्वरूप को देखना चाहिये। कहा गया है— यदनिच्चं तं दुक्खं जो

अनित्य है वह दुःख रूप है।" जैन विचारको ने भी अनित्य भावना से चिन्तन को महत्त्व दिया है।

वैदिक परम्परा मे आविर्भूत हठयोग का बुद्ध ने निषेध किया। बौद्ध-परम्परा मे वितर्क और विचार दोनो का उपयोग हुआ है। चित्त किसी भी आलम्बन को आधार बनाकर उसमे प्रवेश करे उसे वितर्क कहते है तथा आलम्बन की गहराई मे उतर जाने को विचार। बौद्ध साहित्य मे पाच यमो का उल्लेख आता है। उनके नाम भी जैन परम्परा के पाँच महाव्रतो की तरह ही है—अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, तथा अपरिग्रह।

जैन धर्म निवृत्तिप्रधान है। भगवान् महावीर ने साढे बारह वर्ष तक मौन रहकर घोर तप, ध्यान एव आत्मचिन्तन के द्वारा योग-साधना-मय ही जीवन बिताया था। उनके चौदह हजार शिष्य तथा छत्तीस हजार शिष्याए थी, जिन्होने साधुत्व को स्वीकार कर योग साधना मे निवृत्ति की थी।

चउद्दसहि समणसाहस्सीहि छत्तीसहि अज्जिआ-साहस्सीहि।

—उववाई सूत्र

जैनागमो मे पाँच महाव्रत, समिति-गुप्ति, तप, ध्यान, स्वाध्याय आदि को जो योग के प्रमुख अग है, साधु जीवन का या श्रमण-साधना का प्राण माना गया है।

जैन आगमो मे 'योग' शब्द समाधि या साधना के अर्थ मे प्रयुक्त नही हुआ है। इनमे योग का अर्थ है—मन, वचन और काय की प्रवृत्ति। योग शुभ और अशुभ-दो तरह का होता है। इसका निरोध करना ही श्रमण साधना का मूल उद्देश्य है। इसीलिए आगमो मे साधु के आत्म-चिन्तन पर अत्यधिक भार दिया गया है।

साधु को जब किसी कार्य मे प्रवृत्ति करना अनिवार्य ही हो, तो वह मन, वचन तथा काययोग को अशुभ से हटा कर विवेक एव सावधानी-पूर्वक प्रवृत्ति करे, ऐसा निर्देश है। इस निवृत्ति-प्रधान जीवन को ध्यान मे रखकर ही साधु की दैनिक चर्या का विभाजन किया गया है। कहा गया है कि साधु दिन के चार पहर मे से प्रथम मे स्वाध्याय, दूसरे मे ध्यान तथा आत्म-चितन तीसरे मे आहार तथा चौथे मे पुन स्वाध्याय करे। रात्रि के प्रथम प्रहर मे भी स्वाध्याय, दूसरे मे ध्यान तथा आत्म-चिन्तन, तीसरे मे शयन और चतुर्थ प्रहर मे स्वाध्याय करे।

इस प्रकार दिन रात के आठ प्रहरो मे मे छ प्रहर तो केवल स्वाध्याय,

ध्यान, तथा आत्म-चिंतन व मनन में लगाने का आदेश है, बचे हुए दो प्रहर प्रवृत्ति के लिये हैं। प्रवृत्ति भी संयम-पूर्वक हो, इच्छानुसार नहीं।

जैन आगमों में भी हठ-योग को कोई स्थान नहीं दिया गया है। क्योंकि हठ-योग से बलपूर्वक रोका हुआ मन कुछ समय पश्चात् जब छूटता है तो बड़े वेग से प्रधावित होकर सम्पूर्ण साधना को छिन्न-भिन्न कर देता है। नष्ट कर देता है। इसलिये जैन धर्म में हठ-योग के स्थान पर समिति तथा गुप्ति का विधान किया गया है, जिसे सहज योग कहते हैं। इसका अभिप्राय यही है कि साधक चलने-फिरने, उठने बैठने-खाने-पीने व पढने-लिखने आदि की कोई भी क्रिया करे तब अपने मन, वचन तथा काय तीनों को अन्य सब दिशाओं से हटाकर उस क्रिया में ही केन्द्रित करले।

जैनागमों में योग-साधना के अर्थ में ध्यान शब्द रखा गया है। ध्यान का अर्थ है—अपने योगों को आत्म-चिंतन में केन्द्रित करना। ध्यान में काय-योग की प्रवृत्ति को भी इतना रोक लिया जाता है कि चिन्तन के लिए ओष्ठ और जिह्वा हिलाने की भी आज्ञा नहीं है। सिर्फ सांस का आवागमन होता है। तभी यथार्थ साधना हो सकती है। एकाग्रता के अभाव में यथार्थ साधना नहीं हो सकती। जो होती है वह द्रव्य-साधना कहलाती है। एका-ग्रता-पूर्वक साधना करने से नए कर्मों का आगमन रुकता है तथा पुरातन कर्मों का क्षय होता है। ऐसा होते रहने पर एक समय ऐसा आता है जब कि साधक समस्त कर्मों का क्षय कर लेता है तथा अपने साध्य निर्वाण को प्राप्त कर लेता है।

जैन आगमों में योग-साधना के लिये प्राणायाम को भी आवश्यक नहीं माना है। क्योंकि प्राणायाम की प्रक्रिया में शरीर को कुछ देर साधा जा सकता है और काल-मृत्यु आदि का भी ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है। किन्तु साध्य को सिद्ध नहीं किया जा सकता। अर्थात् मुक्ति-लाभ नहीं हो सकता। इसलिये ध्यान-साधना ही उपयुक्त मानी गई है।

आचार्य हरिभद्र ने अपने 'योग-बिन्दु' ग्रन्थ में पाँच योग-भूमिकाओं के विषय में लिखा है—१. अध्यात्म, २ भावना, ३. ध्यान, ४ समता और वृत्ति-संक्षय।

(१) अध्यात्म · इसमें यथाशक्य अणुव्रतों या महाव्रतों को अंगीकार कर मैत्री, प्रमोद, करुणा तथा माध्यस्थ्य-भावना पूर्वक आत्म-चिंतन करना चाहिये। इसमें पापों का क्षय होकर पुरुषार्थ का उत्कर्ष होता है।

(२) **भावना** आध्यात्मिक चिन्तन का पुन पुन अभ्यास करना भावना है। इससे शुभ भाव पुष्ट होते है।

(३) **ध्यान** तत्त्व चिन्तन की भावना का विकास करके मन को किसी एक पदार्थ या तत्त्व के चिन्तन पर स्थिर करना ध्यान है। इससे मन-भ्रमण के कारण नष्ट होते है।

(४) **समता** ससार के प्रत्येक इष्ट या अनिष्ट पदार्थ तथा सवध पर तटस्थवृत्ति रखना समता है। इसमे अनेक लब्धियाँ प्राप्त होती है।

(५) **वृत्ति-संक्षय** . विजातीय द्रव्य से उद्भूत चित्त वृत्तियो का मूल से नाश करना वृत्ति-सक्षय है। इस साधना के सफल होते ही घाति-कर्मों का क्षय हो जाता है तथा केवलज्ञान, केवलदर्शन की प्राप्ति होती है। और चारो अघातिया कर्मो का क्षय होकर निर्वाण पद की प्राप्ति होती है।

इन्ही आचार्य हरिभद्र ने अपने अन्य ग्रन्थ 'योग-शतक' मे साधक के लिये कुछ नियमो तथा साधनो का वर्णन किया है। उन्होने कहा है कि साधक को अपनी साधना का विकास करने के लिये इन बातो का ध्यान रखना चाहिये—

(१) अपने स्वभाव की आलोचना तथा उचित अनुचित प्रवृत्ति का विवेक करना।

(२) अपने से अधिक गुण-सम्पन्न साधक के सहवास मे रहना।

(३) ससार के स्वरूप एवं राग-द्वेष आदि दोषो के चिन्तन रूप आभ्यान्तर साधन तथा भय शोक आदि अकुशल कर्मो के निवारण के लिये गुरु, तप, जप जैसे वाह्य साधनो का आश्रय ग्रहण करना।

(४) साधक को श्रुत-पाठ, गुरुसेवा, आगम-आज्ञा, जैसे स्थूल साधन का आश्रय लेना चाहिये तथा शास्त्र के अर्थ का यथार्थ वोध प्राप्त करके वाद मे राग, द्वेष तथा मोह जैसे आन्तरिक दोषो को निकालने के लिये आत्म-निरीक्षण करना चाहिये।

योग की महिमा

बधुओ! योग की महिमा वडी महान् है। श्री हेमचन्द्राचार्य ने कहा है —

योगः सर्वविपद्वल्ली-विताने परशु शितः।
अमूल-मन्त्र-तन्त्रं च, कार्मण निर्वृत्तिश्रियः॥

अर्थात् योग समस्त विपत्ति रूपी लताओ के वितान को काटने के लिये तीक्ष्ण परशु के समान है। तथा मुक्ति रूपी लक्ष्मी को वश मे करने के लिये विना मन्त्र तन्त्र के कामण की तरह है।

योग के प्रभाव से विपुलतर पाप भी नष्ट हो जाते है यहा तक कि योग के प्रभाव से योगी जनो को अनेक प्रकार की अद्भुत ऋद्धिया प्राप्त हो जाती है। किसी का कफ रोगो के लिये औपधि रूप बन जाता है, किसी के मूत्र मे रोगो का शमन करने की शक्ति आ जाती है, किसी के मल मे समस्त बीमारियो को हटा देने की शक्ति आ जाती है और किसी-किसी के तो स्पर्श मात्र से ही रोग दूर हो जाते हैं —

कफ-विप्रुण्मलामर्श — सर्वोपधमहर्द्धय. ।
सम्भिन्नश्रोतो-लब्धिश्च, योग ताण्डव-डम्बरम् ॥

कफ, मूत्र, मल, अमर्ष और सर्वोपध ऋद्धियाँ तथा सभिन्न-श्रोतोलब्धि, यह सब योग के ही प्रभाव से प्राप्त होती है। सभिन्न-श्रोतोलब्धि जिसे प्राप्त होती है वह योगी अपनी किसी भी एक इन्द्रिय से सभी इन्द्रियो का काम ले सकता है। यथा-आख से देखने के साथ-साथ सुन सकता है, सू घ सकता है तथा चख भी सकता है। नाक से देख भी सकता है और सुन भी सकता है।

सच्चा योगी योग के प्रभाव से चारण-लब्धि, आशीविप-लब्धि, अवधि-ज्ञान-लब्धि और मन पर्याय लब्धि आदि लब्धियाँ प्राप्त कर लेता है।

चारणाशीविषावधि - मन :–पर्याय–सम्पद : ।
योगकल्पद्रुमस्यैता, विकासिकुसुमश्रिय ॥

—योगशास्त्र

ये सभी लब्धिया योगरूपी कल्पवृक्ष के खिले हुए पुष्प हैं। योग के निमित्त से ही ये प्राप्त होती है।

चारण-लब्धि वाले योगी दो प्रकार के होते है। (१) जघाचारण (२) विद्याचारण।

जघाचारण योगी एक ही उडान मे रुचकवर द्वीप मे पहुँच जाते है। वहा से लौटते समय एक उडान मे नन्दीश्वर द्वीप तक तथा दूसरी उड़ान मे अपने स्थान पर आ पहुँचते हैं। अगर वे ऊपर की ओर जाना चाहे तो एक उडान मे पाण्डुक वन पहुँच सकते है और लौटते समय एक उडान मे नन्दन वन यथा दूसरी मे अपने स्थान पर आ जाते है।

विद्याचारण योगी एक उडान मे मानुपोत्तर पर्वत पर तथा दूसरी उडान मे नन्दीश्वर द्वीप पहुँच जाते है किन्तु वे लौटते समय एक ही उडान मे अपने स्थान पर वापिस पहुच जाते है।

आशीविप लब्धि के प्रभाव से योगी शाप तथा अनुग्रह की शक्ति प्राप्त कर लेता है। और अवधि-ज्ञान लब्धि प्राप्त होने पर इन्द्रियो की तथा मन की सहायता के विना रूपी द्रव्यो को एक नियत सीमा तक जान सकता है। मन पर्याय लब्धि वह लब्धि होती है जिसके द्वारा योगी अढाई द्वीप के अन्तर्गत सज्ञी जीवो के मनोद्रव्यो को साक्षात् जानने मे समर्थ हो जाता है।

अभिप्राय यही है कि ऐसी महान् लब्धिया भी योग के द्वारा प्राप्त हो जाती है, अत जो मनुष्य योग के स्वरूप को नही समझता उसका जीवन व्यर्थ, निस्सार होता है। कहा भी है —

तस्य त्वजनिरेवास्तु नृ-पशोर्मोघजन्मन :।
अवद्धिकर्णो यो योग इत्यक्षरशलाकया ॥

—योगशास्त्र

अर्थात् 'योग' इन अक्षरो की सलाई से जिसके कान नही बिंधे है, जिसने योग का स्वरूप नही समझा है वह मनुष्य होने पर भी पशुवत् है। उसका जन्म व्यर्थ है।

सज्जनो ! अव हम विचार करते है कि योग का स्वरूप क्या है ?

धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष—यह चार पुरुपार्थ है। इन चारो मे मोक्ष पुरुपार्थ सबसे मुख्य है। उस मोक्ष का जो कारण हो, वही योग कहलाता है। सम्यक्-ज्ञान, सम्यक्-दर्शन तथा सम्यक् चारित्र रूप रत्नत्रय की आराधना ही मोक्षप्राप्ति का मार्ग है और वही योग कहलाता है।

जीव, अजीव पुण्य, पाप आश्रव, सवर, निर्जरा बध तथा मोक्ष ये जो तत्त्व है इनके स्वरूप का ज्ञान होना सम्यक्-ज्ञान है तथा वीतराग भगवान् द्वारा प्ररूपित तत्त्वो पर रुचि होना सम्यक् - दर्शन कहलाता है। सम्यक्-चारित्र का अर्थ है सब प्रकार के पापमय योगो का त्याग करना। अहिंसा आदि व्रतो के भेद से वह पाच प्रकार का है, जिन्हे पच महाव्रत कहते है वे है १ अहिंसा २ सत्य ३ अस्तेय ४ ब्रह्मचर्य तथा ५ अपरिग्रह।

सम्यक चारित्र को पाच समिति (ईर्यासमिति, भापासमिति, एपणा समिति, आदानसमिति तथा उत्सर्गसमिति) तथा तीन गुप्ति (मन-गुप्ति,

वचनगुप्ति तथा कायगुप्ति) से युक्त होना चाहिये। तभी वह चारित्र सम्यक् चारित्र कहलाता है।

बन्धुओ ! इन सबके विषय मे विस्तृत विवेचन अभी मैं नही कर सकूगी क्योंकि अभी हमे योग के विषय मे बहुत कुछ विचार विमर्श करना है, खैर . । अभी मैंने आपको जिस चारित्र के विषय मे बताया है वह मुनि धर्म का पालन करने के इच्छुक प्राणियो का सर्व-विरति चारित्र है। इसी चारित्र का एक देश से पालन करना श्रावक चारित्र कहलाता है। दोनो—साधु तथा श्रावको के लिये चारित्र तो एक ही है किन्तु उसके पालन करने की मात्रा अलग अलग है। गृहस्थ श्रावक मे पूर्ण चारित्र का पालन करने की योग्यता नही होती और उनकी परिस्थिति भी सासारिक कर्त्तव्यो का पालन करने कारण ऐसी नही होती। अत उसके लिये बारह व्रतो का विधान है। आप सब उन्हे जानते ही है।

सक्षेप मे मेरा यह अभिप्राय है कि रत्नत्रय ही आत्मा के मोक्ष का कारण है, आप समझ गए होंगे। रत्नत्रय की आराधना वही प्राणी कर सकता है, जिसने क्रोध, मान माया तथा लोभ आदि समस्त कषायो तथा राग व द्वेष रूपी मन के विकारो को जीतकर अपने मन को शुद्ध बना लिया हो।

राग-द्वेष को जीतने के लिये सम-भाव का अभ्यास होना चाहिये। पूर्ण सम-भाव का अभ्यास होने के पश्चात् साधक मे ध्यान करने की योग्यता आती है और ध्यान के द्वारा निश्चल समत्व की प्राप्ति होती है। दोनो ही एक दूसरे के कारण हैं। कहा भी है—

न साम्येन विना ध्यान, न ध्यानेन विना च तत्।
निष्कम्पं जायते तस्माद् द्वयमन्योन्यकारणम् ॥

—योगशास्त्र

ध्यान आत्मा के लिये महान् हितकारी माना गया है। ध्यान से आत्म-ज्ञान प्राप्त होता है तथा आत्मज्ञान से कर्मो का क्षय होता है। कर्मों का क्षय हो जाने से मोक्ष की प्राप्ति होती है।

ध्यान करने वाले दो प्रकार के होते हैं। (१) सयोगी (२) अयोगी।

सयोगी भी छद्मस्थ और केवली—दो तरह के हो सकते हैं। एक आलम्बन मे एक मुहूर्त अर्थात् ४८ मिनिट तक मन का स्थिर रहना छद्मस्थ योगियो

का ध्यान माना जाता है। वह भी धर्म ध्यान तथा शुक्ल ध्यान के भेद से दो प्रकार का होता है।

अयोगियो का ध्यान योग—मन, वचन तथा काय का निरोध होना है। सयोगी केवली मे योग निरोध करते समय ही ध्यान होता है अत वह अयोगी के सदृश ही कहलाता है।

एक मुहूर्त ध्यान मे बीत जाने पर फिर ध्यान स्थिर नही रहता। उसके बाद जो होगा वह या तो आत्मचिंतन कहलाएगा या कोई दूसरा ध्यान कहलाने लगेगा।

एक मुहूर्त के पश्चात् ध्यान को पुन जोडने के लिये चार भावनाओ की आत्मा के साथ योजना करनी चाहिये। वे हैं— १ मैत्री, २ प्रमोद, ३. करुणा और ४ माध्यस्थ्य भावना।

जगत् का कोई प्राणी दुखी न रहे, सब दु ख से मुक्त हो जाये, कोई भी पाप न करे और उसके कारण कर्मो का बध न करे इस प्रकार का चिंतन करना मैत्री-भावना है।

प्रमोद भावना वह होती है जिसके होने पर मनुष्य सम्यक्-ज्ञान, दर्शन तथा चारित्रयुक्त महापुरुषो के गुणो के प्रति आदर रखे, उनकी प्रशसा करे व सेवा मे रुचि रखे।

दीन, दुखी, भय-भीत तथा विपद्ग्रस्त प्राणियो के दु खो को दूर करने की भावना 'करुणा-भावना' है और दुष्ट, दुराचारी, अभक्ष्य-भक्षण करने वाले अनेकानेक क्रूर कर्म करते हुए देव, गुरु तथा धर्म की निन्दा करने वाले और आत्म-प्रशसा मे सदा रत रहने वाले मनुष्यो पर जिन्हे कि उपदेश देकर भी सन्मार्ग पर नही लाया जा सकता, उपेक्षाभाव होना 'माध्यस्थ्य—भावना' है।

इन चारो भावनाओ से अपनी आत्मा को प्लावित कर सकने वाला महापुरुष अपनी टूटी हुई विशुद्ध ध्यान की परम्परा को फिर से जोड लेता है—

> आत्मान भावयन्नाभिर्भावनाभिर्महामतिः।
> त्रुटितामपि सधत्ते, विशुद्ध-ध्यान-सन्ततिम् ॥
>
> —हेमचन्द्राचार्य

ध्यान मोक्ष प्राप्ति के लिये सबसे अधिक महत्वपूर्ण तथा उपयुक्त साधन है। स्वामी शिवानन्द ने कहा है—

"ध्यान मोक्ष प्राप्त करने का एकमात्र राजमार्ग है। ध्यान एक रहस्यमयी सीढी है जो अवनी और अम्बर को मिलाती है तथा साधक को मृत्यु से अमरलोक की ओर ले जाती है।"

किसी अन्य विद्वान् ने भी कहा है—

"ध्यान ही वह गगन है जहा नगन-मानव मन के अमित बलशाली आराध्य की तस्वीर खीचने मे, दैवी चितेरे भी असफल होते आए है।"

सचमुच ही ध्यान ऐसा वायुयान है जो साधक को अनन्त आनन्द और अक्षय शाति के साम्राज्य की ओर उडा ले जाता है। आवश्यकता सिर्फ इस बात की है कि साधक मन को पूर्ण रूप मे वशीभूत करने की शक्ति प्राप्त करे और बुद्धि मे चचलता न रखे। तभी वास्तविक ध्यान हो सकता है।

मन को स्थिर रखने के साथ ही साथ ध्यान करते समय साधक किस आसन से बैठे इसका भी ध्यान रखना चाहिये। योग शास्त्र मे कहा गया है—

> सुखासन - समासीन सुश्लिष्टाधर - पल्लव. ।
> नासाग्र-न्यस्तदृग्-द्वन्द्वो, दन्तै र्दन्तानसंस्पृशन् ॥
> प्रसन्नवदनः पूर्वाभिमुखो वाप्युदङ् - मुखः ।
> अप्रमत्त. सुसस्थानो ध्याता ध्यानोद्यतो भवेत् ॥

अर्थात् साधक अथवा योगी ऐसे आराम-देह आसन से बैठे कि जिसमे लम्बे समय तक बैठने पर भी मन विचलित न हो। दोनो ओष्ठ मिले हुए हो। नेत्र नासिका के अग्र भाग पर टिके हुए हो। ऊपर के दात नीचे के दातो का स्पर्श न करते हो। मुख-मण्डल प्रसन्न हो। पूर्व या उत्तर मे मुह हो। प्रमाद रहित हो तथा मेरुदड बिलकुल सीधा रहे आदि आदि।

इसके लिये पर्यकासन, वीरासन, वज्रासन, पद्मासन, भद्रासन, दडासन, उत्कटिकासन, गोदोहिकासन तथा कायोत्सर्गादि अनेक आसन बताए गए है। अगर शरीर निर्बल हो तो उस अवस्था मे लेटकर भी ध्यान किया जा सकता है।

ध्यान करने की इच्छा रखने वाले साधक को तीन बाते जाननी चाहिये। १ ध्याता—ध्यान करने वाले मे कैसी योग्यता होनी चाहिये २ ध्येय—जिसका ध्यान करना है वह वस्तु कैसी हो ? तथा ३ ध्यान की सामग्री कैसी है ?

जो साधक प्राण-नाश का अवसर आजाने पर भी सयमनिष्ठा को न

छोडे अन्य प्राणियो को आत्मवत् देखे, सर्दी, गर्मी और आधी पानी से भी विचलित न होवे कषायो से रहित और काम भोगो से विरक्त रहे, मानापमान मे समभाव रखे, प्राणी मात्र पर करुणा तथा मैत्री भाव रखे, परीपह तथा उपसर्गादि आने पर भी मेरु की तरह अडिग रहे, वही सच्चा व श्रेष्ठ ध्याता, साधक होता है ।

ध्येय को ज्ञानी पुरुपो ने चार प्रकार का माना है । ये चारो ध्यान के आलम्बन रूप होते हैं (१) पिडस्थ, (२) पदस्थ (३) रूपस्थ तथा (४) रूपातीत ।

बन्धुओ ! इन चार प्रकार के आलम्बनो द्वारा ध्यान करना बडे ही अभ्यास का तथा कठिन कार्य है । उसे सुनकर न तो पूर्ण रूप से समझा जा सकता है और न किया ही जा सकता हे, जव तक किसी अत्यन्त उच्च कोटि के साधक की देख-रेख मे अभ्यास न किया जाय । फिर भी आपकी उत्सुकता का शमन करने के लिये कि न जाने किस तरह ध्यान किया जाता होगा, मैं वहुत ही सक्षेप मे पिडस्थध्यान के विपय मे आपको बता रही हूँ—

पिडस्थध्यान मे पाच धारणाऐ होती हैं—१. पार्थिवी २ आग्नेयी ३ मारुती ४. वारुणी तथा ५ तत्त्वभू ।

पार्थिवी धारणा के अनुसार हम जिस पृथ्वी पर रहते हैं इसके बरावर लम्वे चौडे क्षीरसागर का चिन्तन किया जाय और इसमे जम्बू द्वीप के बरावर एक लाख योजन विस्तारवाले और एक हजार पखुडियोवाले कमल का चिन्तन किया जाय । कमल के मध्य मे केसराए और उसके अन्दर प्रभायुक्त एक लाख योजन ऊँची मेरु पर्वत के बरावर कर्णिका माने । कर्णिका के ऊपर एक उज्ज्वल सिहासन के ऊपर अपने को बैठा हुआ मानना चाहिये । इसे पार्थिवी धारणा कहते है ।

इसके पश्चात आग्नेयी धारणा के अनुसार हृदय मे एक अधोमुख आठ पंखुडी वाले कमल का चिन्तन करके उसकी प्रत्येक पखुडी पर आठो कर्मों को स्थापित करना चाहिये । उसके बाद "अर्हं" के ध्यान द्वारा अग्नि की चिनगारिया निकलने का चितन व उन चिनगारियो से आठ कर्म-युत कमल को भस्म करने का चिन्तन करना चाहिये ।

तीसरी वायवी धारणा होती है । इसके द्वारा प्रचण्ड पवन का चिन्तन

करके उससे आठ कर्मों वाले कमल की भस्म को उड़ा देने का दृढ़ चिन्तन किया जाता है।

चौथी है वारुणी धारणा वारुणी धारणा मे वरुण-बीज 'वँ' का चिन्तन करते हुए मेघ-युक्त आकाश का उससे बरसते जल की कल्पना करनी चाहिये और उस जल से पूर्व मे उडी हुई कर्मों की भस्म धुलकर साफ हो रही है, ऐसा चिन्तन करना चाहिये।

इन चारो धारणाओ के बाद शुद्ध बुद्धि वाले योगी को रस रक्त आदि सात धातुओ से रहित पूर्ण चन्द्र के समान निर्मल तथा उज्ज्वल कांति वाले शुद्ध-विशुद्ध आत्म-स्वरूप का चिन्तन करते हुए पूर्व स्थापित सिंहासन पर सर्व अतिशयो से सुशोभित अपने निराकार आत्मा का चिन्तन करना चाहिये। यह तत्वभू धारणा कहलाती है। इस पिण्डस्थ ध्यान का अभ्यास करने वाला योगी मोक्ष के अनन्त सुख को प्राप्त कर सकता है।

पिण्डस्थ ध्यान का निरन्तर अभ्यास करने वाले योगी का मत्र, तत्र भूत, पिशाच तथा सिंह, सर्प आदि हिंसक जन्तु भी कुछ नही बिगाड सकते।

पिण्डस्थ की तरह ही पदस्थ, रूपस्थ तथा रूपातीत ध्यान की भी महान् तथा आश्चर्यजनक प्रभाव डालने वाली क्रियाएं है।

योग के आठ अग माने जाते हैं—यम, नियम, आसन प्राणायाम, धारणा, ध्यान तथा समाधि। आचार्य पातजलि आदि ने मुक्ति-साधना के लिये प्राणायाम को उपयोगी माना है। यद्यपि मोक्ष के साधन रूप ध्यान मे वह उपयोगी नही है फिर भी शरीर की नीरोगता तथा तथा काल-ज्ञान मे उसकी उपयोगिता है।

श्वास और उच्छ्वास की गति का निरोध करना प्राणायाम कहलाता है। यह रेचक, पूरक तथा कुम्भक के भेद से तीन प्रकार का होता है। रेचक-प्राणायाम से उदर व्याधि का और कफ का नाश होता है। पूरक से शरीर पुष्ट होता है तथा कुम्भक-प्राणायाम करने से शरीर मे बल तथा तेज बढ़ता हैं और वात, पित्त, कफ तथा सन्निपात की शांति होती है।

बायी ओर का नासिका-रन्ध्र चन्द्र-नाडी और इड़ा-नाड़ी कहलाता है। इसमे चन्द्र का स्थान माना जाता है। दाहिनी ओर का रन्ध्र सूर्य-नाडी तथा पिंगला-नाड़ी कहलाता है तथा दोनो के मध्य मे जो नाडी स्थित है उसे सुषुम्ना कहते हैं। इसमे शिव स्थान, मोक्ष का स्थान माना जाता है। इड़ा-नाड़ी समस्त मनोरथो को पूर्ण करने वाली मानी गई है तथा दाहिनी

पिंगला नाडी अनिष्ट को सूचित करने वाली और कार्य का विघात करने वाली है।

सुषुम्ना नाडी अणिमा आदि आठ महासिद्धियो का तथा मोक्ष रूपी फल का कारण होती है।

इन नाडियो मे श्वास प्रश्वास की जो गति भिन्न-भिन्न समय मे भिन्न-प्रकार की रहती है उसके द्वारा शुभ कार्यादि के लिये शकुन देखा जाता है तथा इनके द्वारा ही मृत्यु का समय भी ज्ञात किया जा सकता है। जैसे—ज्येष्ठ महीने के प्रथम दिन से दस दिन तक, एक ही नाडी मे वायु चलता रहे तो वर्ष के अन्त मे मृत्यु होगी। अगर लगातार उन्तीस दिन तक एक ही सूर्य नाडी मे वायु चले तो दसवे दिन तथा तीस दिन तक चलता रहे तो पांचवे दिन मृत्यु मानी जाती है। इसी प्रकार इकतीस दिन चले तो तीन दिन मे, वत्तीस दिन चले तो दूसरे दिन तथा तेतीम दिन चले तो एक ही दिन मे मृत्यु होगी, ऐसा माना जाता है।

नाडी की गतियो को सम्यक्रूप से जाननेवाला व्यक्ति नाडी-शुद्धि करने के अभ्यास मे कुशलता प्राप्त कर लेता है और वह अपनी इच्छा के अनुसार वायु को एक नाडी से दूसरी नाडी मे परिवर्तित कर लेता है। इसीलिये वह योगी सर्वशक्ति सम्पन्न हो जाता है। कभी कभी तो वह ऐसी शक्ति प्राप्त कर लेता है कि किसी दूसरे के शरीर मे भी प्रवेश कर सके। कहा भी गया है—

क्रमेणैवं पर-पुर-प्रवेशाभ्यास-शक्तित
विमुक्त इव निर्लेप स्वेच्छया संचरेत्सुधी

कहते है कि क्रम से प्राणायाम तथा नाडियो मे वायु की गति को इच्छानुसार सचारित कर सकने का अभ्यास हो जाने पर बुद्धिमान योगी मुक्त पुरुष की तरह, दूसरे के शरीर मे प्रवेश करने के पश्चात् इच्छानुसार विचरण कर सकता है।

किन्तु दूसरे के प्राणो का नाश किये बिना उसके शरीर मे प्रवेश नही किया जा सकता अत पाप के कारण जीवित देह मे प्रवेश करने का विधान नही है।

जीवद्देहप्रवेशस्तु नोच्यते पाप-शङ्कया।

—हेमचन्द्राचार्य

वह क्रिया सिर्फ चामत्कारिक है। इसमे साध्य की सिद्धि नही होती। कष्टप्रद विभिन्न आसनो की साधना से वायु को जीतकर तथा शरीर के अन्तर्गत नाडी के सचार को अपने अधीन करके तथा परकाय-प्रवेश की सिद्धि प्राप्त करके भी जो योगी इस विज्ञान मे आसक्त रहता है वह कभी मुक्ति प्राप्त नही कर सकता।

अभी मैंने कहा था, प्राणायाम की प्रक्रिया से मन कुछ देर के लिये अपना कार्य बन्द करता है, परन्तु वह इससे स्थिर नही होता। प्राणायाम का बधन शिथिल होते ही पुन बडी तेजी से साधना से विमुख हो जाता है। इसलिये कहा गया है :—

इन्द्रियै सममाकृष्य विषयेभ्य प्रशान्तधी। ।
धर्मध्यान कृते तस्मान्मन कुर्वीत निश्चलम् ॥

प्रशान्त बुद्धि वाला साधक इन्द्रियो के साथ मन को भी शब्द, रूप रस, गध तथा स्पर्श आदि पाचो विषयो से हटाकर उसे-धर्म ध्यान के चिन्तन मे लगाने का प्रयत्न करें।

और बधुओ ! ध्यान के विषय मे मैंने अभी बताया ही था कि ध्यान पिण्डस्थ, पदस्थ, रूपस्थ तथा रूपातीत इन चारो आलम्बनो के आधार पर करना चाहिये।

ध्यान के द्वारा भी कभी-कभी दिव्य गध, दिव्य रूप दिव्य-रस, दिव्य स्पर्श तथा दिव्य-नाद की अनुभूति होती है किन्तु उन्हे भी इन्द्रियो के सूक्ष्म विषय मानकर मन से बाहर निकाल देना चाहिये। ऐसा करने पर मन मे अपूर्व शाति का अनुभव होता है। इन चारो प्रकार के ध्यान मे जो साधक सलग्न रहता है उसका मन जगत् के तत्वो का साक्षात्कार करके अपनी आत्मा को पूर्ण रूप से शुद्ध बना सकता है।

मन ही योग का आधार है। मन की अवस्थाओं को बिना जाने तथा उसे स्थिर किये बिना योग-साधना सभव नही है। पतजलि ने कहा है :— "योगश्चित्तवृत्तिनिरोध ।" चित्त की वृत्तियो को वश मे रखना ही योग है। श्री हेमचन्द्राचार्य ने मन के भेदो का निरूपण किया है —१. विक्षिप्त मन २ यातायात मन, ३. श्लिष्टमन और ४ सुलीन मन।

विक्षिप्त मन मे बडी चचलता रहती है तथा वह निरुद्देश्य इधर उधर भटकता ही रहता है।

यातायात चित्त कुछ आनन्द वाला होता है। वह कभी बाहर चला जाता है और कभी अन्दर ही स्थिर हो जाता है।

सुलीन चित्त वह होता है जो अत्यन्त स्थिर होता है। और परमानन्द का अनुभव करता है।

कहने का तात्पर्य यही है कि जैसे जैसे चित्त की स्थिरता बढती जाती है, वैसे वैसे आनन्द की मात्रा भी बढती जाती है। जब चित्त एक दम स्थिर हो जाता है तब परमानन्द की अनुभूति होती है और तब ध्यान निरालम्बन होने लगता है। उसमे आलम्बन की आवश्यकता नही रहती।

योगी को बहिरात्मभाव का त्याग करके अन्तरात्मा के साथ सामीप्य स्थापित करना चाहिये। यदि वह आत्मा के सिवाय किसी भी अन्य पदार्थ सबधी विचार नही करता है तथा आत्म-ज्ञान की ही अभिलापा रखता है तो वह निश्चय ही बिना किसी बाह्य प्रयत्न के निर्वाण पद का अधिकारी हो सकता है। योगशास्त्र मे कहा गया है—

अयते सुवर्ण-भाव सिद्ध-रस स्पर्शतो यथा लोहम्।
आत्मध्यानादात्मा परमात्मत्वं तथाऽऽप्नोति॥

जैसे सिद्धरस-रसायन के स्पर्श से लोहा पवित्र स्वर्ण बन जाता है, उसी प्रकार आत्मा का ध्यान करने से आत्मा परमात्मा बन जाता है।

योगी को अपनी वृत्ति उदासीनतामय बना लेनी चाहिये तथा सकल्प-विकल्पो का सर्वथा त्याग कर देना चाहिये। जब तक मानसिक, वाचिक या कायिक प्रयत्न का अश भी विद्यमान रहता है तब तक तल्लीनता नही आती।

तल्लीनता तब आती है जब कि योगी रमणीय प्रदेश मे बैठा हुआ भी, सौन्दर्य को देखता हुआ भी, कर्ण-प्रिय वाणी सुनता हुआ भी, सुगन्धित पदार्थो को सू घता हुआ भी, रसास्वादन करता हुआ भी, कोमल पदार्थों का स्पर्श करता हुआ भी, और चित्त के व्यापारो को न रोकता हुआ भी उदासीन तथा समभाव-पूर्वक आत्मा का चिन्तन करे। इसके लिये सतत अभ्यास की आवश्यकता है। अनेक बार मन इसमे असफल हो जाता है पर ऐसे समय कबीर का यह दोहा याद आना चाहिये—

पांव नही ठहराय, चढौ गिरि, गिरि परौं।
फिर-फिर चढहु सम्हारि, चरन आगे धरौं॥

साधक को भली भांति मालूम होना चाहिये कि आनन्द बाह्य पदार्थों से प्राप्त नही होता। वह तो आत्मा मे ही रमा हुआ है। बस, उसे अनुभव करने की ही आवश्यकता है। किसी शायर ने कितने मार्मिक शब्दो मे यही बताया है :—

तू क्या समझेगा ऐ बुतसाज, यह परदे की बातें हैं।

तराशा जिसको, थी पहले से,वह तसवीर पत्थर में ।

किसी मूर्तिकार से कहा है कि तू जिस तस्वीर को अपनी बनाई हुई कहता है वह तो पत्थर मे पहले से ही थी।

बधुओ! आज के मेरे सम्पूर्ण कथन का सारांश यही है कि मन, वचन तथा काय इस त्रि-योग की शुद्धि ही योग-साधना की सिद्धि है और योग साधना मोक्ष की सीढ़ी है। पर साथ ही योगी को यह ध्यान रखना चाहिये कि प्राणायाम आदि दुष्कर उपायो का परित्याग करके वह तल्लीनतापूर्वक पिण्डस्थ पदस्थ रूपस्थ तथा रूपातीत आलम्बन द्वारा निराकार, चैतन्य स्वरूप, निरजन सिद्ध परमात्मा का ध्यान करे। जब ध्यान रूपी जाज्वल्यमान प्रचण्ड अग्नि प्रज्वलित होती है तो योगी के समस्त कर्म क्षणभर मे नष्ट हो जाते हैं। आचार्य हेमचन्द्र ने कहा है—

ज्वलति ततश्च ध्यान-ज्वलने, भृशमुज्ज्वले यतीन्द्रस्य।

निखिलानि निलीयन्ते, क्षणमात्राद् घाति-कर्माणि ॥

सज्जनो! आज का विषय सभवत आपको कठिन मालूम हुआ होगा? प्राणायाम तथा ध्यान जैसी क्लिष्ट साधनाओ की विधियाँ एक बार सुनकर ही समझ लेना सभव नही है। इसके लिए तो प्रबुद्ध गुरु के पास कुछ काल तक निरतर अभ्यास करने की आवश्यकता होती है। फिर भी आपको घबराने की आवश्यकता नही है।

अभी तो आपको सिर्फ इतना ही ध्यान रखना चाहिए कि शुभ अध्यवसाय एव चिंतन-मनन से मन शुद्ध होता है, निरवद्य निष्पाप भाषा का प्रयोग करने से वचन योग की शुद्धि होती है तथा निर्दोष क्रिया का आचरण करने से शरीर सशुद्ध होता है। बस, इन तीनो योगो की शक्ति के अनुसार शुद्धि रखना भी योग-साधना है।

रविवार होने के कारण आज आपका अधिक समय ले लिया है। अब मै अपनी बात समाप्त कर रहा हूँ। ओम् शान्ति।

★ ★

५ | अजेय-आत्मशक्ति

आज हम शक्ति के विषय मे तथा उससे भी अधिक गरिमामयी आत्म-शक्ति के विषय मे विचार करेगे ।

शक्ति जीवन मे सफलता का आधारभूत उपादान है । शक्ति के बिना जीवन की कल्पना ही नही की जा सकती । शक्ति ही वास्तविक जीवन है । यही सफलता का मूल-मत्र है । विश्व मे जितने कार्य किये जाते है, उन सब की तह मे शक्ति ही काम करती है । इस विराट विश्व मे असीम शक्ति दिखाई पडती है । इसके बिना न तो जगत् ही कायम रह सकता है और न जीवन ही टिक सकता है ।

ससार की प्रत्येक वस्तु मे शक्ति अदृश्य रहती है । कोई उसे देख नही पाता किन्तु विज्ञान उसे प्रकाश मे लाता है । कोयले का एक टुकडा, जो काला -कलूटा होता है, तनिक भी किसी को अकर्पित नही कर सकता । वही एक छोटे से अग्निकण का स्पर्श पाकर सम्पूर्ण महानगर को भस्म कर सकता है । वर्पाऋतु मे जल की बाढ का वेगवान् प्रवाह अनन्त महासागर का दृश्य उप-स्थित कर देता है, अपने रास्ते मे आने वाली प्रत्येक वस्तु तथा प्रत्येक प्राणी के जीवन का नाश करता चला जाता है । जल के कणो से पैदा की हुई विद्युत् के प्रचण्ड प्रभाव के बारे मे आप सभी जानते ही है । इसी प्रकार सदा सुख व शान्ति प्रदान करने वाली वायु भी जब अधड का रूप धारण कर लेती है तो प्रलय मचा देती है । हमारे राजस्थान का मीलो फैला हुआ मरुस्थल इस बात का प्रमाण है । इतिहास भी हमे बताता है कि अनेक बार इसे पार करके आने की आकाक्षा रखने वाली विदेशी सेनाएँ अनभ्यस्त होने के कारण रेत के महा तूफानी भवर मे फसकर खत्म हो गई थी ।

कहने का तात्पर्य यह है कि शक्ति का निवास पृथ्वी की जड़ तथा चेतन सभी वस्तुओ मे होता है। आवश्यकता है सिर्फ उसे जागृत करने की तथा कार्य मे लगा देने की। अगर शक्ति को कार्य मे न लिया जाय तो वह चमत्कार नही दिखा सकती। आदि युग से अबतक के इस वैज्ञानिक युग मे मानव ने अनेको आविष्कार करके अपनी बुद्धि तथा पदार्थों मे छिपी हुई शक्ति के सहारे अनेकानेक करिश्मे दिखाए हैं। अनेक प्रकार के बम, तोपे, टैक, वायुयान तथा रॉकेट आदि इन्ही प्राकृतिक वस्तुओ की शक्ति के ज्वलत उदाहरण है। और इन शक्तियो का स्वामी मनुष्य है। मनुष्य के बुद्धिबल ने आज विज्ञान को जादू का पिटारा बना दिया है जिसमे से नित्य नवीन व अद्भुत खेल दिखाए जाते है।

यह तो हुई मनुष्य के बुद्धिबल की बात, इसके पश्चात् दूसरा बल मनुष्य के पास बाहु-बल होता है। जिस व्यक्ति की भुजाओ मे शक्ति होती है उससे शत्रु कापते रहते हैं। भर्तृहरि ने लिखा है कि जिस प्रकार तेजस्वी सूर्य सारे जगत् को प्रकाशमान कर देता है, उसी प्रकार एक ही शूर-वीर सारी पृथ्वी को जीतकर वश मे कर लेता है।

एकेनापि हि शूरेण पादाक्रांतं महीतलम्।
क्रियते भास्करेणेव स्फारस्फुरित-तेजसा॥

प्राचीन काल मे अनेक विश्व-विजयी लोक-नायक हो गए है, जिन्होने अपनी भुजाओ की शक्ति के द्वारा अपने साम्राज्य का अनेक गुना विस्तार किया था। इतिहास के पन्ने भरे पडे हैं शूर-वीरो की कहानियो से। अश्वमेध यज्ञ शूरवीर राजाओ की अजेय शक्ति का प्रमाण होता था। अश्वमेध यज्ञ के लिये छोडा हुआ अश्व इच्छानुसार विचरण करता था। जिसका अश्व होता था उससे अधिक बलशाली राजा ही उसे पकडने की हिम्मत कर सकता था। अन्यथा अश्व के लौट आने पर अश्व के स्वामी राजा को सर्व विजयी माना जाता था।

बधुओ! बाहु-बल सिर्फ साम्राज्य-विस्तार मे ही काम नही आता था किन्तु शरणागतो की तथा अबलाओ की रक्षा के लिये भी उसका उपयोग होता था। शरण मे आए हुए की रक्षा करना महान् धर्म समझा जाता था। शूर-वीर अपनी सम्पूर्ण शक्ति शरणागत की रक्षा के निमित्त लगा देता था। यहाँ तक कि अपने प्राण भी त्याग देने मे वह सकोच नही करता था। राजा चेटक ने कोणिक के भाई विहलकुमार को शरण दी थी, फलस्वरूप इतना घमासान युद्ध हुआ था इन्द्र को भी उस युद्ध मे शामिल होना पडा।

मुगलो के द्वारा चढाई कर दिये जाने पर जब रानी कर्मावती को अपने सतीत्व के नष्ट हो जाने का भय हुआ तो उसने हुमायू बादशाह को रक्षा-बधन भेजा था कि बादशाह अपने बाहुबल से रानी को अपनी बहन मानकर उसकी रक्षा करे। रानी दुर्गावती और झासी की रानी लक्ष्मीबाई तो नारी होकर भी स्वय रणक्षेत्र मे जाकर बडी बहादुरी से युद्ध करती रही थी।

विश्व मे राज्यो की उत्पत्ति शक्ति के द्वारा ही होती आई है। कहा गया है कि शक्तिशाली व्यक्तियो ने अपनी भुजाओ की शक्ति के द्वारा ही साम्राज्यो की स्थापना की थी। 'जिसकी लाठी उसकी भैंस' कहावत उस समय चरितार्थ होती थी, आज भी होती है। अग्रेजी मे कहा गया है—Might is right

आज बाहुबल की अपेक्षा बुद्धिबल को श्रेष्ठ माना जाता है। इस विज्ञान के युग मे युद्ध, बुद्धि के द्वारा आविष्कृत साधनो के द्वारा किये जाते है। फिर भी बाहुबल की उपेक्षा नही की जा सकती। आज भी हम देखते है, सैनिको की भर्ती उनके शरीरिक बल की जाँच करके ही की जाती है। आज भी हमारे राष्ट्र कवि जवानो की जवानी को ललकारते हुए कहते है —

द्वार बलि का खोल चल भूडोल कर दें!
एक हिम गिरि एक सिर का मोल कर दें।
मसल कर अपने इरादो सी उठा कर,
दो हथेली हैं कि पृथ्वी गोल कर दें।
रक्त है या है नसो में क्षुद्र पानी?
जाँच कर तू सीस दे देकर जवानी।

कहने का तात्पर्य यह है कि आज भी मनुष्य को अपनी भुजाओ की शक्ति पर बडा भरोसा है। दो हथेलियो के द्वारा वह इस चपटी पृथ्वी को गोल बना देने का साहस रखता है, लेकिन सज्जनो! मानव के पास इन शक्तियो से भी बढकर और एक ऐसी शक्ति है जिसके द्वारा वह देवराज इन्द्र को भी अपने चरणो मे झुका सकता है। अपने आपको वह स्वर्ग से भी ऊपर उठा सकता है, वह है आत्म-शक्ति।

अगर मानव मे आत्म-शक्ति का अभाव है तो वह न बुद्धिबल का उपयोग कर सकता है और न ही बाहुबल का। बुद्धिबल के द्वारा निर्मित किये हुए अनेक साधन सैनिको को दे दिये जायँ और उन्हे युद्ध मैदान मे भेज दिया जाय, किन्तु उनमे आत्म-बल नही तो सिपाही कभी भी लड़ नही सकेगे जैसा

कि उन्हे लड़ना चाहिए। आत्मवल के अभाव मे उनका बुद्धिवल भी उस समय धोखा दे जाएगा।

इसी प्रकार शरीर से अत्यन्त हृष्ट-पुष्ट होने पर भी आत्म-वल के न होने पर सैनिक युद्ध मे कुशलतापूर्वक नही जूझ सकते। शरीर के सुदृढ होने पर भी कोई व्यक्ति आत्म-शक्ति न होने से शरणागतो की या दीन-दुखियो की रक्षा नही कर सकता। इसके विपरीत एक व्यक्ति शरीर मे वामन होने पर भी आत्म-शक्ति के प्रभाव से विराट् हो सकता है।

कहते है प्राचीन काल मे महर्षि अष्टावक्र सिर्फ वारह वर्ष की आयु मे ही वेदशास्त्र मे पारगत हो गए थे। शरीरिक दृष्टि से वालक होने पर भी वे अपने पिता के दुश्मन, पर धुरधर विद्वान वन्दी से शास्त्रार्थ करने महाराजा जनक के दरवार मे चले गये थे। द्वारपाल के रोकने पर उन्होने वडे आत्माभिमान मे कहा—अगर यज्ञ-शाला मे वृद्ध प्रवेश कर सकते है तो मै भी ज्ञान-वृद्ध हूँ। द्वारपाल ने प्रवेश की अनुमति देदी और अष्टावक्र ने यज्ञशाला मे जाकर वन्दी को परास्त किया तथा अपनी श्रेष्ठता का परिचय दिया। जैन शास्त्र के अनुसार नौ वर्ष का वालक भी केवली हो सकता है।

इससे ज्ञात हो जाता है कि आयुष्यवल,वाहुवल अथवा बुद्धिवल ही मनुष्य का सर्वस्व नही है। मनुष्य मुख्यतया आध्यात्मिक प्राणी है। उसके जीवन के वौद्धिक व भौतिक पक्ष की अपेक्षा आध्यात्मिक पक्ष प्रवल होता है। एक आत्मवीर सहस्रो विरोधियो का मुकाविला कर सकता है। मनुष्य की बुद्धि का जव आत्मशक्ति की तेजस्विता से मिलाप हो जाता है तो उसके जीवन मे असाधारण प्रतिभा व चमत्कार पैदा हो जाता है। मनुष्य शक्ति-पुज वन जाता है।

धन-वैभव, सौन्दर्य, शरीरिक वल तथा बुद्धि-वल आत्मा की शक्ति के सामने सिंधु मे विन्दु के सदृश ही महत्त्व रखते है। आत्म-शक्ति के द्वारा मानव अपनी इन्द्रियो पर तथा मन पर शासन करता है। साधना के पथ पर चलने वाले प्रत्येक साधक को अपनी आत्म-शक्ति की महानता को पहचानना चाहिये तथा उसे सम्यक् मोड़ देना चाहिये।

सम्यक् मोड का अर्थ सभवत आप सव नही समझे होगे। आत्म-शक्ति का सम्यक् मोड यही है कि उस शक्ति का समुचित प्रयोग किया जाय। शक्ति का सदुपयोग किया जाय। सदुपयोग करने पर मानव उत्थान कर सकता है और दुरुपयोग करने पर पतन के गहरे गर्त मे

गिर जाता है। आत्म-शक्ति सिर्फ शक्ति है। अपने आप मे वह उत्तम अथवा अधम नही है। उसका उचित प्रयोग करने पर वह शुभ हो जाती है और गलत प्रयोग करने पर अशुभ का कारण बन जाती है। महान् दार्शनिक रिचार्ड बी ग्रेण ने कहा है—"मनुष्य को चामत्कारिक शक्तियाँ कठिन कार्य करने से नही प्राप्त होती वल्कि इस कारण प्राप्त होती है कि वह शुद्ध हृदय से कार्य करता है।' आशय यही है कि शक्ति का प्रयोग उसके प्रयोग करने वाले की भावना पर निर्भर है। अच्छे लक्ष्य के लिये आत्म-शक्ति का प्रयोग करने पर वह शुभ होती है, जैसे किसी के आसू पोछना, प्राणी मात्र की प्रसन्नता व उन्नति की कामना व प्रयत्न करना। इसके विपरीत दूसरो को हानि पहुँचाना, पर-पीडन करना अशुभ लक्ष्य है। इनका परिणाम भी अशुभ होता है। क्रोध, मान, माया तथा लोभ आदि के वशीभूत होकर जो प्राणी अपनी महान् आत्म-शक्ति का अनुचित प्रयोग करते है उनके हृदयो मे मे सद्गुणो का लोप हो जाता है और शत्रुओ की सख्या वढ जाती है। यहा तक कि उनके पुत्र, मित्र तथा अन्य हितैपी व्यक्ति भी दुश्मन बन जाते है। इसी आशय का एक सुन्दर पद देखिये—

कर क्रोध जीव जलते हैं और जलाते,
हो अहकार मे चूर क्रूर बन जाते।
मायावी से सव सुगुण दूर हो जाते,
लोभी के पुत्र-कलत्र शत्रु वन जाते।

—शोभाचन्द्र भारिल्ल

बधुओ! आत्म-शक्ति तो पापी मे भी होती है और पुण्यात्मा मे भी। पर उसका प्रयोग सही व गलत लक्ष्य को लेकर होता है। शक्ति राम मे भी थी और रावण मे भी। किन्तु राम की शक्ति का प्रयोग धर्म की रक्षा तथा अधर्म के नाश मे हुआ, अत वे आज भी विश्व-वन्द्य है। रावण की शक्ति का प्रयोग सीता के सतीत्व को भग करने के प्रयत्न मे तथा पर पीडन मे हुआ अत उसका नाश हुआ। आज तक भी दशहरे पर रावण का वृहत्काय पुतला वना कर वडी घृणा तथा उपहास के साथ जलाया जाता है। अव आप अच्छी तरह समझ गए होगे कि आत्म-शक्ति धर्म मे लगाई जाती हे और अधर्म मे भी। दूसरो को पीडा पहुँचाने मे जो शक्ति लगाई जाती है उसे हम हिंसा कहते है और दूसरो का सरक्षण करने मे लगाई जाने वाली शक्ति को अहिसा। दोनो मे महान अन्तर है। हिंसा के द्वारा विजय पाई हुई शक्ति

चिरस्थायी नही रहती। वह विजय भी अधूरी होती है। एक लेखक ने कहा है —

It is not possible to found a lasting power upon injustice perjury and treachery '

—डिमास्थैनीज

अन्याय, असत्य और कपट की बुनियाद पर स्थायी शक्ति स्थापित करना असम्भव।

आज मनुष्य जिस दुखद स्थिति मे से गुजर रहा है, उसका निर्माण स्वय उसी ने किया है। हिंसा-पूर्ण कार्यो मे अपनी शक्ति लगाकर उसने अपने आस-पास विपत्तियो का तथा परेशानियो का जाल बुन लिया है। अब उससे मुक्त होने के लिये छटपटाता है, भगवान् से प्रार्थना करता है। पर उससे क्या होगा ? कार्य जैसा करेगा फल वैसा ही भुगतना पडेगा। यह हो सकता है कि वह पाश्चात्ताप की आग मे जलकर अपने हृदय को निष्पाप बनाले और भविष्य उज्ज्वल कर ले किन्तु किये हुए पाप का फल तो एक बार उसे भुगतना ही होगा।

तुलसी-कृत रामायण के अनुसार कैकेयी ने मन्थरा दासी के बहकावे मे आकर महाराजा दशरथ से भरत को राज्य तथा राम को वनवास मिलने के दो वर मागे थे। फलस्वरूप उसने पति को तो खोया ही और पुत्र को भी राज्य नही दिला सकी। भरत ने राम की पादुकाओ को ही सिंहासन पर आसीन किया और अपने को राम का सेवक मानकर चौदह वर्ष तक राज्य कार्य सम्भाला। इन परिणामो के सामने आने पर कैकेयी को घोर पश्चात्ताप हुआ। मैथिलीशरण गुप्त ने उसके भावो का अपनी कविता से बडा मर्मस्पर्शी चित्र खीचा है —

क्या कर सकती थी मरी, मन्थरा दासी,
मेरा ही मन रह सका न निज विश्वासी।
जल पंजर-गत अब अरे अधीर अभागे,
वे ज्वलित भाव थे स्वयं तुझी से जागे।
युग युग तक चलती रहे कठोर कहानी।
रघुकुल मे भी थी एक अभागी रानी।

कैकेयी मन को धिक्कारती हुई कहती है—अभागे मन ! अगर तू मेरे वश मे रहता तो मन्थरा दासी क्या कर सकती थी। वे कलुषित भाव तुझमे

ही पैदा हुए थे अत अब पिजरे मे बन्द पक्षी की तरह मेरे शरीर मे छटपटाता रह और सदा जलता रह।

सज्जनो! कैकेयी के इन शब्दो को समझिये —"वे ज्वलित भाव थे स्वय मुझी मे जागे।' मन में जो कुछ भावनाऐ पैदा होती है उनके कुफल को बाहर से कोई शक्ति आकर नही मेट सकती। कृत-कर्मों से स्वय ही युद्ध करना पडता है। साधक अकेला ही सघर्ष करके मुक्ति प्राप्त कर सकता है। अपना ईश्वर वह स्वय ही हैं। जैन दर्शन के अनुसार प्रत्येक आत्मा परमात्मा रूप है। भगवान महावीर ने तो आत्मा की अनन्त शक्ति को हो महत्व दिया है, क्योकि आत्मा मे ईश्वरीय रूप विद्यमान रहता है। प्रत्येक आत्मा मे परमात्मा बनने की शक्ति है। आवश्यकता सिर्फ उसे जगाने की है। आत्मा की उस अनन्त शक्ति पर राग, द्वेष, कषाय आदि के अनेक आवरण है, उन्हे हटाने की आवश्यकता है। सासारिक वैभव के आकर्षण से आत्मा को सुरक्षित रखना साधक के लिये अनिवार्य है। श्री दशवैकालिक सूत्र मे भी कहा गया है—

अप्पा खलु सययं रक्खियव्वो,
सव्विदिएहिं, सुसमाहिएहिं ।
अरक्खिओ जाइ-पह उवेइ,
सुरक्खिओ सव्वदुहाण मुच्चइ।

साधक को इन्द्रियो को वश मे रखते हुए अपनी आत्म की सब प्रकार से रक्षा करनी चाहिए। तप तथा सयम मे लगाकर उसे पाप कार्यों से बचाना चाहिए। क्योकि जो आत्मा सुरक्षित नही है वह जाति-पथ को प्राप्त होती है अर्थात् जन्म मरण के चक्कर मे फँसी हुई ससार मे परिभ्रमण करती रहती है। पर सुरक्षित आत्मा सर्व दुखो का नाश करके मोक्ष प्राप्त कर लेती है।

आशा है आप लोग अब अपनी आत्म-शक्ति का महत्व समझ गए होगे। यह शक्ति कही बाहर से नही लाई जा सकती। यह वह ज्योति है जो आत्मा मे ही छिपी हुई है। चकमक मे आग की तरह अपने अन्तरतम मे व्याप्त है। मनुष्य को सिर्फ इसे जगाना है और इसके प्रकाश मे सही पथ को प्रकाशित करते हुए बढते जाना है। प्रत्येक मनुष्य को अपना कोई भी कल्याणकारी लक्ष्य बना लेना चाहिये। लक्ष्यहीन व्यक्ति कभी भी अपने जीवन मे सफलता प्राप्त नही कर सकता। अपनी शक्ति पर तथा अपनी आत्मा पर विश्वास करते हुए तथा विवेक की कसौटी पर कसते हुए अपने अन्तरग से निर्णय लेकर ही साधक को अपने लक्ष्य की प्राप्ति के लिए परिश्रम करना चाहिये।

ससार मे जितने महापुरुष हुए है, अपनी ध्येय-निष्ठा के कारण ही वे महान् वने है। प्रत्येक नर नारायण वन सकता है अगर वह अपनी आत्म-शक्ति पर दृढ विश्वास रखे तथा उसे सही लक्ष्य की प्राप्ति मे लगावे। फिर कोई भी रुकावट उसे पथ-च्युत नही कर सकती। किसी पजावी कवि ने कहा —

राह विच्च उच्चे पर्वत आवन, डुंगिया गारा दिल दहलावन,
सागर ठाठा मार डरावन, खावे नाव झकोले ना।
ऐसी आत्मा हो वलवान मेरा मन कदेवी डोले ना।
निज-पर हो ऐसा विश्वास किसे दा आसरा टोले न॥

रास्ते मे ऊँचे पर्वत आ जाए ताकि महासागर के तूफान से मेरी नाव डोल उठे तव भी मैं भय-भीत होकर किसी और के सहारे की आकांक्षा न रखूं। इतना मुझे अपनी आत्मा पर विश्वास हो।

अपनी आत्मा की शक्ति पर विश्वास न करते हुए तथा उससे कार्य न लेते हुए सिर्फ भगवान से इच्छित सुख की प्राप्ति के लिये प्रार्थना करना अनुचित है। ऐसे मन को सम्वोधित करते हुए कवि आगे कहते है :—

सव कुछ तेरे कोल खजाना, ढूँढे वाहर वना दिवाना,
मूरख हत्थ की तेरे आना, जे तूं गुत्थी खोले ना ?
पूर्ण ज्ञान चरित्र दर्शन, तेरे अन्दर सवने रोशन,
तू हो के धनी जावे मंगन, की कुछ तेरे कोले ना ?

मूर्ख मन! तू दिवाना वना वाहर ढूढता फिरता है, देखता नही कि स्वय तेरे अन्दर ही तो खजाना पडा है। सम्यक्दर्शन, ज्ञान तथा चारित्र सभी, तेरे खजाने मे वहुमूल्य जवाहरात की तरह चमक रहे है। फिर किसलिये और से मागने जाता है। तेरे पास क्या नही है ? मूर्ख! अगर अपने हृदय के इस अटूट खजाने को नही खोलेगा तो कुछ भी तेरे हाथ आने वाला नही है।

वधुओ! यह है आत्म-शक्ति का महत्त्व ! इसे न समझने से आत्मविस्मृति हो जाती है। तथा मनुष्य पथ-भ्रष्ट हो जाता है। परिणाम स्वरूप उसका जीवन अस्त-व्यस्त हो जाता है। आप अपनी आत्मा पर तथा उसकी शक्ति पर विश्वास कीजिये। फिर उसे आप जिस कार्य मे लगाना चाहे वडी आसानी से लगा सकेंगे। कभी-कभी मुझे यह सोचकर वडा दुख होता है कि मनुष्य अपने धन पर, अपने भौतिक साधनो पर तथा अपने स्वजनो पर तो

विश्वास कर लेता है, किन्तु आत्म-शक्ति पर विश्वास नही करता । कबीर ने कहा है "अन्तर के पट खोल रे तोहि पीव मिलेगे" और यह भी कि 'बाहर के पट देय के अन्तर के पट खोल ।"

आत्मरूप का सच्चा ज्ञान इसी उपाय से हो सकता है । मानव को आत्म-स्थित होकर अपने हृदय से पूछना चाहिये कि मेरा क्या कर्तव्य है ? अपने विवेक के द्वारा आत्मरूप से परिचित होकर उन सद्गुणो को धारण करना चाहिये जिनसे अन्त करण की रक्षा तथा आत्मिक-शक्ति का विकास होता है । आत्मिक-शक्ति का विकास किन गुणो के द्वारा हो सकता है, इस पर अगली बार बोलने की भावना है ।

आत्म-शक्ति का विकास

६

आप लोगो के सामने आत्म-शक्ति की महत्ता पर कुछ विचार रखे जा चुके है। उनके द्वारा हमने यह जान लिया है कि आत्मा अनन्त शक्तिशालिनी है। आत्मा मे ही परमात्म-वल है। जिसमे आत्म-वल नही है उसे परमात्म-वल भी प्राप्त नही हो सकता।

आत्म-विश्वास के द्वारा दुर्गम पथ भी सुगम हो जाता है, क्योंकि हमारी सारी मानसिक शक्तियाँ हमारे आत्म-विश्वास तथा धैर्य पर अवलम्बित रहती हैं। स्वेट मार्डेन ने कहा है—

"आत्म-विश्वास की मात्रा हममे जितनी अधिक होगी उतना ही हमारा सम्बन्ध अनन्त जीवन और अनन्त शक्ति के साथ गहरा होता जाएगा।"

एमर्सन ने भी यही कहा है—Self trust is the first secret of success आत्म-विश्वास सफलता का मुख्य रहस्य है।

आत्म-शक्ति पर विश्वास की कमी हमारे जीवन मे अनेक असफलताओ का कारण होती है। जिन्हे अपनी शक्ति पर विश्वास नही है, वे शरीर से कितने ही हृष्ट पुष्ट क्यो न हो, पर मेरी दृष्टि मे सबसे कमजोर व्यक्ति है। मनुष्य को अपना मनोवल अत्यन्त दृढ वना लेना चाहिये। जिससे उसे अपनी इस महान् शक्ति पर अविश्वास करने का कोई कारण ही न रहे।

वन्धुओ! आज हमे, आत्मिकवल किस तरह वढे, इस विषय पर ही विचार करना है। आत्मिकवल सुवह-शाम व्यायाम करने से, पौष्टिक पदार्थ खाने मे अथवा वल-वर्द्धक औषधियाँ पीने से नही वढता। इसे वढाने के लिये आत्म-संयम तथा साधना की आवश्यकता होती है। आत्मा के सहज गुणो को जीवन मे उतारते रहने के अभ्यास की आवश्यकता है। सतत

प्रयत्न करते रहने से आत्म-विस्मृति नही होती। आत्मोन्नति एक दुर्गम पथ है। इस पथ चरण रखने के बाद 'कार्यं वा साधयामि देह वा पातयामि।" इस मूल मत्र का सतत ध्यान रखना होता है। सकट कसोटी है। सघर्षो से गुजरने वाले ही महान् बन सकते हैं। बुद्ध, ईसा कष्टो का सामना करके ही महान् बने है। भगवान महावीर का समग्र साधना काल तो कष्टो की ही अकथ कथा है। और इन कष्टो के उस तूफान मे मेरु की भाति अडिग रहने मे ही उनके परमात्मत्व का रहस्य निहित है। उनका आत्मिक-बल महान था, अत वे महान् बन गए।

आत्मिक बल बढाने के लिये सर्वप्रथम अन्तर्ज्ञान प्राप्त करना चाहिये। अन्तर्ज्ञान अर्थात् आत्म-ज्ञान से आत्मबल क्यो बढता है? बात यह है कि जब तक कोई किसी वस्तु को सम्यक् रूप से पहचान नही पाता तब तक उसके लाभ से वचित रहता है। हमारे पूर्वज अगर घर मे कही धन गाड जायँ और हमे उसका पता न हो तो हम उस धन का लाभ नही उठा सकते। इसी तरह हमारी आत्मा मे जो ईश्वरीय तत्त्व है उसे न जानने पर हम उस तत्त्व का लाभ नही उठा सकते। एक छोटा सा सूत्र है **"आत्मान विजानी हि"** अपने आपको पहचानो अर्थात् आत्मा को जानो। अगर हमे इस दुर्लभ मानव जीवन को सार्थक करना है और सदा के लिये इस भव-बधन से मुक्ति प्राप्त करना है तो आत्मा को जाने बिना निस्तार नही है। अन्य मार्ग ही नही है।

आत्मा को जानने के लिये सर्वप्रथम हमे इसकी शरीर से पृथक्ता जाननी पडेगी। हम प्राय कहा करते है 'मै सबल हूँ, निर्बल हू, स्वस्थ हू, अथवा बीमार हूँ। पर यह सब सिर्फ शरीर को ही लक्ष्य करके कहा जाता है, आत्मा को नही। शरीर का नाश होता है पर आत्मा तो अजर अमर है। आत्मा का देह के साथ नाश नही होता। मनुष्य जिसे "मै" कहता है वह उसकी आत्मा के लिये होता है। आत्मा शुद्ध, बुद्ध, नित्य, चेतन तथा आनद-मय होती है। हम शरीर के मान, अपमान, सुख, दुख तथा जन्म-मरण को अपना मानते है, यह गलत है। हमारी सब इन्द्रियाँ भी शरीर का ही अग हैं। इन्हे मानना तथा इनकी चेष्टाओ से सुख-दुख का अनुभव करना भ्रम है। यहा तक कि हमारा मन भी हमारे 'मै" से पृथक् है। अन्यथा कोई यह कैसे कहता कि—'मेरे मन मे अमुक विचार आया'। मन के लिये यह कहने वाला मन से पृथक् ही साबित होता है। इस सबसे आप समझ गए

होंगे कि आत्मा न शरीर है, न इन्द्रियां, और न मन है। कभी कभी हम कहते हैं कि—'अमुक-समय पर मेरी बुद्धि भ्रष्ट हो गई थी।' इससे सिद्ध है कि विकृत बुद्धि भी आत्मा का स्वरूप नही है। आत्मा इन सबसे अलग और असीम शक्ति की अधिष्ठात्री है, किन्तु मोह का आवरण इस पर छाया हुआ रहता है। इसलिये मनुष्य अपने को मन तथा इन्द्रियो के वश मे समझता है।

अन्तर्ज्ञान के द्वारा मनुष्य को दृढ़ निश्चय कर लेना चाहिये कि उसमे अर्थात उसकी आत्मा मे तो अनन्तशक्ति है। मन तथा इन्द्रिया सब उसके अनुचर हैं। आत्मा की अनुमति के बिना उनमे हिलने-डुलने का भी सामर्थ्य नही है। शरीर तो इस भव सागर से पार उतरने के लिये एक नौका के सदृश होता है जो आत्मा के द्वारा सचालित होती है। इतना अवश्य है कि मानव शरीर रूपी यह नाव ही ऐसी सुदृढ होती है, जिससे इस अपार भव-सागर को पार किया जा सकता है। अव तक हमारी आत्मा ने अनेक योनियो मे तथा अनेक पर्यायो मे परिभ्रमण किया है। पर कभी भी मानव शरीर के जैसा अन्य कोई शरीर नही मिला, जिसके द्वारा हम आत्मा तथा परमात्मा को जान सकते, साधना कर सकते और सद्‌गुणो का जीवन मे चरम विकास कर सकते। इसीलिये कवि ने कितने प्रभावोत्पादक शब्दो मे इस ज्योति-पुज आत्मा को जगाने की तथा इस दुर्लभ मनुष्य जन्म पाने का सुअवसर न खोने की प्रेरणा दी है —

> जगत-जलधि से पार उतरने को शरीर नौका है,
> मानव-भव शाश्वत सुख पाने का अनुपम मौका है।
> जाग जाग हे ज्योतिपुज! अवसर बीता जाता है,
> जो क्षण गया, गया सदैव को फिर न हाथ आता है।
>
> —शोभाचन्द्र भारिल्ल

आत्मिक बल बढाने का दूसरा उपाय है 'इन्द्रिय-निग्रह'। प्रकृति मे सब कुछ नियमबद्ध है, अतएव मनुष्य को भी अपना जीवन मर्यादित बनाना चाहिये। अनियत्रित जीवन मे स्वाभाविक शक्तियो की स्थापना नही हो सकती। मनुष्य जब जितेन्द्रिय बनता है, अपनी इन्द्रियो को अपनी स्वामिनी नहीं, वरन् सेविका बनाकर रखता है तभी वह स्वाधीन तथा अत्यन्त शक्तिमान बन सकता है। महान् उपन्यासकार प्रेमचन्द्र ने कहा है—'सदाचार का उद्देश्य केवल सयम है, सयम मे शक्ति है और शक्ति ही आनन्द की बुनियाद है'।

सयम से ही आत्म-वल, मनोबल तथा शारीरिक वल दृढ बनते हैं। अन्तर्द्वन्द्व वासनाओ का दमन होता है तथा एकाग्रता बढती है। एक पाश्चात्य दार्शनिक ने कहा है —

'Most powerful is he who has himself in his power.'

सवसे शक्तिशाली वह व्यक्ति है जो अपने को अपने अनुशासन मे रखता है।

इन्द्रिय-दमन के अभ्यास से जीवन बहुत ही शात एव सहनशील बन जाता है। इन्द्रिय-सयम ऐसी दवा है कि इससे शारीरिक स्वास्थ्य तो सुधरता ही है, साथ ही पारमार्थिक स्वास्थ्य भी प्राप्त होता है। श्रीकृष्ण ने गीता मे कहा है—

वशे हि यस्येन्द्रियाणि, तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता।

—गीता

अपनी इन्द्रियाँ जिसके वश मे है उसकी बुद्धि स्थिर है। वही विद्वान और पडित है। सयमहीन पुरुप हो अथवा स्त्री, उस का जीवन व्यर्थ तथा बिना पतवार की नाव के सदृश होता है।

नेपोलियन वोनापार्ट को अपने अध्ययन काल मे अक्लोनी नामक गाँव मे एक नाई के यहाँ कुछ दिन रहना पडा। नाई की पत्नी नेपोलिन के सौन्दर्य को देखकर मुग्ध हो गई और उन्हे आकर्पित करने का प्रयत्न करने लगी। नेपोलियन ने उसके प्रति सदा उपेक्षा रखी वह मनोयोग से अपना अध्ययन करता रहा।

अध्ययन समाप्त होने पर जव वे फ्रास के प्रधान सेनापति वन गए तो एक वार फिर अक्लोनी मे नाई के यहाँ गए। उसकी पत्नी से पूछा—यहाँ नेपोलियन नाम का युवक रहता था, तुम्हे ध्यान है उसका ? स्त्री क्रोधपूर्वक वोली—उसका नाम मत लो। वह तो कितावी कीडा था। नेपोलियन ने हस कर कहा—सच वात है। अगर वह तुम्हारी रसिकता मे उलझ जाता तो आज फ्रास का सेनापति बन कर तुम्हारे सामने खडा नही हो सकता था।

स्त्री उन्हे पहचान गई और अपने कथन पर बडी शर्मिन्दा हुई।

काम-वासनाओ को रोककर ध्यान तथा समाधि का अभ्यास करना कठिन है, किन्तु प्रयत्न तथा पुरुपार्थ से कठिनाइयाँ दूर होती है और पथ विघ्न रहित हो जाता है। जैन शास्त्रो मे कहा गया है :—

जस्सेरिसा जोग-जिइ दियस्स, धिईमओ सप्पुरिसस्स निच्च ।
तमाहु लोए पडिबुद्ध - जीवी, सो जीवई सजम-जीविएण ।

—दशवैकालिक सूत्र

जिसने चचल इन्द्रियो को जीत लिया है, जिसके हृदय मे सयम के प्रति पूर्ण श्रद्धा व विश्वास है तथा जिसने मन वचन तथा काय-तीनो योगो को वश मे कर लिया है ऐसे महापुरुप को लोक मे, सयम मे जागृत कहते है ।

जितेन्द्रिय वनने के लिए इन्द्रियो को सभी विपयो से खीच लेना आवश्यक है । आपकी वाणी मे, जिव्हा मे तथा श्रोत्रेन्द्रिय के विपय, सभी मे सयम होना चाहिए । शरीर को धारण करने के लिए यद्यपि सभी कार्य-व्यवहार आवश्यक है किन्तु उनमे आसक्ति नही होनी चाहिए । महर्पि मनु ने कहा है —

श्रुत्वा स्पृष्ट्वा च दृष्ट्वा च भुक्त्वा घ्रात्वा च यो नरः ।
न हृष्यति ग्लायति वा स विज्ञेयो जितेन्द्रियः ॥

– मनुस्मृति

सुनकर, छू कर, देखकर, सूघ कर, तथा खाकर भी जिस व्यक्ति को न प्रसन्नता होती है और न ग्लानि, वह व्यक्ति जितेन्द्रिय है ।

वधुओ ! इन्द्रियो को जीतने के साथ-साथ मन को भी जीतना आवश्यक है । मन को जीत लेने वाला शूरवीर सारे जगत् को जीत सकता है । आत्मा मे अनन्त शक्ति है और वह हमारी सारी शक्तियो का स्रोत है पर उसको सही मार्ग मे तभी लाया जा सकेगा जव हम अपने मन को अपने अधिकार मे रखें । क्रोध, मान, मोह लोभ व काम आदि लुटेरे हृदय मे दुवके वैठे रहते है और अवसर पाते ही मन को अपने फौलादी पजो से जकड़ने का प्रयत्न करते है । इनकी जकड से छूट कर भगवान के पास पहुँचना वडा मुश्किल हो जाता है । एक पजावी कवि ने कहा है—

विना प्रभु दे तुं होर नाल प्यार न करीं, ओ मना याद रखीं ।
सोना छड्ड के तूं मिट्टी दा व्योपार न करीं, ओ मना याद रखीं ।
जे तू नेडे जाना चाहे भगवान दे,
पंजा वैरियाँ नू नेड़े भी न आन दे ।

अरे मन ! याद रखना, कभी भी तू प्रभु के अलावा किसी अन्य मे आसक्ति मत रखना, प्रभु-भक्ति रूपी स्वर्ण को त्याग कर इन्द्रियो की तृप्ति रूपी मिट्टी का व्यापार मत करने लग जाना । अगर तू भगवान के समीप

पहुँचना चाहता है तो काम, क्रोध, मोह, लोभ तथा अहकार रूपी बैरियो के पजो को पास मे भी न फटकने देना।

जब तक ये काम क्रोधादि लुटेरे हमारी ताक मे है तब तक इन पर विजय पाने का प्रयत्न करते रहना चाहिए। बडे कौशल से तथा बडे आकर्षण-पूर्वक ये हमारे मन पर अधिकार करने का प्रयत्न करते है पर हमे इनका तनिक भी विश्वास नही करना चाहिए।

मन को अडिग बनाए रखने का प्रयत्न करना आवश्यक है। अगर इन्द्रियो पर तथा मन पर सयम नही रखा गया तो विपत्तियो का आना अवश्यम्भावी है। असयमी व्यक्ति कभी भी अपना आत्मिकविकास नही कर सकता।

आत्म-शक्ति के विकास का तीसरा साधन तपस्या है। तपस्या करना मानव मात्र का धर्म है। सिर्फ अगले जन्म के लिए ही, नही वरन् इस जन्म के लिए भी इसकी आवश्यकता है। पतझड के बाद जिस प्रकार वसत आता है उसी तरह तप के बाद ही ध्येय की प्राप्ति होती है। ससार के सभी महान् पुरुषो ने तप की आवश्यकता पर बल दिया है। व्यक्ति चाहे किसी भी मत का या किसी भी सम्प्रदाय का अनुयायी हो, उसको लौकिक तथा पारलौकिक सभी तरह की उन्नति के लिये तप की अनिवार्य आवश्यकता है। तप त्याग की पहली अवस्था है। तप के द्वारा मनुष्य की शारीरिक, मानसिक तथा आत्मिक सभी शक्तिया बढती है, निखरती है।

धर्म-प्रेमी बधुओ ? तप का महत्त्व तो मैंने अभी बताया है पर आप लोगो के मन मे बडी उथल-पुथल मच रही होगी कि तपस्या के द्वारा ही क्या सभी प्रकार की उन्नति सभव है ? और यह भी कि तपस्या या व्रत उपवास करके शरीर को सुखाने का ही नाम है ?

तपस्या का सरल अर्थ है—सयम के साथ कष्ट सहन करना। तपस्या का अर्थ है—भूख प्यास, सर्दी-गर्मी, नफा-नुकसान, हर्ष-शोक तथा मान-अपमान को समभाव से सहन करना। तपस्या का मतलब है शरीर, इन्द्रिय तथा मन की साधना करना। तप का अर्थ है जीवन मे शुद्धता निर्मलता तथा कान्ति का आना। जिस प्रकार सोना अग्नि मे तपाने पर अतीव कान्तिमय बन जाता है, उसी प्रकार वास्तविक तप से साधक का मन पवित्र, शुद्ध तथा निर्मल हो जाता है। अगर साधक के मन मे ये विशेषताएं नही आती तो समझना चाहिये कि उसने वास्तव मे तप नही किया।

आजकल तप का वास्तविक अर्थ न समझने के कारण तप के नाम पर अनेक प्रकार के पाखंड व ढोंग हो रहे हैं। आज अनेक ऐसे तपस्वी हमे मिल सकते हैं जो वैशाख तथा ज्येष्ठ की प्रचण्ड धूप व लू मे अपने शरीर को तपाते हैं। भीषण और हड्डियो को भी गला देने वाली सर्दी मे नग्न प्राय होकर बैठे रहते है। कोई एक पैर पर खडा रहता है, कोई हाथ ऊंचा करके खडा रहता है। कोई वृक्ष मे उलटे लटके रह कर भी तपस्या करते है और कोई लोहे की कीलो पर लेटे रहते हैं। ऐसे अनेको तपस्वी होते हैं, पर वास्तव मे सच्चा तपस्वी उनमे से किसी को भी नही कहा जा सकता। इनमे से कोई अर्थ की आकाक्षा रखता है कोई यश का भूखा रहता है, कोई अन्य प्रकार के किसी भौतिक सुख की आकांक्षा रखता है। ऐसा तप, तप नही होता यह सिर्फ तप का ढोंग है। तप का अर्थ घटो आखे मूद कर बैठना, राम नाम जपते रहना अथवा हठयोग के चमत्कार दिखाना भी नही है।

सदुद्देश्य की सिद्धि के लिये सात्त्विक श्रम, साधना, अभ्यास, योग तथा मनोयोग आवश्यक है। यही तप है। दूसरो के हृदय को चुभने वाली बात न कहना, अन्त करण को शुद्ध व पवित्र रखना तथा वस्त्र भोजनादि में गृद्धता न रखना आदि तप के प्रकार हैं। श्री उत्तराध्ययन सूत्र मे तप दो प्रकार के बताए गए है— बाह्य तथा आभ्यन्तर। बाह्य तप ये है—

अणसणमूणोयरिया, भिक्खायरिया य रस-परिच्चाओ।
काय—किलेसो सलीणया य बज्झो तवो होई॥

—उत्तराध्ययन

(१) **अनशन** :—थोडे समय अथवा मृत्युपर्यंत तक के लिये आहार त्याग।

(२) **उनोदरी** :— जिसका जितना आहार है उससे कुछ भी कम खाना।

(३) **भिक्षाचर्या** —वय, वर्ण, स्त्री तथा पुरुषादि का विचार किये बिना भिक्षा लेना।

(४) **रस-परित्याग** —दूध, दही, घृत, पकवान तथा रस-युक्त-आहार का त्याग करना।

(५) **कायक्लेश** —वीरासनादि उग्र आसनो द्वारा कष्ट सहन करना।

(६) **सलीनता** —शात, एकान्त, आवागमन-रहित स्थान पर शयन करना।

ये छ प्रकार के वाह्य तप सक्षेप मे आप समझ गए होगे ? आभ्यन्तर तप के विषय मे एक और सूत्र के द्वारा वताया गया हे—

पायच्छित्तं, विणओ, वेयावच्च, तहेव सज्झाओ ।
झाण च विउस्सग्गो, एसो अब्भितरो तवो ।

—उत्तराध्ययन

(१) **प्रायश्चित्त**—अपने दोपो के लिये तथा किए हुए अपराधो के लिये पश्चात्ताप करना तथा उनकी आलोचना करना ।

(२) **विनय**—गुरुजनो का सम्मान करना ।

(३) **वैयावृत्य**—यथाशक्ति सेवा करना ।

(४) **स्वाध्याय**— धर्म ग्र थो का वाचन तथा मनन करना ।

(५) **ध्यान**—आर्त तथा रौद्र भाव का त्याग करके समाधि सहित धर्म और शुक्ल ध्यान करना ।

(६) **व्युत्सर्ग**— यानि ममत्त्व का त्याग करना । व्युत्सर्ग के मूल भेद दो है—

(१) द्रव्यव्युत्सर्ग और (२) भावव्युत्सर्ग ।

द्रव्यव्युत्सर्ग के चार भेद है—(१) शरीरव्युसर्ग (२) गण व्युत्सर्ग (३) उपाधि-व्युत्सर्ग (४) भक्त पान व्युत्सर्ग ।

भावव्युत्सर्ग के चार भेद है – (१) कपायव्युत्सर्ग (२) ससार व्युत्सर्ग (३) कर्मव्युत्सर्ग और (४) भावव्युत्सर्ग ।

वधुओ ! मैंने वहुत सक्षेप मे आपको वताया है कि जैनधर्म मे तप किसे कहते है । सिर्फ सर्दी गर्मी आदि सहन करते हुए शरीर को कष्ट देना ही तप नही कहलाता । यद्यपि कायक्लेश भी तप मे परिणित है, मगर उसकी सार्थकता इन्द्रिय-दमन मे ही है । जव इन्द्रिया सवल होकर मन को विपयो की ओर प्रेरित करती है, तव काय-क्लेश के द्वारा उनका दमन करके मन को स्थिर रखना होता है । इस प्रकार इन्द्रियो पर तथा मन पर सयम रखना तथा दोपो को दूर करके सद्‌गुणो को विकसित करने का प्रयत्न करना ही सच्चा तप हे । गीता मे भी यही वताया गया—

मन-प्रसादः सौम्यत्वं मौनमात्म-विनिग्रहः ।
भाव-संशुद्धिरित्येतत्तपो मानसमुच्यते ॥

मन से सदा प्रसन्न रहना शात एव मौन रहना, मन को अपने वश मे रखना और अन्त करण को शुद्ध तथा पवित्र रखना यह मानस तप है ।

तप की महिमा अपार है। बिना तप के किसी भी कार्य में सिद्धि नहीं मिल सकती। अभी मैंने बताया था कि तप से मनुष्य की आत्मिक शक्ति के साथ-साथ शारीरिक शक्ति भी बढ़ती है, सहनशक्ति भी बढ़ती है। इसका एक ज्वलंत उदाहरण लीजिए—

मेरे पूज्य गुरुदेव श्री हजारीमलजी म सा ने ब्यावर में कैंसर का खतरनाक ऑपरेशन करवाया। उसके बाद डॉक्टरों ने उन्हें कई दिन तक हिलने डुलने के लिये मना कर दिया जैसा कि अन्य छोटे मोटे ऑपरेशनों मे भी होता है। लेकिन गुरु महाराज कुछ दिन तो क्या कुछ घंटे भी हास्पिटल मे नही रहे और आपरेशन समाप्त होने के बाद ही वहा से अपने स्थानक के लिये पैदल रवाना हो गए। कैंसर के बाद ही कोई व्यक्ति पैरो से चलकर अपने घर आ जाय ऐसा कभी किसी ने सुना ही नही था। सभी दंग रह गए। पर सज्जनो! यह है वास्तविक तप की शक्ति। सच्ची तपस्या जिसने की हो, उसके लिये क्या असम्भव है? महात्मा टालस्टाय ने कितना सुन्दर कहा है—

An hour to suffer a life-time to enjoy

थोडी देर कष्ट सहन के बाद जीवन भर आनन्द मिलता है। महात्मा गाधी ने भी कहा है "तपस्या धर्म का पहला तथा आखिरी कदम है।" तप के द्वारा असभव भी सभव हो जाता है।

तप कर्मों की निर्जरा का सर्वोत्तम साधन है। जैसे अग्नि के द्वारा ईंधन भस्म कर दिया जाता है उसी प्रकार कर्मों का नाश करने के लिये तप किया जाता है। ज्यो-ज्यो तप की अग्नि प्रज्वलित होती है, वैसे वैसे ही हृदय मे उपशम भाव बढता जाता है। अन्त करण निर्मल होता जाता है —

बढता है उपशम भाव चित्त मे जैसे
तप - वह्नि प्रज्वलित होती जैसे-जैसे।

सार यही है कि कर्मों की निर्जरा करने के प्रयोजन से जो तप किया जाता है वह उत्तम होता है। पूजा प्रतिष्ठा प्रसिद्धि तथा कीर्ति की कामना से जो तप किया जाता है उससे आत्म-शुद्धि नही होती।

शास्त्र मे कहा है —

नो इह लोगट्ठयाए तवमहिट्ठिज्जा, नो पर लोग ट्ठयाए तव-महिट्ठिज्जा, नो कित्तिवण्णसद्दसिलोगट्ठयाए तवमहिट्ठिज्जा, नन्नत्थ णिज्जरट्ठियाए तवमहिट्ठिज्जा

—दशवैकालिक ९-४

अर्थात् न इस लोक के सुख-वैभव के लिए तप करे, न परलोक मे ऋद्धि पाने के उद्देश्य से तप करे, न यश कीर्ति के लोभ से तप करे। तप करे केवल कर्मो की निर्जरा के उद्देश्य से।

आगमो मे तप का विशद वर्णन आता है। तप की आग मे तप कर ही आत्मा उज्ज्वल बनती है। सोना जब तक मिट्टी मे मिला हुआ रहता है उसे तेजमपुरी कहते है। अग्नि मे डालकर तपाने से मिट्टी अलग हो जाती है और वह निखर उठता है। उसमे चमक आ जाती है। इसी प्रकार आत्मा मे विषय वासनाओ की, कषायो की मिट्टी मिली रहती है, तप के द्वारा उस मिट्टी को तथा कर्मों को जलाए विना उसमे चमक नही आती उसका शुद्ध स्वरूप प्रकट नही होता।

अभी आप मे मे बहुतो की तपस्या चल रही है। किसी के एक उपवास है, किसी के दो, तीन और पाच भी है। मगर इसके साथ निष्कषाय भाव और अनासक्ति होनी चाहिए। ऐहिक कामना का स्पर्श नही होना चाहिए। ऐसी तपस्या आधि, व्याधि तथा उपाधि तीनो को नष्ट करती है। अगर ये तीनो आत्मा से अलग हो जाएँ तो दु ख का अनुभव ही नही होगा।

बधुओ! बहुत से व्यक्ति कहा करते है और सभव है आप लोगो के मन मे भी यह प्रश्न होगा कि धर्म तो मन की पवित्रता मे है। फिर शरीर को कष्ट क्यो दिया जाय? मै इस शका का समाधान करने का प्रयत्न कर रही हूँ।

आप लोगो मे से अधिकाँश के घरो मे दही मे से मक्खन निकाला जाता होगा? मक्खन दही मे से निकाला जाता है फिर भी उसमे छाछ का कुछ अश विद्यमान रहता है। जब-तक छाछ का अश उसमे रहता है, वह शुद्ध घी नही कहलाता, तो मक्खन को शुद्ध घी बनाने के लिये बहने उसे आग पर रखती है। पर आग पर किस तरह रखती है? क्या मक्खन का गोला बनाकर आग मे फेक देती है? नही, मक्खन का बर्तन आग पर रखती है और तब वह आग उस छाछ को जलाकर मक्खन को शुद्ध घी बना देती है। ठीक इसी प्रकार आत्मा रूपी मक्खन मे जो विषय कषाय व वासना रूपी छाछ रहती है, उसे जलाने के लिए शरीर बर्तन को तप की आग मे तपाया जाता है। तप की वह्नि के द्वारा विकार जलकर नष्ट हो जाते है और आत्मा शुद्ध घी की तरह निर्मल व पवित्र बन जाती है।

अब आप विचार कीजिये कि जब बर्तन को तपाये विना मक्खन मे

मिली छाछ नही जलाई जा सकती, तो फिर शरीर रूपी बर्तन को तपाये बिना आत्मा मे जो वासना रूपी छाछ है, कषाय आदि का मैल है, वह कैसे निकाला जा सकता है ? शरीर ही आत्मशुद्धि का माध्यम है। इसीलिए इसे ज्ञानपूर्वक तप की आग मे तपाना पडता है। इसे तपाना कभी निष्फल नही जा सकता। कहा भी है—

> अज्ञान पणे तप करे सो भी न निष्फल जाय।
> ज्ञान सहित तपस्या करे तो निश्चय शिवपुर जाय॥

कितना महत्व है तपस्या का ! अज्ञानपूर्वक अगर तप किया जाय तो उससे भी देवगति प्राप्त हो जाती है तो फिर ज्ञानपूर्वक किये गये तप का तो पूछना ही क्या ? आत्म-शक्ति के विकास का इसके निर्मलीकरण का तप से बढ कर कोई उपाय नही है।

आज समय अधिक हो चुका है। अगली बार जब हम एकत्र होंगे तब विचार करेंगे कि तप के द्वारा जिन कषायों को हमे नष्ट करना है उनके लक्षण क्या है और वे किस प्रकार आत्मा को कलुषित करते है !

७ मनोव्याधियाँ

मानव को ससार मे समस्त सुख साधन उपलब्ध हो-विपुल ऐश्वर्य, अति-सम्मान, वृहत् परिवार, सुहृद् आदि आदि, किन्तु अगर वह किसी व्याधि से पीडित हो तो क्या वे सब सुख साधन उसे सुख प्रदान कर सकते है ? नही। शरीर सुख के अभाव मे दूसरे कोई भी सुख साधन उसे सुखी नही कर सकते। इसलिये अनुभवी व्यक्तियो ने कहा है 'पहला सुख निरोगी काया'।

रोग दो प्रकार के होते है – शारीरिक तथा मानसिक। 'शरीर व्याधि-मदिरम्'शरीर को रोगो का घर माना जाता है। शरीर को रोग खोखला बना देते हैं तथा मन के रोग मन को निर्बल। उपचार दोनो का ही आवश्यक है। किन्तु मनुष्य शरीर के लिये तो हजारो रुपये खर्च करता है। आवश्यकता हो तो अपना सर्वस्व भी दे देता है किन्तु मन के रोगो को मिटाने के लिये वह इतना तत्पर नही होता।

शरीर के रोगो की गणना कदाचित् की भी जा सकती है। कहते है मनुष्य को साढे पाच करोड रोग घेरते है किन्तु मन के रोगो की गिनती नही की जा सकती। फिर भी मानव उनकी तरफ से उदासीन रहता है। मनुष्य यह नही सोचता कि शरीर के रोग जिस प्रकार शरीर को शक्ति-हीन बना देते है उसी प्रकार मन के रोग भी आत्मा को पतित व दूपित बना कर छोडते है।

आज शरीर के रोगो को मिटाने के लिये जगह-जगह अस्पताल मिलते हैं, जगह-जगह डॉक्टर होते है। जरा भी शरीर मे खराबी आई कि डॉक्टर के पास पहुँच जाते हैं। किन्तु जब मन मे खराबी आती है तो क्या हम किसी मन के डॉक्टर के पास पहुँचते है ? किसी मित्र को अथवा हितैपी को पत्र लिखते है तो उसके शारीरिक स्वास्थ्य के विषय मे पूछते है पर मन की

स्वस्थता के बारे में क्या हम कभी लिखते हैं ? शारीरिक रोग जैसे-जैसे दुनिया में बढ़ते गए हैं वैसे-वैसे ही औषधियों के आविष्कार होते गए हैं। डाक्टरों की संख्या बढ़ती गई है। रोगों के उपचारों के लिये प्रयत्न अथवा सावधानी की जाती है। जितना श्रम शरीर के रोगों को मिटाने के लिये किया जाता है, उसका चौथाई भी अगर मन के रोगों को मिटाने के लिये किया जाता तो आज मानव अनेकानेक दुखों से मुक्त हो गया होता। शरीर के रोगों को मिटाने में मनुष्य अपनी संपूर्णशक्ति व्यय कर देता है, जीवन भी व्यतीत कर देता है। पर जीवन-लीला समाप्त होने पर भी मन के रोग रह जाते हैं और उनके कारण अगले जन्मों में भी वह दुखों को भोगता रहता है। शरीर के रोग मृत्यु के साथ मर जाते हैं पर मन के रोगों के कीटाणु मौत के साथ नष्ट नहीं होते। जीवन को तथा शरीर को नश्वर मानकर भी मनुष्य मृत्यु से शिक्षा नहीं लेता, जोकि कदम-कदम पर मनुष्य को चेतावनी देती रहती है। उच्छ्वासों के बहाने से मृत्यु प्रतिपल मनुष्य के प्राणों को अपनी ओर खींचती रहती है। कहा भी है—"मौत तभी से ताक रही जब जीव जन्म लेता है।"

जिन्दगी कहती है दुनियां से तू अपना दिल लगा।
मौत कहती है कि ऐसी दिल्लगी अच्छी नहीं॥

अर्थात् सदा भोगों में आसक्त रहना तथा लौकिक प्रपंचों में ही ग्रस्त रहना बुद्धिमानी नहीं है। मृत्यु के बाद भी जो मन के रोगों के कीटाणु अपना फल देते हैं उन्हें नष्ट करने का प्रयत्न जीवन रहते ही कर लेना चाहिये। अन्यथा जब कालचक्र मस्तक पर घूमने लगेगा तो पल भर का समय भी तुझे उपचार करने को नहीं मिलेगा। कोटि प्रयत्न करके भी तू बच नहीं सकेगा। भले ही करोड़ों कोठों के अन्दर बैठ जाए, कदम-कदम पर पहरेदार नियुक्त करले, चतुरंगिणी सेना रक्षा के लिये तैनात करले पर फिर भी काल बली तो ले ही जायगा। सब संगी साथी देखते ही रह जायेंगे—

कोटि कोटि कर कोट ओट में उनकी तू छिप जाना।
पद-पद पर प्रहरी नियुक्त करके पहरा बिठलाना।
रक्षण हेतु सदा हो सेना सजी हुई चतुरंगी,
काल - बली ले जायगा देखेंगे साथी संगी।

बंधुओ ! मेरे कथन का आशय यह है कि मृत्यु का ध्यान रखते हुए,

विना एक पल भी व्यर्थ किये मनुष्य को मन के रोगो का निदान तथा उपचार कर लेना चाहिये ।

अब हमारे सामने प्रश्न आता है कि मन के रोगो का निदान कैसे हो ? उनके लक्षण क्या होते है ? वैसे तो मैने अभी बताया है कि मन के असख्य रोग होते है पर उनमे से जो मुख्य होते हैं और सहज ही पकडाई दे जाते हैं, उनके विषय मे आप लोगो को बताने का प्रयत्न करती हूँ ।

मन का सब से पहला और भयकर रोग है अस्थिरता । दूसरे शब्दो मे हम 'चचलता' भी कह सकते हैं । हडबडाहट, घबराहट, अधीरता तथा उतावलापन सब अस्थिरता के ही कारण है । अस्थिरता के कारण मनुष्य उतावली से कभी एक काम करता है और उसे अधूरा छोडकर दूसरा आरभ कर देता है । ऐसी मनोदशा मे कोई भी काम सुधरता नही । राजस्थानी मे एक कहावत है—'उतावलो बावलो' जल्दी का काम पागल का होता है ।

मन की चचलता का कोई ठिकाना नही होता । एक पल मे तो यह देवता बन जाता है और दूसरे पल मे राक्षस । किसी समय तो लाखो रुपये सामने पडे हो तब भी यह उनकी ओर नही झाकता पर किसी समय चन्द चादी के टुकडो पर अपना ईमान बेच देता है । इसीलिये इसको मर्कट अर्थात् बन्दर की उपमा दी गई है ।

कबहुँ को साध होत कब हुँ को चोर होत,
कबहु को राजा होत कबहु को रक सो ।
मन को स्वभाव एसो जैसो एक कपि होत,
कबहु को मधु होत कबहु को डंक सो ।

कभी तो यह साधु बन जाता है कभी चोर, कभी राजा और कभी कगाल, कभी तो शहद सा मीठा बन जाता है और कभी बिच्छू के डक की तरह जहरीला ।

अपनी अस्थिरता के कारण यह नाना प्रकार के कर्मो का बन्ध बडी तीव्रता से कर लेता है । यह इतना प्रबल होता है कि—

"यः सप्तमीं क्षणार्धेन, नयेद्वा मोक्षमेव च ।"

—योगसार

जिस आधे क्षण मे सातवे नरक का बध पड सकता है, उसी आधे क्षण मे कर्मों का सर्वनाश करके मोक्ष की प्राप्ति भी की जा सकती है । श्री शुभचन्द्राचार्य ने कहा है —

"यस्य चित्तं स्थिरीभूतं स हि ध्याता प्रशस्यते ।"

जिसका मन स्थिर होता है, अडोल होता है, वही पुरुष ध्यान कर सकता है और प्रशंसा का पात्र बनता है। चंचल मन से टक्कर लेने में अतीव परिश्रम तथा साहस की आवश्यकता है। एक कवि ने अपनी उड़ान में कहा है—

मनो मधुकरो, मेघो मानिनी मदनो मरुत्,
मा मदो मर्कटो मत्स्यो, मकरा दश चंचलाः ।

अर्थात् मन, मधुकर (भ्रमर) मेघ (बादल) मानिनी (स्त्री) मदन (कामदेव) मरुत् (वायु) मा (लक्ष्मी) मद (अहंकार) मर्कट (बन्दर) मछली ये दश मकार अर्थात् 'म' अक्षर से प्रारंभ होने वाले नाम के पदार्थ चंचल होते हैं।

अगर मन वश में आ जाए तो मनुष्य को संसार की कोई भी शक्ति मुक्त होने से नहीं रोक सकती। 'शंकराचार्य' ने कहा है—"जिसने मन को जीत लिया है उसने जगत् को जीत लिया।" यह सत्य है—'मनो विजेता जगतो विजेता'। और जो मनुष्य मन को न जीत कर स्वयं उसके वश में हो जाता है, वह मानो सारे संसार की अधीनता स्वीकार कर लेता है—

मनो यस्य वशे तस्य, भवेत्सर्वं जगद्वशे ।
मनसस्तु वशे योऽस्ति स सर्व-जगतो वशे ।।

अस्थिरता इतना भयंकर रोग है कि यह मन के द्वारा मनुष्य को, जैसा कि मैंने अभी बताया था, कभी देवता, कभी दानव बना देती है। अगर मनुष्य कभी महान् बनता है तो कभी महा-प्रचण्ड प्रकृति का क्रूर तथा हिंसक भी बन जाता है। आज मानव मानव की सम्पत्ति हड़पना चाहता है, जमीन छीनना चाहता है और इसके लिये न जाने कितने भयंकर व निर्दयतापूर्ण कृत्य करता है। चोरी करता है, डाके डालता है, कत्ल भी करता है। यह सब इस मन की ही बदौलत है। कवि सुन्दरदासजी ने कहा है—इस मन को मैं किसकी उपमा दूं ? किन शब्दों से इसे संबोधन करूँ—

श्वान कहूँ कि शृगाल कहूँ कि बिडाल कहूँ मन की गति तैसी,
ढेड कहूँ किधो डूम कहूँ किधो भाण्ड कहूँ भण्डियावे जैसी ।
चोर कहूँ बटमार कहूँ ठगयार कहूँ उपमा कहूँ कैसी ?
सुन्दर और कहा कहिये अब या मन की गति दीखत जैसी ।

यानी इस मन को कुत्ता, गीदड, भेडिया, भाण्ड, चोर, डाकू लुटेरा क्या

कहूँ। इसका स्वभाव इतना विचित्र है कि कुछ समझ मे ही नही आता। किस प्रकार इसे सम्बोधित किया जाय।

सदाचारी पुरुषो को यही मन दुराचारी बनाकर अध पतन के मार्ग पर खडा कर देता है। इसी रोग का आविर्भाव होने के कारण परम तपस्वी ऋषि विश्वामित्र मेनका अप्सरा के पीछे पागल बन गए। मुनि रथनेमि ने सती राजीमती पर कुदृष्टि डाली। महा-प्रभावी राजा रावण का चित्त चलित हो गया और फलस्वरूप अनेक कष्टो का सामना उन्हे करना पडा। इस मन का तनिक भी भरोसा नही रहता अगर अस्थिरता का महा भयानक रोग इसमे विद्यमान हो। किसी पजाबी कवि ने भी लिखा है —

इस मन दा कुछ इतबार नहीं,
मन हर इक रंग बिच रग जादा।
मन मोडया उलटा मचदा ए,
चढ चढ के सिर दे नचदा ए।
नित झूठी रचना रचदा ए,
जिवें मूढ़ पुरुष पी भग जांदा॥

अर्थात् इस चचल मन का कोई भरोसा नही होता। यह अच्छे बुरे हर रग मे अपने को रग लेता है। जितना इसको मोडने की कोशिश करो उतना ही यह मनुष्य पर हावी हो जाता है। भगेडी व्यक्ति की तरह अनर्गल बाते भी मनुष्य के मु ह से यही निकलवाता है। इस रोग का निदान तथा उपचार मनुष्य के लिये सर्वप्रथम कार्य है।

मन की दूसरी व्याधि है चिन्ता। चिन्ता के कारण मनुष्य के शरीर को मानो घुन लग जाता है और वह भीतर ही भीतर खोखला हो चलता है। किसी सकट की परिस्थिति का सामना होते ही चिन्ता अपना कार्य करने लग जाती है। मनुष्य के हाथ-पैर कापने लगते है, धडकन बढ जाती है, खून सूखने लग जाता है और मनुष्य धीरे धीरे मृत्यु की ओर अग्रसर होने लगता है।

आप सबने सुना ही होगा कि चिन्ता मनुष्य को जिन्दा ही जला देती है। इससे तो चिंता कम भयानक होती है, क्यो कि वह सिर्फ मुर्दे को जलाती है। श्रीपति ने कहा है—

चिन्ता चगुल ही पर्यो, तो न चिता को सक।
यह सोखे बूंदन जियत, मुये जात वा अक॥

चिन्ता के चगुल मे जो फस जाता है उसके सामने चिता का कोई महत्त्व नही रहता। चिन्ता जीवन-पर्यन्त एक-एक बूद खून सुखाकर मनुष्य को खतम करती है। चिता तो सिर्फ प्राण रहित शरीर को ही जलाती है।

चिन्तित व्यक्ति का वल, वुद्धि और ज्ञान सव कुछ नष्ट हो जाता है। वह सदा अशात, चञ्चल तथा भयभीत रहता है। जिसके हृदय मे चिन्ता जड जमा लेती है उसके मन मे एक प्रकार की हीनता की भावना आ जाती है। वह अपने आपको अन्य व्यक्तियो मे हीन व तुच्छ समझने लगता है। उसका साहस जवाव दे जाता है। परिणाम-स्वरूप मुसीवते और अधिक वढ जाती है।

चिन्तातुर व्यक्ति का स्वास्थ्य भी दिन-दिन गिरता जाता है। सतत चिन्तित रहने से गुरदे की ग्रथि से अधिक मात्रा मे द्रव निकलने लगता है और वह रक्त मे मिलकर रक्त को दूपित कर देता है। कालान्तर मे शरीर की कान्ति मद हो जाती है। त्वचा पीली पड जाती है, मस्तिष्क मे पीडा रहने लगती है तथा पाचनशक्ति कम होने पर अनेक रोग खडे हो जाते है।

कभी कभी चिन्ता की तीव्रता के कारण मनुष्य का स्नायु-मडल भी विकार-ग्रस्त हो जाता है और मनुष्य पागल तक हो जाता है। अनेक वार तो हम सुनते है कि किसी का दिवाला निकल जाने पर अथवा मिल आदि मे आग लग जाने पर अमुक व्यक्ति का हार्टफेल हो गया। सट्टा करने वाले व्यक्ति तो चिन्ता के सागर मे डुवकियाँ लगाते ही रहते है। सट्टे का परिणाम निकलने के वाद हानि की सूचना मिलने पर भी चिन्ता के मारे भूख प्यास गायव हो जाती है। उत्साह मरा हुआ सा लगने लगता है और इच्छा शक्ति कमजोर हो जाती है। जिसे अर्थ की कमी होती है, उसकी चिन्तओ का तो पार ही नही रहता। पेट भरने की समस्या, वच्चो के पालन-पोपण तथा उनके अध्ययन की समस्या अगर लडकिया है तो उनके विवाह की समस्या अनेको समस्याए उसके सामने भयकर रूप से खडी रहती है।

यद्यपि चिंता करने से ही किसी समस्या का कोई हल नही निकलता, उलटे उत्साह की कमी हो जाती है तथा स्वास्थ्य मे घुन लग जाता है, लेकिन यह रोग ही ऐसा है कि वडी शीघ्रता से मन को लग जाता है। साथ ही यह एक प्रकार का सक्रामक रोग सावित होता है। क्योकि चिन्ताग्रस्त व्यक्ति अपने आस-पास के वातावरण मे भी चिन्ता फैला देता है। उसके स्वजन परिजन तथा मित्रो को भी चिन्ताग्रस्त व्यक्ति के दुख के कारण कुछ दुख का अनुभव होता है। किन्तु कभी कभी उससे उलटा भी होता है। यानी मित्रो को अथवा अन्य हितैपियो को झुझलाहट भी होने लगती है। मित्र को सदा

चिन्तित देखकर मित्र उसके पास बैठने मे कतराने लगते है। सदैव वचने की कोशिश करते रहते है।

इस प्रकार यह साबित हो जाता है कि चिन्ता मन का एक भयकर रोग है तथा मनुष्य के विनाश का कारण है अत प्रत्येक को सतत इससे वचने की कोशिश करना चाहिए। चिन्ता करने से लाभ तो कुछ भी नही होता सिर्फ हानि ही उठानी पडती है। इसलिये प्रत्येक को तुलसीदासजी की इस उक्ति से शिक्षा लेनी चाहिये —

हानि लाभ जय विजय विधि, ज्ञान दान सम्मान।
खान पान सुचि रुचि अरुचि, तुलसी विदित विधान ॥

मनुष्य को सोचना चाहिए कि सव कुछ कर्म के अनुसार मिलता है, चाहे दुख हो या सुख, इसके लिये चिन्ता के सागर मे गोते लगाना मूर्खता के सिवाय और कुछ भी नही है।

मन का तीसरा और अति भयकर रोग है—'काम'। यह मन का वडा ही जघन्य विकार है। कामी मनुष्य को कभी भी शाति नही मिलती। काम के विकार से मन चचल हो जाता है तथा बुद्धि मलिन हो जाती है। कामी को अनुचित उचित का कुछ ध्यान नही रहता। सदा ही वह आकुल-व्याकुल वना रहता है और अनेकानेक अनर्थ करता है।

काम-वासना के कारण मनुष्य की बुद्धि भ्रष्ट हो जाती है और वह अहर्निशि भोग-विलास के साधनो का चिन्तन करता है। धारणा, ध्यान व समाधि जैसे शुभ भाव उसके हृदय मे नही रह पाते।

कविवर माघ ने कहा है—"दुर्बल चरित्र का व्यक्ति उस सरकडे की भाति है जो हवा के हर झोके से झुक जाता है।"

जिस मनुष्य का चरित्र उन्नत नही होता उसका जीवन व्यर्थ होता है। वह जीवित भी मृतक के समान ही है। जिस प्रकार तेल के बिना दीपक का, जल के बिना तालाव का, प्रकाश के विना सूर्य का तथा सुगध के बिना पुष्प का कोई महत्व नही होता उसी तरह चरित्र से रहित व्यक्ति का भी कोई मूल्य अथवा महत्त्व नही होता। उत्तम चरित्र एक दिव्य और महानतम शक्ति होती है। 'चर' धातु का अर्थ है गति या आचरण। अत चरित्र का अर्थ आचरण करना है। 'चरित्र' इस छोटे से शब्द मे विश्व के सभी शुभ गुण समा जाते है। सत्य, दया, अहिंसा, निष्कपटता, ब्रह्मचर्य,

सदाचार, निर्भयता, संतोष, दान तथा तप आदि समस्त उत्तम गुणों चरित्र को बनाते हैं। 'यजुर्वेद' में कहा गया है—'व्रतं कृणुत' अर्थात् मानव ! अपने जीवन का निर्माण करो अपने चरित्र को उत्तम बनाओ।

सच्चरित्र मनुष्य मर जाता है किन्तु उसके चरित्र की महक नहीं मरती। सदा-सदा के लिये उसका चरित्र औरों को प्रेरणा देता रहता है। सच्चरित्र व्यक्ति सभी के आकर्षण का केन्द्र बना रहता है। सभी उससे बात करने के उसके पास बैठने के तथा उससे मित्रता करने के इच्छुक रहते हैं।

इसके विपरीत, दुराचारी का कोई सम्मान नहीं करता। सभी उसे संशय की निगाहों से देखते हैं। वह सभी जगह तिरस्कृत होता है। वासनाओं का दास मोह तथा माया का शिकार बन जाता है। वासना रूपी नशे में पथ-भ्रष्ट हो जाता है। नाना प्रकार की वासनाओं के जाल में उलझ कर जन्म-जन्मांतरों तक दुख भोगता है। वासनाओं की तृप्ति में ही वह सुख का अनुभव करता है, जबकि सच्चा सुख आत्मा में होता है। पुरुष नारी को सुख रूप देखता है तथा नारी पुरुष को। वस्तुत: सुख है कहां ? क्या शक्कर मिठास के लिये कभी किसी अन्य पदार्थ की अपेक्षा करती है ? नहीं। इसी प्रकार सुख-स्वरूप आत्मा को आनंद की प्राप्ति के लिए बाह्य वस्तु की आवश्यकता नहीं है। फिर भी वह आत्म-विमुख होकर बाह्य वस्तुओं की अपेक्षा करता है। जैसे सूअर चावल के पात्र को छोड़ कर विष्ठा के पात्र में मुंह डालता है। उत्तराध्ययन सूत्र में यही बताया है—

कण-कुंडगं चइत्ता ण, विट्ठं भुंजइ सूयरो।
एवं सीलं चइत्ता ण, दुस्सीले रमइ मिए ॥

सूअर जिस प्रकार चावल को छोड़ कर मैला ग्रहण करता है उसी प्रकार अज्ञानी व्यक्ति भी सदाचार को छोड़कर दुराचार में प्रवृत्त हो जाता है।

काम भोगों से कभी तृप्ति नहीं होती। भोगैषणा अमर और अनन्त होती है। ज्यों-ज्यों प्राणी भोगों का भोग करता है, तृष्णा और आकुलता उतनी ही अधिक बढ़ती जाती है। इस चाह को शान्त करने के लिये तीनों लोक की संपत्ति भी पर्याप्त नहीं है "भोगन की अभिलाष हरन को त्रिजग सम्पदा थोरी" इसीलिये किसी कवि ने अपने मन को सीख दी है—

मानलै या सिख मोरी, झुकै मत भोगन की ओरी।
भोग भुजंग-भोग सम जानो, जिन इनसे रति जोरी।
जे अनन्त भव-भूमि भरे दुख परे अधोगति पोरी।
बधे दृढ पातक डोरी।
मानले या सिख मोरी।

अर्थात् रे मन! मेरी तू एक सीख मान। तू भोगो की ओर कभी प्रवृत्ति मत कर। ये पचेन्द्रिय सवन्धी भोग साप के शरीर की तरह सुन्दर, स्निग्ध तथा प्रिय मालूम देते है। परन्तु स्पर्श करते ही वे डस लेते है और प्राणान्त कर डालते है। जो व्यक्ति इन भोगो से स्नेह-बन्धन जोडते हैं वे अनन्त दुखो से भरे हुए ससार की अधोगति रूपी पौर मे डेरा डालते है ओर पापो की डोरी मे ऐसे वध जाते है कि अनन्त काल तक छूटना मुश्किल हो जाता है।

वधुओ! मानव-जीवन तो नियन्त्रित होना चाहिये। अनियत्रित जीवन मे स्वाभाविक शक्तियो की प्रतिष्ठा नही हो सकती। काम-भोग मनुष्य को पतन के रास्ते पर धकेलते जाते है। अमेरिकन ऋषि 'थोरो' ने कहा है कि "ब्रह्मचर्य जीवन वृक्ष का पुष्प है और प्रतिभा पवित्रता तथा वीरता आदि उसके कतिपय फल है।" वेदव्यासजी ने भी कहा है—"अमृत ब्रह्मचर्यम्'। जैन शास्त्र कहता है—

देव दाणव गंधव्वा जक्ख रक्खस, किन्नरा।
बम्भयारिं नमसंति दुक्कर जे करंति ते।

—उत्तराध्ययन

अर्थात् देव, दानव, गधर्व, यक्ष, राक्षस तथा किन्नर आदि सभी ब्रह्मचारी को नमस्कार करते है।

सयम मे स्वास्थ्य रहता है तथा स्वास्थ्य मे जीवन। शारीरिक, मानसिक तथा आध्यात्मिक स्वस्थता प्राप्त करने के लिये काम विकार रूपी रोग को मिटाना परम आवश्यक है। अन्यथा मनुष्य इस लोक मे तो शरीर का नाश कर ही लेता है, पाप कर्मो का वन्धन करके अपने अगले भव भी दुख-पूर्ण वना लेता हे। मन के इस भयकर रोग का वडी सावधानी से उपचार करना चाहिये।

मन का चौथा रोग 'मूढता' है। मूढता अर्थात् मोहग्रस्तता। ऐसे मन रोगी के हृदय मे कभी ज्ञान का प्रकाश नही होता। उसकी रुचि किसी भी शुभ क्रिया को करने मे नही होती। सदा उसके मन मे जडता बनी रहती है।

मोही जीव साधना के योग्य नहीं होता। परिग्रह चाहे बाह्य हो अथवा आन्तरिक, उसके प्रति आसक्ति रखने वाला व्यक्ति कभी भी सुख की प्राप्ति नहीं कर सकता। संसार के समस्त पौद्गलिक पदार्थ मूर्तिक होते है। उनके प्रति मोह रखने वाला अशरीरी से (सिद्धो से) नाता कैसे जोड़ सकता है? दो घोड़ो की सवारी एक साथ नहीं की जा सकती।

मोहग्रस्त व्यक्ति की स्थिति बालक के सदृश होती है। किसी बच्चे के एक हाथ मे चिन्तामणि रत्न दे दिया जाय और दूसरे मे कांच की गोली। बच्चा दोनो को समान समझता है, कोई भेद उनमे नहीं कर पाता। इसी तरह मूढ व्यक्ति भी उचित तथा अनुचित मे भेद नहीं कर पाता। कौन सी क्रिया शुभ फल देगी और कौन सी अशुभ, इसको वह समझ नहीं पाता और बिना इसकी जानकारी किये अशुभ क्रियाओ मे प्रवृत्त रहकर नाना प्रकार की कठिनाइयो मे पड जाता है। तुलसीदास जी मन की मूढता का तिरस्कार करते हुए कहते है—

ऐसी मूढता या मन की।
परिहरि राम भगति सुरसरिता आस करत ओसकन की॥
ज्यो गच-कांच विलोकि सेन जड़, छांह आपने तन की॥
टूटत अति, आतुर अहार बस, छति बिसार आनन की।
कहँ लो कहौं कुचाल कृपानिधि जानत हो गति जन की।
तुलसीदास प्रभु हरहु दुसह दुख रखहु लाज निज पन की॥
ऐसी मूढता या मन की।

अर्थात् हे प्रभो! इस मन की मूढता के बारे मे क्या कहूं? जिस तरह बाज काच के टुकडे मे अपने शरीर का प्रतिबिम्ब देखकर उसे ही खा जाने के लिये टूट पडता है, उस जड़ कॉच पर मुंह की क्षति का भी ध्यान नही रखता, उसी प्रकार यह मन राम-भक्ति रूपी सुर सरिता को त्याग कर ओस के कणो से अपनी तृप्ति करना चाहता है और सदा पिपासा की पीड़ा का अनुभव करता रहता है।

कहाँ तक इस मन की दुर्बुद्धि का मैं बखान करू? आप तो इस मूढ मन की गति जानते ही हैं। फिर भी मेरी लाज रखने के लिये कृपा करके मेरे दुखो को दूर करे।

मूढ व्यक्ति मे प्रमाद की मात्रा भी अधिक होती है। उसका अधिक समय किंकर्तव्यविमूढता मे ही चला जाता है। प्रमाद वह राज-रोग है

जिसका रोगी कभी नही सभल पाता। कार्लाइल ने कहा है कि दुनिया मे प्रमाद जैसा कोई भयकर पाप नही है आलस्य मे निराशा रहती है—

'In idleness alone there is perpetual despair"

तात्पर्य यही है भाइयो! कि मूढता मन का बडा ही भयानक रोग है। इसके कारण मन मे हमेशा अधकार बना रहता है। कभी उत्साह का दीपक नही जलता। मनुष्य एक तरह की तन्द्रा मे पडा रहता है जिसमे न तो जागने का लक्षण होता है और न ही निद्रा का। अकर्मण्यता रूपी जडता उसे घेरे रहती है।

मन का पाचवा रोग है 'आत्महीनता'। आत्म-हीनता के कारण मनुष्य को सही मार्ग दिखाई देने पर भी वह अपने को उस मार्ग पर चलने योग्य नही समझता। जिस व्यक्ति मे आत्म-हीनता होती है वह स्वय को तुच्छ समझता है। प्राय लोगो के मन मे इस तरह की भावना स्थान कर लेती है कि हम तुच्छ है, दूसरे हमसे प्रत्येक बात मे श्रेष्ठ है। हममे अनेक बुराइया है और दूसरे निर्दोष है। हमसे गलती होती है, औरो से नही होती।

आत्म-क्षुद्रता जिनमे होती है उन्हे सदा ऐसी शका भी बनी रहती हे कि सारा विश्व उनकी निन्दा कर रहा है। सारा विश्व उनके विरुद्ध षडयन्त्र कर रहा हे। उससे बचने के लिए मुह छिपाए बैठे रहते है या बनावटी साहस दिखाने का प्रयत्न करते है।

इस रोग के रोगी किसी भी क्षेत्र मे विकास नही कर पाते। कभी किसी प्रेरणा से उनमे कुछ उत्साह आया भी तो अपने समवयस्को को अथवा कनिष्ठो देखकर पुन निराश हो जाते है। उनके जीवन मे नीरसता तथा निष्क्रियता समाई रहती है। वे भूल जाते है—

"Self trust is the first secret of suceess and self trust is the essence of heroism"

—एमर्सन

अर्थात् आत्मविश्वास सफलता का मुख्य रहस्य है तथा आत्मविश्वास ही पराक्रम का सार है।

आत्म हीनता एक तरह की मृत्यु ही है। मृत्यु दुखदायी मानी जाती है, परन्तु वह जीवन मे एक बार ही दुख देती है, लेकिन आत्म-हीनता ऐसी मृत्यु है जो पल-पल पर आती है और तिल-तिल करके आन्तरिक शान्ति को जलाती रहती है।

आत्म-हीनता कार्य के लिये कुठार सदृश होती है। बिना साहस के कार्य करना जेल की सजा भुगतने के जैसा होता है। इस अवस्था में कार्य बोझ बन जाता है। उसे करने में आनन्द नहीं आता। फलस्वरूप कार्य करने में सफलता नहीं मिलती, निराशा ही हाथ आती है। निराशा आत्म-हीनता की घोषणा है तथा आशा आत्मा का पख। निराश व्यक्ति को इस भव-सागर में अपनी जीवन-नौका सदा डोलती तथा डूबती ही दिखाई देती है। जरा-सा सकट आते ही उसका हृदय कांपने लग जाता है। इसके विपरीत जो साहसी होते है, जिनमें आत्म-विश्वास होता है वे कठिनाइयों से घबराते नहीं, उलटा यह सोचते हैं :—

तरंगें भले ही गगन चूमलें और,
सौ सौ भंवर राह रोकें हमारी।
क्षितिज से हवाएँ चलें और तूफान,
बन कर गिरें इस तरी पर हमारी।
कभी भी न पतवार ढीली पड़ेगी,
तरी तो हमारी किनारे लगेगी।

अर्थात् भले ही इस ससार सागर में तूफान आते रहे, तूफानों से उठती हुई भयानक लहरों के थपेडे मेरी जीवन-नौका को डगमगाते रहे, भले ही लहरों की तीव्रता से बनते हुए सैकडों भवर मेरी किश्ती को अतल में डुबो देना चाहे, पर फिर भी मेरे हाथों से पतवार छूटेगी नहीं, न ही उसे खेने की शक्ति ही कम होगी। मेरी नौका इस भवसागर को पार करके मुक्ति रूपी किनारे तक अवश्य पहुँचेगी।

सज्जनो! आत्म-विश्वास ही मनुष्य को महान् बनाता है। इतना ही नहीं, वह नर को नारायण भी बना सकता है। इसके विपरीत आत्म-हीनता मानव को कायर तथा डरपोक बना देती है।

दुर्बल वह नहीं होता जो शरीर से दुर्बल होता है। वरन वह होता है जो अपने आपको दुर्बल समझता है। मन जब आत्म-हीनता के कारण दुर्बल हो जाता है तो मनुष्य को कठिनाइयों की कल्पना से भी भय लगता है। दूसरों के उपहास अथवा निन्दा के डर से वे दूसरों से अधिक मिलते जुलते नहीं, एकान्त में अधिक रहते हैं। पर एकान्त में भी भय का भूत उनका पीछा नहीं छोड़ता। एक प्रकार का आतक उन्हें सताता रहता है। उसे अंग्रेजी में 'मोनोफेबिया' कहते है।

उदाहरणार्थ, फ्रास का प्रसिद्ध नाट्यकार मोलियर रोग की कल्पना मात्र से ही घबराता रहता था और स्वस्थ रहने पर भी अपने को किसी न किसी रोग का रोगी मानता था। विश्व-विख्यात कहानी लेखक मोमासा प्राय अपनी बैठक मे अपने सामने कुर्सी पर प्रेत बैठा हुआ देखकर डरता रहा था।

वधुओ! साराश यही है कि आत्म-हीनता मनुष्य को महा निर्बल तथा कायर बना देती है। ऐसा व्यक्ति कभी भी कार्य मे सफलता नही पाता। उसका कभी भी विकास नही होता। यह रोग मनुष्य-पर्याय को व्यर्थ बना देता है। इसका लाभ नही उठाने देता अतएव इससे बचो और निश्चय समझो कि तुम्हारे भीतर अनन्त और असीम दिव्य शक्ति का स्रोत अजस्र प्रवाहित हो रहा है। जो शक्ति तीर्थंकरो मे थी वही तुम्हारे अन्दर विद्यमान है। मेरी शक्ति अपराजेय है।

अच्छा! अव आज समय हो चुका है। आप लोगो ने मन के कुछ मुख्य रोगो के विषय मे जान भी लिया है। अगली वार हम विचार करेंगे कि इन रोगो का किस तरह उपचार किया जा सकता है और किस तरह मन को स्वस्थ रखा जा सकता है।

* *

मनोव्याधियों के उपचार | ८

बंधुओ ! पिछली बार मैंने आप लोगो को मन की व्याधियो के विषय मे बताया था । आज मैं मन की उन भयकर व्याधियो के उपचार के विषय मे बताने का प्रयत्न करूगी ।

रोग शारीरिक अथवा मानसिक, कोई भी हो और कितना ही भयानक हो, आज की दुनिया मे प्राय सब का उपचार सभव है। मनुष्य को कभी भी यह सोचकर निराश नही होना चाहिये कि हम स्वस्थ नही हो सकते । शारीरिक व्याधियो के लिये तो आज देश मे दवाखानो के जाल बिछे हुए हैं। अगणित डॉक्टर तथा वैद्य मनुष्यो को शरीर की व्याधियो से छुटकारा दिलाने का प्रयत्न करते रहते है। प्रतिदिन नई-नई औषधियो का आविष्कार होता है और तपेदिक तथा कैंसर जैसे राजरोग भी ठीक होते हुए देखे जाते हैं।

दूसरे है मानसिक रोग, जिनके विषय मे हमने कल विचार किया है। मानसिक रोग भी दो प्रकार के है—बाहरी अर्थात् शारीरिक त्रुटि से होने वाले और भीतरी अर्थात् चेतना मे सम्बन्ध रखने वाले। बाह्य मानसिक रोगो के लिये भी आज कुछ मुख्य-मुख्य स्थानो पर अस्पताल पाए जाते हैं और मनोविज्ञान के ज्ञाता मनोवैज्ञानिक, मनुष्यो के मन का इलाज करने का प्रयत्न करते है। पर आप लोगो को यह जानना चाहिये कि शरीर की व्याधियाँ दवा देने पर ठीक होने लग जाती हैं तथा शनै-शनै, दवा का उपयोग करते रहने पर मिट जाती हैं। किन्तु मन के रोग ऐसे होते है जो शीघ्र दूर नही होते ।

शरीर के रोगों के लिये जो औषधि दी जाती है शरीर उसे वैसी ही ग्रहण कर लेता है। क्योकि उसमे यह शक्ति नही है कि वह औषधि के प्रभाव को कम अथवा अधिक माने और या कि उसे मानने से, और ग्रहण करने से इनकार कर दे। किन्तु मन मे इतनी जबर्दस्त शक्ति है कि वह इच्छा होने पर ही उपचार को मानता है। इच्छा न होने पर किसी औषधि को ग्रहण नही करता। अनेक बार तो यह देखा जाता है कि मन का रोगी एक बार स्वस्थ हो जाने पर भी दुबारा, तिबारा और बार बार उसी रोग से आक्रान्त होता रहता है। क्योकि उसका अपने मन पर वश नही रहता। इसलिये मन के रोगो का उपचार करने मे अत्यन्त सावधानी तथा अभ्यास करने का प्रयत्न आवश्यक है। प्रथम तो सावधानी पूर्वक इलाज करवाना और उसके पश्चात् उस रोग के पुन आक्रमण से बचते रहने का निरंतर अभ्यास रखना मानसिक स्वस्थता के लिये अनिवार्य है।

मन को स्वस्थ रखने का तथा अनेक रोगो से मुक्त होने का प्रथम उपचार है मन को खाली न रखना तथा उसे किसी न किसी शुभ क्रिया अथवा श्रेष्ठ विचार मे लगाए रखना। अंग्रेजी मे कहा है —

'Mind unemployed is mind unenjoyed"

अर्थात् क्रिया-हीन मन आनन्द-प्रद नही बन सकता। जैसे कि शरीर वही शक्तिशाली तथा सुडौल बन सकता है जो व्यायाम करता रहे। अगर वह निकम्मा रहे तो रोगी तथा कुरूप हो जाता है।

साधारणत मन का स्वभाव ही ऐसा है कि वह कुछ न कुछ चिन्तन करता रहता है। वैसे उच्च कोटि की साधना के द्वारा उसे निष्क्रिय बनाया जाता है किन्तु यह सर्व साधारण के लिये संभव नही है। साधारण व्यक्ति ऐसा नही कर सकते अत यह आवश्यक है कि उसे शुभ व्यापार मे लगाए रखा जाए, अन्यथा वह अनिष्ट चिन्तन करने लगता है। जुगनू जब तक उडता रहता है, तब तक वह प्रकाश युक्त रहता है किन्तु उडने की क्रिया छोडते ही प्रकाश रहित तथा अन्धकारमय बन जाता है। इसी तरह मन भी जब खाली रहता है तब उससे पाप रूपी अंधकार भाव प्रवेश कर जाते हैं।

एक बार मैंने बताया था कि मानव मन काली मिट्टी की भूमि के सदृश होता है। अगर इसमे धर्म के बीज डाले जायँ तो वे लहलहाती फसल बन जाते हैं, उसे यो ही छोड दिया जाय तो कुभावनाओ के तथा कुवासनाओ

के झाड-झंखाड पैदा हो जाते हैं तथा वह नि सत्त्व और निष्क्रिय बन जाता है किसी ने कहा भी है —

"Strength of mind is exercise and not rest"

अर्थात् मन की शक्ति उसे काम मे लगाये रहने मे है, उसे क्रिया-हीन बनाने मे नही। क्रियायुक्त मन अपना कल्याण करता है तथा औरो के लिये भी श्रेयस्कर होता है। इसके विपरीत क्रिया रहित मन अपना तथा दूसरो का भी अनिष्ट करता है। अंग्रेजी की एक लोकोक्ति है —

"A vacant mind is a devil's factory."

क्रियाहीन मन शैतान का कारखाना होता है, जहाँ विश्व भर के दुर्गुणो का निर्माण होता है। क्रियाहीनता पाप की जननी है।

मैंने अभी कहा कि मन को किसी न किसी कार्य मे व्यस्त रखना चाहिये पर वह कार्य चित्त मे विक्षेप उत्पन्न करने वाला अथवा अहित-कर न हो, इसका ध्यान रखना जरूरी है। ससार मे सबसे अधिक सुखदायी पवित्र तथा भद्र विचार होते है। इनके कारण मनुष्य अत्यन्त सतुष्ट तथा प्रसन्न-चित्त रहता है।

किसी व्यक्ति के पास अतुल वैभव हो तथा समस्त सांसारिक सुख हो, किन्तु उसका मन कुविचारो से भरा हो तो वह कदापि सुखी नही बन सकता। क्योकि लोभ-युक्त मन को हिमालय जितना भी स्वर्ण प्राप्त हो जाय तो भी वह सतुष्ट नही होगा। अत. मानव को कुविचारो को निकालकर उसके स्थान मे पवित्र विचार भरने होगे। जिस प्रकार ककरो से भरे हुए बर्तन मे जवाहरात नही भरे जा सकते उसी प्रकार दुर्गुणो तथा विषय-विकारो से युक्त मन मे शुभ विचार नही समा सकते।

आप जानते ही होगे कि एक कुविचार दूसरे कुविचार को जन्म देता है। शराब पीने वाला व्यक्ति चोरी करने लगता है, जुआ खेलने लगता है तथा व्यभिचारी भी बन जाता है। इसी तरह एक बूरा विचार दूसरे बुरे विचारो का जन्मदाता बन जाता है तथा धीरे धीरे सम्पूर्ण मन दुर्गुणो की खान बन कर रह जाता है। इसके विपरीत, जो व्यक्ति अपने मन मे शुभ सकल्पो का बीजारोपण करते है उनका मन धीरे धीरे निष्पाप तथा पवित्र बन जाता है।

यहूदियो मे कहा जाता है "जो पुरुष अपने पुत्र को किसी शुभ कार्य मे नही लगाएगा वह उसे चोर डाकू अथवा लम्पट बना देगा"। मिश्र देश मे

तो राजा की ओर से यह मुनादी करवा दी जाती थी कि 'प्रत्येक मनुष्य प्रतिवर्ष पूरी सूचना राजा को दे कि वह अपना समय किस तरह व्यतीत करता है ।' जिसकी सूचना सतोषप्रद नही होती थी उसे तथा सूचना न देने वाले को भी मृत्यु-दड दे दिया जाता था ।

मन मे आने वाले विचारो का प्रभाव जीवन पर पडता है । वल्कि यो कहना चाहिये कि विचार ही जीवन का निर्माण करते है । अव आप विचार कीजिए कि मन मे अगर कुविचार आएँगे तो जीवन कैसा वनेगा ? और मन को अगर खाली रखा तो उसमे ऊटपटाग विचार आना स्वाभाविक ही है । फिर मन का नीरोग रहना कैसे संभव है ? स्वेट मार्डेन ने कहा है—"मन ही अपने लिये जीवन का रास्ता वनाता है और मृत्यु का रास्ता भी मन ही मे तैयार होता है । विचार उस रास्ते की सीमा निर्धारित कर देते है ।" सूक्तिमुक्तावली मे कहा गया है—

"यदि हृदयमशुद्धं सर्वमेतन्न किञ्चित् ।"

अर्थात् अगर हृदय मलिन है तो जप, तप, यम नियम आदि सव निरर्थक हैं । इनका करना न करना समान है । मन मे अशाति और दोलायमानता होने पर सपूर्ण ससार विप के समान प्रतीत होने लगता है तथा मन के स्वस्थ तथा शात होने पर ससार ऐसा मालूम देता है जैसे अमृत से सीचा गया हो—

'दु स्थे विषमयं जगत्, सुस्थे हृदि सुधासिक्तम् ।"

—नलविलास

तो भाइयो ! अगर आपको अपना मन निरोग रखना है तो उसे खाली न रखकर श्रेष्ठ विचारो से परिपूर्ण रखिये । अपने मन को अन्दर से भी पवित्र तथा वाह्य क्रियाओ से भी पवित्र रखिये । अगर अन्दर कुवासनाएँ तथा दुर्भावनाएँ रहेगी तो ऊपरी दिखावा आपके आत्मा को कभी भी उन्नत नही वनाएगा । उलटे पतित वना देगा और आपका मन विप से भरे हुए कनक-घट की तरह न स्वय आपके तथा न दूसरो के ही काम का रहेगा । एक उर्दू कवि ने कहा है—

दिल को दिल से पाक रख, काम दिखावे का न कर,
जो से अगर खुदा नहीं, तो मुँह से खुदा खुदा न कर ।

वास्तव मे बाहरी चिह्न कुछ भी अर्थ नही रखते, अगर मन शाँत तथा पवित्र नही है । मृग अपनी नाभि मे कस्तूरी होते हुए भी बाहर उसे खोजता

फिरता है, उसी तरह मन मे विकार-विप रहते हुए ऊपरी क्रियाओ से कल्याण की कामना करना मूर्खता के सिवाय कुछ नही है।

मन को नीरोग तथा पूर्ण स्वस्थ रखने के लिये दूसरा महत्त्वपूर्ण तथा अनिवार्य उपचार है कुसंग का त्याग। सज्जनो का सहवास तथा सदुपदेशो का श्रवण मन को निर्मल व पवित्र बनाता है। मनुष्य जिसके साथ रहेगा, वार्तालाप करेगा, विचारो का आदान-प्रदान करेगा, उसके जैसा ही अवश्य वनेगा। सगति जैसी भी होगी वैसा ही प्रभाव डालेगी। ईसाइयो के धर्म ग्रथ इजील मे लिखा है—

"He that walked with wise man shell be wise but a companion of fools shall be destroyed,"

अर्थात् जो बुद्धिमानो के साथ चलेगा वह बुद्धिमान् वन जाएगा, जो मूर्खों की सगति करेगा 'वह नाश को प्राप्त होगा। एक कवि ने भी कहा है—

ज्ञान बढ़े गुणवान की संगत, ध्यान बढ़े तपसी संग कीने।
मोह बढ़े परिवार की सगत, लोभ बढे धन मे चित दीने॥
क्रोध बढे नर मूढ़ की संगत, काम बढ़े तिया के संग कीने।
बुद्धि विचार विवेक बढ़े कवि 'दीन' सुसज्जन के संग कीने॥

इसके विपरीत दुर्जनो की सगति पर क्या होता है, इसके लिये भी किसी कवि ने कहा है—

यदि सत्संग-निरतो भविष्यसि, भविष्यसि।
अथ दुर्जन - संसर्गे पतिष्यसि, पतिष्यसि।

अर्थात् यदि सत्सग मे जाओगे तो वन जाओगे किन्तु यदि कुसग मे गिर जाओगे तो गिरते ही जाओगे। नीच पुरुषो की सगति मिले तो स्वर्ग की भी वाछा नही करनी चाहिये। कुसग से धर्म, अर्थ, काम, तथा मोक्ष सभी की साधना मटियामेट हो जाती है। कुमित्रो से मित्र रहित रहना करोड गुना श्रेष्ठ है। महाभारत के शातिपर्व मे लिखा है कि वस्त्र को जिस रग मे डालोगे वह वैसा ही हो जाएगा। इसी प्रकार मनुष्य सत, असत तपस्वी अथवा चोर जिसका सग करेगा वैसा ही वन जाएगा।

वडे सुन्दर ढग से कवि बिहारीलालजी ने कहा है :—

बैठिये न जहां तहां, कीजिये न सग बुरे
कायर के सग सूर भागे पर भागे हैं।

काजल की कोटड़ी मे कैसे ही जतन करे,
काजल की एक रेख लागे पर लागे है।
वागन में जाय तो, फूलन की बास मिले।
कामिनी के संग काम जागे पर जागे है।
कहत बिहारीलाल भूल नहीं जाना कभू।
सगत का फल भला बुरा लागे पर लागे है।

कुसग विश्व के समस्त प्रकार के विपो से भी महा भयानक विप है। विप तो एक बार ही मनुष्य के प्राण ले लेता है पर कुसगति मे पडा हुआ मनुष्य अनेकानेक वार निन्दा तिरस्कार तथा अपमान रूपी विप के घूट पीता है। कुसग करने पर मनुष्य कभी भी सुख प्राप्त नही कर सकता। कोई भी व्यक्ति उसे आदर नही देता। कोई भी उसे श्रेष्ठ नही मानता, वल्कि जैसे की सगति होती हे वैसा ही वह जाना जाता है। विद्वान गेटे ने कहा है "मुझे आपके सगी-साथी वताइये फिर मै वता दूगा कि आप कौन हैं ?" कुसग करके कुशलता की कामना करना व्यर्थ है। कविवर रहीम कह गए हैं—

वसि कुसग चाहत कुशल यह रहीम अफसोस।
महिमा घटी समुद्र की, रावन बसा परोस।

वधुओ! बुरे साथी शैतान के प्रतिनिधि होते है। इन दूतो के द्वारा शैतान ऐसा अनिष्ट करता है जो वह स्वय नही कर सकता —

"Evil companions are devil's agents and by these ambassadars he effects more then he could in his own person"

इसलिये बुद्धिमान् व्यक्ति कहते है कि दुर्जनो मे सदा दूर रहना चाहिये।

हाथी हाथ हजार तज घोड़ा से शत भाग।
शृगी पशु दस हाथ तज, दुर्जन ग्रामहि त्याग॥

यानी उन्मत्त हाथी आ रहा हो तो उससे हजार हाथ दूर रहना चाहिये। वेलगाम घोडा भागा आता हो तो उससे सौ हाथ, सीग वाले पशुओ से दस हाथ किन्तु नीच पुरुप तो जिस गाव मे निवास करता हो उस गाव को ही त्याग देना चाहिये। मनुष्य कोई भी बुरा नही होता, उसकी सौवत ही उसे अच्छा बुरा वना देती है —

इनसा भला है जो इसे सुहवत भली मिली।
लेकिन यही बुरा है जो सुहबत बुरी मिली।

वह पुरुष बडा भाग्यवान् होता है जिसे अच्छी सगति मिल जाती है। अच्छी सगति मिलने पर नीच व्यक्ति भी महान् बन जाता है। अर्जुनमाली प्रतिदिन छह पुरुषो तथा एक स्त्री का घात करता था। आज एक चीटी का भी हमारे द्वारा घात हो जाता है तो हमारा मन बडा व्यथित होता है और हम अपने को पाप का भागी मानते है। फिर अर्जुनमाली के रोज सात प्राणियो का घात करने पर कितना पाप होता होगा ? क्या उसके पाप की कुछ सीमा हो सकती थी ? ऐसा वह निर्दय, क्रूर व हिंसक मनुष्य भी भगवान महावीर के समागम से साधु बन गया, यह है सत्सगति का प्रभाव।

जैसे रोगी को डॉक्टर की सलाह लेनी पडती है, कानून जानने के लिये वकील के पास जाना पडता है तथा ज्ञान-प्राप्ति के लिये शिक्षक के पास जाना होता है, इसी प्रकार जीवन सुधारने के लिये सतो का समागम करना पडता हैं। सत हमारे जीवन को बनाने वाले होते हैं, ठीक उसी तरह जिस तरह कुम्हार मिट्टी को घडे की सुन्दर आकृति मे बदल देता है तथा फिर उसे आच मे तपाकर और भी मजबूत बनाता है।

धर्मस्थानको मे जब आप समय-समय पर आते है तब आपको महसूस होता होगा कि यहा आते ही आपके हृदयगत भावो मे परिवर्तन आ जाता है। आपके हृदय मे पवित्र विचार आने लगते है। मन सासारिक वस्तुओ से कुछ समय के लिये उदासीन हो जाता है और आप पापो से बचने के लिये मन मे इच्छाऐ करने लगते है। यद्यपि यहा से लौट जाने पर वैसे विचार आपके हृदय मे नही रहते, फिर भी कुछ न कुछ असर तो उनका मन पर रहता ही है। और धीरे धीरे थोडा थोडा असर भी एक दिन बहुत हो जाता है और जीवन मे कल्याणकारी परिवर्तन आ जाता है। किसी ने कहा है —

> करत करत अभ्यास के जडमति होत सुजान।
> रसरी आवत जात तें सिल पर परत निशान॥

सत्सगति से क्या नही हो सकता ! पतित से पतित भी सत्सगति से उन्नत बन जाता है।

श्रावस्ती के जगल मे अगुलिमाल नाम का लुटेरा रहता था। अपने नाम के अनुसार वह लोगो को लूट लूट कर उनकी अगुलियाँ काट लेता, और उनकी माला बनाकर पहन लिया करता था। सारी श्रावस्ती की प्रजा उससे आतकित थी। महात्मा बुद्ध ने जब यह सुना तो वे उस जगल

मे जाने के लिये रवाना हो गये। लोगो ने उन्हे बहुत मना किया पर वे माने नही। अगुलिमाल ने दूर से ही बुद्ध को आते हुए देखा तो ललकार कर बोला 'ठहर जाओ !' आगे मत बढो, वही खडे रहो ।

बुद्ध ने चलते चलते ही कहा—'भाई, मैं तो खडा ही हूँ, लेकिन तुम खडे हो जाओ।' बुद्ध का उत्तर सुन कर अगुलिमाल उलझन मे पड गया। बोला—ऐसा तुम कैसे कह रहे हो ? 'नही देखते मै तो खडा हूँ।' तब बुद्ध ने उसे शिक्षा देते हुए कहा—'बन्धु ! मैं प्रेम तथा मित्रता मे स्थिर हूँ लेकिन तुम अभी अस्थिर हो अत स्थिर हो जाओ।

बुद्ध के वचनो का लुटेरे पर ऐसा प्रभाव पडा कि वह उसी समय महात्मा बुद्ध का शिष्य बन गया।

सगति का प्रभाव सिर्फ मनुष्य पर ही नही वरन् पशु पक्षियो पर भी पडता है। एक राजा घोडे पर आरूढ होकर वन मे जा रहा था। जब वह भील डाकूओ की बस्ती मे से निकला तो एक द्वार पर पिजरे मे टगा हुआ तोता चिल्लाने लगा—"दौड़ो ! पकडो, मार डालो, इस का घोडा छीन लो।"

राजा सावधान हो गया और अश्व को तेज दौडा कर वहा से चल दिया। आगे जाकर वह एक मनोहर आश्रम मे पहुँचा। वहा एक कुटिया के द्वार पर पिजरे मे बन्द तोते ने कहा—"आइये ! पधारिये ! आपका स्वागत है।"

एक मुनि कुटिया से बाहर निकले और उन्होने महाराज का स्वागत किया। राजा ने पूछा—मुनिवर ! एक ही जाति के तोतो मे इतना अतर क्यो है ? भीलो का तोता चिल्लाता है—"पकडो, मारो" और यह तोता मधुर स्वर से स्वागत करता है। राजा की बात सुनकर तोता बोला :—

अहं मुनीना वचन श्रृणोमि,
श्रृणोत्यय यद् यवनस्य वाक्यम्।
न चास्य दोषो न च मे गुणो वा,
संसर्गजा दोष - गुणा भवन्ति ।

अर्थात् मै मुनियो के वचन सुनता हू और वह हिंसक भीलो की बाते सुनता है। न उसमे कोई दोष हे और न मुझमे कोई गुण है। दोष और गुण तो ससर्ग से उत्पन्न होते हैं।

भाइयो ! आशा है आप कुसंग के त्याग का महत्व समझ गए होंगे। प्रकृति ने हमे पाच इन्द्रिया तथा विशिष्ट मन देकर संसार के सब प्राणियो मे अधिक बुद्धिमान् तथा शक्तिशाली बनाया है। पर हमारा कार्य यह है कि हम उनका सही उपयोग करें। कुसगति मे पडने से मन मे कुविचार पैदा होते हैं और मन मे कुविचार आने से शरीर के अग भी कु-क्रियायें करने लगते हैं। फलस्वरूप मानव शरीर निरर्थक हो जाता है। निरर्थक ही क्या, उलटे जन्म जन्मातर तक दुख व पीडा पाते रहने का कारण बन जाता है। कहते हैं कि भले ही मनुष्य भयानक से भयानक स्थान पर चला जाय, भयकर से भयकर शक्तिशाली अथवा विषधर प्राणियो के बीच मे रह ले किन्तु कुसग मे कभी भूलकर भी न फसे :—

सिंघन के वन मे बसिये, जल में घुसिये,
कर विच्छु भी लीजे।
कान खजूरे को कान मे डार के,
सांपन के मुख आगुरी दीजे।
भूत पिशाचन मे बसिये,
और घोर हलाहल या विष पीजे।
ये सब ही कर ले पर रघुनन्दन,
दुष्टन को कभी सग न कीजे।

कुसग की हानियो को एक कवि ने अनेक उपमाए देकर बताया है, सुनिये !

लोहे की कुसंगत से आग पर मार पड़े,
खट्टे की कुसंगत से दूध फट जात है।
बास की कुसंग से जल जात लाखो वृक्ष,
कीच की कुसग से सुगध मिट जात है।
दुष्ट की कुसगत आचार का विनाश करे,
पापी की कुसगत से मान घट जात है।
मूर्ख की कुसगत से बुद्धि का विनाश होय,
काँच की कुसगत से डोर कट जात है।

बंधुओ ! सत्सगति तथा कुसगति के सम्बन्ध मे आज मैने कई सरल और रुचिकर पद्य आपको सुनाए है। आशा है आप इन्हे भूलेगे नही तथा सदा जबान पर रखेंगे। इन्हे बार बार याद करके आप अवश्य ही कुसग को भयानक दोष मानकर इससे बचते रहने का प्रयत्न करेगे।

मनोरोगी का तीसरा उपचार है— सतसाहित्य का पठन। सद्ग्रयो का अवलोकन,जिसे हम स्वाध्याय भी कह सकते है, मन को माधुर्य से भर देता है, पवित्र वना देता हे। सन्मित्रो की तथा सज्जनो की सगति के विपय मे मैंने अभी अभी वताया है। कहते है—

एक घड़ी आधी घडी आधी हु पुनि आध।
तुलसी सगत साधु की कटे कोटि अपराध॥

किन्तु सज्जनो का सग मिलना वहुत दुर्लभ होता है। अत जव सत समागम सुलभ न हो, तव हमे सद्ग्रथो का स्वाध्याय करना चाहिये। सद्ग्रथो की सगति हमे हर समय, हर स्थान तथा हर स्थिति मे सुलभ हो सकती है। सद्ग्रथो के द्वारा हम वडे से वडे महान् पुरुप की सगति से भी अधिक लाभ उठा सकते हैं। सद्ग्रथ रूपी सज्जन से हमे कभी सकोच नही होता। किसी प्रकार की कमी होने पर भी हीनता का अनुभव नही होता। दिन भर मे जितनी वार, जितने समय तथा जिस तरह भी हम चाहे, इनके द्वारा अपना यथेष्ट समाधान कर सकते है।

सद्ग्रथ इस लोक के चिन्तामणि रत्न के समान है, इनके पठन-पाठन से मन की सव कुवासनाऐ तथा कुभावनाऐ मिट जाती हैं। मन मे पवित्र भाव जाग जाते हैं तथा परम शाति प्राप्त होती है।

साहित्य पठन का आनन्द निराला ही होता हे। लेकिन पुस्तके चुनने मे हमे वडी वुद्धिमानी से काम लेना चाहिये। ऐसी पुस्तके चुनी जाए, जिनसे मानवता का पाठ सीखा जाय। कोई कोई कहते है कि अपने धर्म की, अपने सम्प्रदाय की पुस्तको के अलावा दूसरी पुस्तके पढना मिथ्यात्व है। उनका ऐसा समझना भूल है। मिथ्यात्व सिर्फ उस साहित्य का पढना है जिसको पढने से मन मे कपाय व विपरीतता पैदा करने वाले भाव उभरते हो, और मन मे हिंसक वृत्ति पैदा होती हो।

उपन्यास आदि शृगार रसपूर्ण पुस्तकें पढना अपने हाथो अपने आचरण पर कुठाराघात करना है। मेरी वात को एकान्त न माने। शिक्षाप्रद कहानिया, उपन्यास अथवा महापुरुषो के चरित्र अवश्य पढना चाहिये। मेरा मतलव अश्लील, गन्दे और भद्दे उपन्यास एव नाटको से है। उनसे मनुष्य का कल्याण नही होता अपितु पतन होता है। शृगारी और कामोत्तेजक पुस्तके पढने से वडे से वडे सत्पुरुपो का मन भी विकृत हो जाता है। सच्चरित्र वालक वालिकाऐ भी कुग्रथो के पठन तथा श्रवण से दुश्चरित्र वन

जाते है। कुग्रथ पढना विष-पान करने के समान है। ये सब नरक मे ले जाने वाले वाहन होते हैं।

इसके विपरीत सद्ग्रथो के पठन पाठन मे बडे पापात्मा भी पुण्यात्मा बन जाते हैं। महान् पुरुषो के जीवन चरित्र अमृत-तुल्य होते है। वे मन को स्वस्थ, पवित्र तथा सरल बनाने मे सहायक होते हैं। जिस साहित्य मे हमारी आध्यात्मिक तथा मानसिक तृप्ति हो, वही सत्साहित्य है तथा पढने व मनन करने योग्य है। भारतवर्ष एक अध्यात्म प्रधान देश है। इसमे समय समय पर ऐसी ऐसी महान् आत्माओ का जन्म होता रहा है कि जिनके जीवन आज हमारे लिये पथ के प्रदीप बन गये हैं। सिर्फ भारत के ही नही, वरन् वे विश्व-पूज्य बन गए है। भगवान ऋषभदेव, महावीर, आदि के सिद्धात आज जन-जन के लिये आदर्श रूप तथा आत्म-सात् करने योग्य हैं। उन्हे पढना तथा पढाना जीवन निर्माण के लिये अनिवार्य है। ऐसे साहित्य के पठन से महान् परिवर्तन आ जाता है और आत्मा पवित्र तथा निर्मल बन जाती है।

एक बार गाधीजी जोन्सबर्ग से किसी दूसरे स्थान को जा रहे थे। उस समय उनके मि पोलाट नामक एक अँग्रेज मित्र ने रस्किन की 'अन्टू दिस लास्ट' पुस्तक पढने के लिये दी। मुसाफिरी काफी लम्बी थी अत ट्रेन मे गाधीजी ने उस पुस्तक को पूरा पढ लिया।

उस पुस्तक का गाधीजी पर इतना असर हुआ कि तभी से उन्होंने वैरिस्टरी छोड दी और एक ग्रामीण की तरह सादा जीवन व्यतीत करने लगे।

अमेरिका के वरमौण्ट नामक गाँव मे एक मोची था। उसका नाम था 'चार्लस् सी फ्रास्ट'। वह अपने काम मे प्रतिदिन एक घटे का समय बचाकर नियमित रूप से गणित का अध्ययन करता था। दस वर्ष अभ्यास करने मे वह उच्च कोटि का गणितज्ञ बन गया। हमारा देश सत्-साहित्य से भरा पडा है और आज भडार मे वृद्धि होती जा रही है। महान् से महान् विद्वान्, सत तथा आचार्य अपने अमूल्य उपदेश, अपने अनुभव, लिपिवद्ध करके हमारे सामने रखते जा रहे है। इस दृष्टि से भारत बहुत ही भाग्यशाली है। कहते भी हैं—

अधकार है वहां, जहा आदित्य नहीं है।
मुर्दा है वह देश जहां साहित्य नहीं है॥

खैर, आशय मेरा यह है कि सत्साहित्य की हमारे यहा कमी नही है। कमी हे उसके पठन की और उसका मनन करने की। सद्ग्रथो को पढना और पढने के वाद जीवन मे उतारना अत्यावश्यक है, उसके विना मन रोग रहित नही हो सकता।

प्रत्येक मनुष्य को स्वाध्यायशील होना चाहिये। कहा गया है कि 'न स्वाध्यायात्परं तप।" स्वाध्याय के वरावर कोई दूसरा तप नही है। स्वाध्याय नाना प्रकार के व्रत, उपवास, जप तथा तप से श्रेष्ठ है। उपदेश कल्पवल्ली मे तो करोडो की सम्पत्ति के दान से भी स्वाध्याय को श्रेष्ठ वताया है—

'कोटि-दानादपि श्रेष्ठ स्वाध्यायस्य फलं यत।"

—उपदेश कल्पवल्ली

उपनिपद मे भी स्वाध्याय तथा प्रवचन मे प्रमाद न करने का उपदेश दिया गया है—**"स्वाध्याय-प्रवचनाभ्या न प्रमदितव्यम्।"**

स्वाध्याय जीवन के लिये परमावश्यक है। जिस प्रकार शारीरिक उन्नति के लिये भोजन आवश्यक है, ठीक उसी तरह आत्मिक उन्नति के लिये स्वाध्याय आवश्यक है। स्वाध्याय से ज्ञान की वृद्धि तो होती ही है, साथ ही विचारो मे पवित्रता आती हे। अगर किसी कुए मे पानी आना वन्द हो जाय तो उसमे कीडे पड जाते है। पानी मे दुर्गन्ध आने लगती हे। उसी तरह अगर स्वाध्याय न किया जाय तो हमारी मानसिक वृत्तियाँ कलुषित तथा दूपित हो जाती है। ज्ञान सीमित हो जाता है और हृदय कूप-मण्डूक के सदृश बन जाता है।

वधुओ! आप लोगो को चाहिये कि प्रतिदिन प्रात काल तथा सायकाल किसी पवित्र ग्रन्थ का पाठ करे। प्रतिदिन नियमित रूप से अभ्यास करने की आदत डाले। यहा तक कि एक निश्चय कर लेना चाहिये कि कम से कम प्रात काल तो स्वाध्याय किये विना अन्नग्रहण नही करेगे। वैसे तो कहा है कि दिन और रात मे सात्त्विक ग्रन्थो का स्वाध्याय वार वार करना चाहिये—

"चतुर्वारं विधातव्यः स्वाध्यायोऽयमहर्निशम्।

—उपदेश कल्पवल्ली

किन्तु चार वार न किया जा सके तो कम से कम एक घटा तो इस

कार्य के लिये अवश्य ही देना चाहिये। कहा गया है—"सर्वस्य लोचनं शास्त्रम्।" मानव मात्र की सर्व श्रेष्ठ आख सात्विक ग्रन्थ-शास्त्र ही हैं, क्योकि—ग्रन्थ-शास्त्रो से ही विश्व की तीनो काल की घटनाओं को जाना जा सकता है।

हमारे जैनागम गागर मे सागर के सदृश है। श्री महावीर प्रभु ने केवल-ज्ञान की प्राप्ति होने के बाद तीस वर्ष तक जनता को धर्मोपदेश दिया था, जो आगमो मे सगृहीत है। आगम जैन धर्म के सबसे अधिक पवित्र तथा प्रामाणिक ग्रन्थ माने जाते हैं। इन्हे श्रुत, सूत्र, सिद्धात अथवा निर्ग्रंथ प्रवचन भी कहते हैं। आगमो का ज्ञान सुनकर किया गया अत श्रुत, सूत्रात्मक है इसलिये सूत्र, इसमे सिद्धातो का निरूपण है अत सिद्धात है तथा निर्ग्रंथ महा-मुनि द्वारा कृत या कि निर्ग्रंथ धर्म की मुख्यता वाले प्रवचनो का सग्रह रूप है अत निर्ग्रंथ प्रवचन कहा जाता है।

आगमो मे साधु के आचार-विचार के विषय मे, श्रावको के धर्म के विषय मे, जैन धर्म के मुख्य मुख्य तत्त्वो के विषय मे तथा मानव के श्रेष्ठ गुणो के विषय मे भी विस्तृत विवेचन किया गया है।

आगम साहित्य अग, उपाग, छेद सूत्र, मूल सूत्र तथा प्रकीर्णक इस प्रकार अनेक भागो मे विभक्त है।

इन सबके विषय मे तो बताना आज सभव नही है। फिर भी अभी स्वाध्याय का विषय चल रहा है अत उनमे से सरल, स्वाध्याय करने योग्य और जीवनोपयोगी कतिपय शास्त्रो के विषय आपको बता रही हू :—

(१) **आचाराग सूत्र** :—इसमे साधु जीवन के आचार विचार और भगवान् महावीर की तपश्चर्या का वर्णन आता है।

(२) **दशवैकालिक सूत्र** :—इसमे भी साधु जीवन का आचार कुछ सक्षेप मे वर्णित है।

(३) **उत्तराध्ययन सूत्र** :—इस सूत्र मे साधनाओ और सिद्धान्तो पर बोध तथा वैराग्य से पूर्ण कथाओ, दृष्टान्तो व सवादो का सग्रह है।

(४) **स्थानाग सूत्र** :—स्थानाग मे जैन धर्म के मुख्य तत्त्वो की संख्यावार सूची समझाई गई है।

(५) प्रज्ञापनासूत्र :—इसमे जीव आदि के स्वरूप गुण आदि का विविध दृष्टियो से वर्णन है।

(६) ज्ञाता सूत्र :—इसमे दृष्टातो और कथाओ द्वारा धर्म का उपदेश दिया गया है।

(७) **उपासक दशांग सूत्र** —इस सूत्र मे श्री महावीर प्रभु के दस अनन्य उपासको के चरित्र दिये गए है। श्रावक धर्म को समझने के लिये यह सूत्र अत्यन्त उपयोगी है।

धर्मप्रेमी बधुओ! मैंने सिर्फ उन कुछ सूत्रो के बारे मे ही बताया है, वैसे सभी शास्त्र एक चिन्तामणि है। इनके विषय मे कुछ कहना सूर्य को दीपक दिखाने के समान है। मै आशा करती हूँ कि शनै शनै आप मे से प्रत्येक भाई व बहन स्वाध्याय के द्वारा इनमे जो अमृत भरा हुआ है उसका आस्वादन करेगे। जैनागमो के अलावा भी जो उत्तम साहित्य हो, उसके द्वारा मानव को अपना जीवन गुणयुक्त व पवित्र बनाना चाहिये। महापुरुषो के जीवन को आदर्श मान कर अपने मे उन सरीखे गुणो का आविर्भाव हो इसका प्रयत्न करना चाहिये।

एक बात मैं कहना भूल गई। मैंने जो आपको अभी अभी स्वाध्याय करने की प्रेरणा दी है, इस विषय मे आपको यह ध्यान रखना आवश्यक है कि तोते की भाँति आगमो का कुछ समय पारायण करने मात्र से ही कोई लाभ नही होता। जो कुछ भी आप पढे, उसके आशय को समझने और उसे जीवन मे उतारने का प्रयत्न करे तभी शास्त्र-स्वाध्याय सार-युक्त हो सकेगा। पठन के पश्चात् चिन्तन, तथा चितन के बाद मनन होना आवश्यक है —

"पठन, मनन - विहीन पचन - विहीनेन तुल्यमशनेन।"

—मनुस्मृति

अर्थात् चितन और मनन रहित वाचन ऐसा ही है, जैसा कि पाचन-क्रिया से रहित खाया हुआ भोजन। अगर भोजन पचता नही है तो खाना न खाना समान है।

आशा है आपने मेरी बाते पूरी तरह से समझ ली होगी। आज जो मैने मन को निरोग रखने के उपाय बताए है उन पर आप और अच्छी तरह

मनन करें तथा अपने को उनका अभ्यासी बनाएं। मन को निरोग रखने का एक और उपचार आत्म-संयम है। इन्द्रियों पर तथा मन पर अपना आधिपत्य रखना। आज समय नहीं है अतः इस विषय पर विवेचन नहीं हो सकेगा, वैसे समय समय पर मैंने आत्म-संयम के विषय में बताया है। इसे ध्यान में रखते हुए आप आत्म-संयम को भी मनोरोग का उपचार मानेंगे। इन्द्रियों को अंकुश में रखने वाला व्यक्ति ही अपने मन को निश्चित बना सकता है। एवमस्तु।

१

कषाय-विष

[खण्ड १]

कोह माण च मायं च, लोभ च पाव-वड्ढण ।
वमे चत्तारि दोसे उ, इच्छतो हियमप्पणो ॥

—दशवैकालिक सूत्र अ. ८

अपनी आत्मा का हित चाहनेवाले साधक को पाप बढाने वाले क्रोध, मान, माया तथा लोभ इन चारों कषायो का त्याग कर देना चाहिए।

आत्मा का कषायो द्वारा जितना अहित होता है उतना किसी भी अन्य शत्रु द्वारा नही होता। कषाय कर्म बन्ध के प्रबल कारण है। यही आत्मा को ससार भ्रमण कराते हैं। कषाय का सेवन करने वाले मनुष्य असुर-तुल्य होते तथा क्षमादि गुणो को धारण करने वाले पुरुष देव-तुल्य माने जाते हैं। कषाय विष के सदृश है तथा कषायो का शमन करना अमृत-पान के सदृश है।

कषाय के द्वारा जिसकी आत्मा कलुषित है, उसमे ज्ञान, दर्शन और चारित्र आदि का समावेश नही हो सकता, ठीक उसी तरह जैसे काले कबल पर दूसरा कोई रग नही चढता। जिसके कषाय स्वल्प है,वही व्यक्ति आनन्दानुभूति कर सकता है। कषायो की मन्दता तथा तीव्रता मे स्वर्ग व नरक का अध्याहार होता है। कषाय आत्मा के प्रबलतम शत्रु है। आत्मा के उत्थान तथा पतन के मूल कारण कषाय है। ज्यो ज्यो कषायो की तीव्रता बढती जाती है, आत्मा मलिन होती जाती है, और जैसे जैसे कषाय का उपशमन होता जाता है आत्मा के स्वभाव मे स्थिरता होती है। शाँति प्राप्त होती है। कषायो के तीव्र उद्रेक से आत्मा अध पतन के गहरे गर्त मे गिरती जाती

है क्योंकि कषायों का मन पर अधिकार हो जाने पर उनके विरोधी जो सद्गुण है, सब एक-एक करके लुप्त हो जाते है —

कोहो पीइ पणासेइ, माणो विणय-नासणो,
माया मित्ताणि नासेई, लोभो सव्व-विणासणो।

—दशवैकालिक सूत्र अ० ८

क्रोध प्रीति का नाश कर देता है। मान विनय का नाश करता है। माया मित्रता का नाश करती है तथा लोभ समस्त सद्गुणो का नाश कर देता है।

इस प्रकार हम देखते है कि कषाय तीव्र हलाहल है। विष तो एक बार खाने पर प्राणो का नाश करता है पर कषाय मनुष्य को जन्म जमान्तरो तक पीडा देते रहते है।

कषाय चार प्रकार के होते हैं —क्रोध, मान, माया तथा लोभ।

क्रोध एक आवेग का नाम है। इसके आवेश मे व्यक्ति उचित-अनुचित का भान भूल जाता है। अट-सट, दूसरे को दुख पहुँचाने वाले शब्द बोलता है। नाना प्रकार के घृणित, अशोभनीय तथा हानिकारक कार्य करता है। क्रोध मे इन्सान पागल की तरह हो जाता है। तथा उस पागलपन की अवस्था मे दूसरो का ही नही, वरन अपना भी अहित कर बैठता है। अनेक क्रोधी अपने जीवन का अन्त कर देते है। कोई नदी मे कूद कर कोई कुए मे गिरकर और मिट्टी का तेल डाल कर ही अपना जीवन खत्म कर देते हैं। क्रोध के विषय मे ठीक कहा गया है—

उत्पद्यमानः प्रथमं दहत्येव स्वमाश्रयम्।
क्रोध कृशानुवत्पश्चादन्य दहति वा न वा ॥

अर्थात् जब क्रोध पैदा होता है तो अपने आश्रय स्थान को अर्थात् जिसमे उत्पन्न होता है उसी अत करण को अग्नि की तरह जलाने लगता है। उसके बाद अन्य को तो जलाये या न भी जलाये।

तात्पर्य यही कि क्रोध करने से दूसरो को तो हानि पहुचे या नही, पर क्रोध करने वाले स्वय को तो हानि उठानी ही पडती है।

क्रोध महा विषधर नाग के समान होता है। जिसके डस लेने पर मनुष्य को किसी भी प्रकार का विवेक नही रहता। वह अपने आपको सतुलित नही रख पाता। पाश्चात्य विद्वान् 'इ गर सोल' ने लिखा है—

Anger blows out the lamp of the mind

क्रोध मन के दीपक को बुझा देता है ? अर्थात् स्वय क्रोधी को सुझाई नही देता कि उसे क्या करना चाहिये और क्या नही ।

क्रोध का दूसरा प्रभाव मनुष्य के स्वास्थ्य पर पडता है । मनुष्य जो कुछ खाता है उसका ही रस बन कर उसके शरीर को पुष्टता प्रदान करता है । भोजन अगर आनन्द पूर्वक किया जाय तो वह अमृत का काम करता है और अगर क्रोध की स्थित मे किया जाय तो जहर के सदृश बन जाता है । क्रोध के कारण मानसिक स्थिति मे तनाव आ जाता है और उस समय खाने से उसका ठीक पाचन नही होता । उलटे पेट की बीमारियाँ हो जाती हे । अत. स्वस्थता के लिये मन का विकार रहित होना अनिवार्य है ।

तीसरी हानि जो क्रोध से होती है, वह है शरीर के सौन्दर्य तथा सौम्यता का नाश होना । क्रोध जिस समय उत्पन्न होता है, मनुष्य का चेहरा विकृत हो जाता है । आँखे लाल हो जाती है और रग काला दिखाई देने लग जाता है । गर्दन की नसे फूल जाती है और दिमाग चक्कर खाने लग जाता है । क्रोध बुद्धि को अस्थिर बना देता है और मन को मलिन । क्रोधी का चेहरा धीरे धीरे पीला पड जाता है और जैसा कि मैने अभी-अभी बताया है पाचन शक्ति मद हो जाने के कारण शरीर सूखने लग जाता है । धीरे धीरे अनेक रोग शरीर मे पैदा हो जाते है तथा चेहरे की स्वाभाविक सौम्यता तथा काति नष्ट हो जाती है । मनुष्य कुरूप दिखाई देने लग जाता है ।

क्रोध से चौथी जो हानि होती है, वह अत्यत भयानक प्रभाव डालती है । वह है 'वैर' । वैर का जन्म क्रोध से ही होता है । 'बहुत दिनो तक जो क्रोध बना रहता है वह वैर तथा द्वेष बन जाता है । क्रोध तो क्षणिक आवेश होता है किन्तु वैर चिरकाल तक स्थिर रहने वाला मन का विकार है । वेदव्यासजी ने कहा है—

"वैर-विरोध से झगडा बखेडा शुरू हो जाता है और वह कुल-नाश के लिये बिना लोहे का शस्त्र है । मिट्टी का घडा एक बार फटने पर फिर नही जुडता, वैसे ही जब किसी कुल मे दुखदायी वैर बध जाता है तो वह तब तक शात नही होता जब तक कि कुल का एक भी व्यक्ति जीवित रहता है ।'

कौरव-कुल का नाश सिर्फ दुर्योधन के वैर बाँध लेने के कारण ही हुआ था । क्रोध के कारण आपस मे स्नेह नही रहता तथा मित्रो से भी मित्रता बनी नही रह सकती । इसलिये जैन धर्म, कषायो को पतला करने

की प्रेरणा करता है। वासनाओ का त्याग करने को कहता है। धर्म, जल कर मर जाने को, पहाड की चोटी पर से गिर जाने को अथवा बरफ मे गल कर मर जाने को नही कहता। धर्म हमे यह प्रयास करने को कहता है कि हम कषायो को कम से कम करे। क्रोध के विभिन्न रूप व फल होते हैं।

(१) जो क्रोध पन्द्रह दिन तक रह जाता है और पूर्ण वीतराग भाव नही होने देता, उसे सज्वलन कहते है।

(२) जो क्रोध चार महिने से अधिक रहता है वह क्रोध सर्वचारित्र का घात करता है। यह प्रत्याख्यानी क्रोध कहलाता है।

(३) जो एक वर्ष से अधिक रहता है वह क्रोध मनुष्य को श्रावक नही बनने देता। इसे अप्रत्याख्यानी क्रोध कहते हैं।

(४) जो क्रोध जीवन भर रहता है उसे अनतानुबधी कहते है। वैर एव द्वेष इसी के नाम हैं। यह आत्मा के सम्यक्त्व गुण को नष्ट कर देता है।

बन्धुओ! हमे पूर्ण मनोयोग से क्रोध को कम करने का प्रयत्न करना चाहिए। मैं आपको क्रोध न करने का नियम नही दिलवाना चाहती और न ही किसी प्रकार का दबाव ही डालना चाहती हूँ। मैं चाहती हूँ कि आप सब सदा यह प्रयत्न करे कि आपका क्रोध कम से कम समय तक विद्यमान रहे। मैं आपको अपनी कश्मीर यात्रा के समय की एक आँखो देखी घटना सुना रही हूँ —

हम श्रीनगर से खीर भवानी जा रहे थे। रास्ते मे 'विचारनाग' ठहरे। वहाँ 'हातो' लोग रहते हैं। जिस दिन हम वहाँ ठहरे थे, सयोगवश पास ही कुछ हातो लोगो मे लड़ाई ठन गई। बहुत देर तक वे लडते रहे। कई लोगो के सिर फूटे, हाथ पैरो मे भी चोट आई। हम घबराहट के कारण अपने स्थान से बाहर ही नही निकले। पर शाम होने पर हम दग रह गए। हमने देखा कि वे सब लडने वाले इकट्ठे बैठ गए और बडे आनन्द से खाना खाने लगे। दिनभर की लडाई का नाम-निशान भी उन लोगो के व्यवहार मे नही दिखाई दिया।

मुझसे रहा नही गया। मैने एक व्यक्ति से ऐसे आश्चर्यजनक व्यवहार के लिये पूछा कि दिन भर तो ये सब बुरी तरह लडते रहे और अब इस तरह शांति से इकट्ठे होकर खा रहे हैं। जैसे कुछ हुआ ही नही। इसका क्या कारण है ?

वह व्यक्ति बोला—इनमे रिवाज ही ऐसा है। सुबह होते ही ये लोग एक टोकरी को, जो इन लोगो के घर के सामने रखी रहती है, सीधी करके रख देते है। उसके बाद दिन भर मे कोई वजह हो तो लडाई हो सकती है। किन्तु सूर्यास्त होते ही ये वापिस उलटी करके औधा देते है। इसके वाद इनकी लडाई नही हो सकती और दिन भर मे जो लड चुके है, वे अपनी लडाई क्षणभर को भी मन मे नही रख सकते। उन्हे वापिस वैसा ही हो जाना पडता है जैसे कि लडने के पहले थे।

भाईयो! यह है कपाय को पतला रखने का उदाहरण। क्या उन जगली लोगो ने कोई जैन-शास्त्र पढा है? भागवत अथवा गीता का अध्ययन किया है? उन्होने कभी किसी सत महात्मा का प्रवचन नही सुना, फिर भी क्या वे हमसे वढकर अल्पकपाय नही है? उन्हे हम अनार्य कहते है। सदाचार, शील क्या होता है, जीव अजीव किसे कहते है, वे कुछ नही जानते। फिर भी उनका जीवन कितना सरल है। कपाय कितनी कम है उनमे! इस दृष्टि से वरसो प्रवचन सुनने वाले हम लोगो से वे कितने अधिक ऊँचे है। उत्तम विचार वाले है। किसी ने कहा है—

"उत्तम प्राणी का क्रोध क्षण भर तक रहता है, और मध्यम-व्यक्ति का दोपहर तक। अधम का दिन और रात भर, किन्तु जो नीच या चाडाल व्यक्ति होता है उसका क्रोध मरण पर्यंत तक बना रहता है।

जिनके हृदय मे क्रोध रूपी चाडाल प्रवेश कर जाता है वह जन्म से उच्च कुल का होने पर भी चाडाल की तरह अस्पृश्य माना जाता है और जन्म से चाडाल होने पर भी अगर उसमे क्रोध नही है तो वह महान् है।

एक योगी किसी नदी के किनारे पर बैठा हुआ ध्यान कर रहा था। एक चाडाल आया और योगी से कुछ हो दूर स्नान करके कपडे धोने लगा। दुर्भाग्य से पानी के कुछ छीटे योगी पर गिर पडे।

योगी का ध्यान खुल गया। उसको चाँडाल के द्वारा छीटे पड जाने पर वडा क्रोध आया। पास ही मे पडे हुए चिमटे को उठा कर क्रोध के मारे उसने चाडाल को खूब पीटा। पीटने के पश्चात उसे ध्यान आया कि मैं चाडाल के स्पर्श से अपवित्र हो गया हूँ तो उसने चिमटे को दूर फेक दिया और नदी मे स्नान किया।

योगी ने स्नान किया। उसके बाद ही चाडाल ने भी पुन स्नान किया। योगी ने यह देख कर गुस्से मे कहा—मूर्ख! तूने फिर स्नान क्यो किया? तू

मेरे स्पर्श से अपवित्र थोड़े ही हुआ है ? चाण्डाल ने हाथ जोड़ कर नम्रता से कहा—भगवन् ! आप तो महा पवित्र हैं किन्तु जिस समय आपने मुझे पीटा, उस समय क्रोध रूपी महाचाण्डाल आपके अन्दर प्रवेश कर गया था । उसके द्वारा अपवित्र होकर आपने मेरा स्पर्श किया, इस कारण मुझे स्नान करना पड़ा ।

तुलसीदासजी ने कहा है कि जब तक क्रोध आदि कषाय मन में रहते हैं, पंडित तथा मूर्ख में कोई अन्तर नहीं होता ।

काम, क्रोध, मद, लोभ की, जब लौं मन में खान ।
तब लौं पंडित मूरखा, तुलसी एक समान ॥

स्मरण रखना चाहिये कि जब मनुष्य क्रोध के आवेश में क्रूर बन जाता है, उस समय हृदय की मृदुता उसके अन्दर से निकल जाती है ।

दूसरा कषाय मान है । अभिमान की भावना मानव जीवन के लिये महा विनाशकारी है । यह सम्पूर्ण जीवन की साधना को निष्फल कर देती है । जब तक मन में अहंकार की भावना रहती है, मनुष्य आत्मोन्नति नहीं कर सकता । आत्मोन्नति के लिये मन के समस्त विकारी भावों का नाश करना आवश्यक है । अहंकार भी उनमें से एक है । जब तक इसे दूर नहीं किया जाएगा, विनय नहीं आएगा और विनय न होने पर अन्य कोई भी सद्गुण हृदय में नहीं टिकेगा ।

आप जानते होंगे कि सोडावाटर की बोतल के गले में एक गोली होती है, वह गोली अन्दर की गैस को बाहर नहीं निकलने देती तथा बाहर की वायु को अन्दर नहीं जाने देती । इसी तरह मानव के गले में भी अहंकार की गोली होती है जो हृदय के अन्दर रहे हुए विकारों को बाहर नहीं निकलने देती तथा ज्ञान के प्रकाश को अन्दर नहीं आने देती ।

गौतम ने श्री महावीर स्वामी से प्रश्न किया था—

माण - विजए णं भंते ! जीवे किं जणयइ ?

भगवन् ! मान पर विजय पाने से जीव को किस लाभ की प्राप्ति होती है ?

भगवान महावीर ने दिया—"**माणविजएणं मद्दवं जणयइ, माणवेयणिज्जं नवं कम्मं न बंधइ पुव्व-बद्धं च निज्जरेइ ।**"

अर्थात् मान पर विजय पाने से मृदुता प्राप्त होती है । नवीन कर्मों का बन्ध नहीं होता तथा पूर्वार्जित कर्मों की निर्जरा होती है ।

अहंकारी व्यक्तियो का जीवन-क्षेत्र वडा सकुचित होता है। उसी क्षेत्र मे वे अपना कल्पित रूप वनाकर मिथ्या गौरव के स्वप्न देखते रहते है। किसी विचारक ने अहकारी को पिन के सदृश वताया है। जिस प्रकार पिन का सिर उसे कागज के पार नही जाने देता, उसी प्रकार अहकारी का गर्व से फूला हुआ सिर उसे दुनिया मे आगे नही वढने देता। ऐंठते हुए चलने से कोई प्रयोजन सिद्ध नही होता। अग्रेजी मे एक कहावत है—

"Gaze at the moon and fall in to a detch."

अर्थात् वहुत ऊचा सिर करके चन्द्रमा की तरफ देखते हुए चलोगे तो किसी गडहे मे गिरोगे। अहकार पतन की ओर ले जाता है, अपकीर्ति वढाता है। इसके विपरीत ज्यो-ज्यो अभिमान कम होता है, कीर्ति वढती है। यग ने लिखा है—

"We rise in glory as we sink in pride"

अहकार मे मनुष्य का दिमाग आसमान पर चढ जाता है और ऐसी स्थिति मे नीचे से ठोकर लगने पर सिर फूटने की आशका रहती है। सत कवीर ने तो मान को कुत्ते की तरह वताया है। कहा है—

मान वडाई जगत मे, कूकर की पहिचानि।
प्रीत किए मुख चाट ही, वैर किए तन हानि।

जगत् मे मान को कुत्ते की तरह मानना चाहिये। जैसे कुत्ता प्रेम करने पर मुह चाटकर अशुद्ध कर देता है और मारने पर काट खाता है, उसी तरह अहकार से जव तक प्रेम रखो वह अपयश का भागी वनाता है और जव वह खडित हो जाता है तो जीवन लीला समाप्त होने की नौवत आ जाती है। इसलिये कहा है—

मृत्युस्तु क्षणिका पीडा मान-खंडो पदे-पदे।

मृत्यु की पीडा तो क्षणिक होती, है किन्तु मान-भग होने की पीडा पद-पद पर कष्ट पहुँचाती है।

अभिमान आने के मार्ग तो आत्मा के प्रत्येक प्रदेश मे रहे हुए है। ग्रंथकारो ने अभिमान को आठ फन वाले काले विषधर की उपमा दी है। जाति, लाभ, कुल, ऐश्वर्य, वल, रूप तथा श्रुत (ज्ञान) आदि आठ प्रकार के मद उसके आठ फन है। ये अथवा इनमे से कोई भी मद मनुष्य को विवेक शून्य वना देते हैं।

जाति का मद आज सारे विश्व मे विनाश का कारण वना हुआ है।

इसी के कारण महा भयानक खून खराबियां होती है। जाति के मद के कारण ही अगणित हिन्दू, मुसलमान एक दूसरे के द्वारा मौत के घाट उतारे गए, अनेकों सतियों का सतीत्व भंग हुआ तथा अबोध शिशुओं को कलों के नीचे मसला गया। जाति की कट्टरता का प्रमाण ही आज हिन्दुस्तान व पाकिस्तान है। जाति के मद में मस्त औरंगजेब ने गुरु गोविन्दसिंह के दो मासूम बच्चों को जिन्दा ही दीवार में चुनवा दिया था। इस जाति मद के कारण ही राष्ट्रपिता महात्मा गांधी का भी खून हुआ। कबीर जैसे संत ने सत्य ही कहा है कि हिन्दु और मुसलमान आपस में लड़-लड़ कर मरते है पर मर्म कोई नही जानता।

> कह हिन्दू मोहि राम पियारा, तुरक कहे रहिमाना।
> आपस मे दोउ लरि-लरि मूवे, मरम न काहू जाना।।

आश्चर्य की बात तो यह है कि मनुष्य भगवान् को भी अपनी जाति का बना लेते है, जबकि इस जन्म के बाद उनको अपनी ही जाति का पता नही रहेगा। कौन जाने हिन्दू, मुस्लिम-जाति मे और कौन मुसलमान-पशु पक्षियों की किस जाति मे पैदा हो जाए। ऊंची तथा नीची जाति या कुल मे पैदा होना तो प्राणी के अपने शुभ अथवा अशुभ कर्मो पर निर्भर है। अनन्तकाल जीव ने कर्मो और कषायो के वश मे होकर अनेक योनियो मे भ्रमण करते हुए गवा दिया पर अब तक भी जाति का दंभ उससे नही छूटा। देखिये कितने सुन्दर ढंग से यह बात समझाई गई है—

> कर्मों और कषायो के वश होकर प्राणी नाना—
> कायो को धारण करता है, तजता है जग जाना।
> उच्च योनि मे नीच योनि मे काल अनन्त गंवाया,
> शूकर, श्वपच, श्वान हो-हो कर ऊंचे कुल मे आया।
> फिर भी है अभिमान जाति का, कुल का दंभ भरा है,
> उच्च-नीचका-दंभ - महल यह, बालू पर ठहरा है।।
>
> —शोभाचन्द्र भारिल्ल

जाति तथा कुल से ही किसी मे बडप्पन नही आता। शास्त्रो मे कहा भी है—"सक्खं खु दीसइ तवो विसेसो, न दीसई जाई-विसेस कोई।" अर्थात् तप आदि गुणो की विशेषता तो साक्षात् देखी जाती है, परन्तु जाति की विशेषता तो कुछ भी दृष्टि-गोचर नही होती।

ऐश्वर्य का मद भी मनुष्य को कुछ से कुछ बना देता है। ऐश्वर्य-शाली पुरुष दूसरो को घृणा की दृष्टि से देखने लग जाता है। उसे यह भान नही

रहता कि जिस वैभव का मै गर्व करता हू, क्या वह स्थिर रहेगा ही ? वडे वडे ऐश्वर्यशाली सम्राट् व धन-कुबेर समय के थोडे से परिवर्तन से ही पथ के भिखारी वन जाते है। इतिहास उठाकर जब हम देखते है तो उसमे अनेको ऐसे उदाहरण मिलते है जिनमे ऐश्वर्य की अस्थिरता का चित्र स्पष्ट नजर आता है। इसकी अस्थिरता के कारण ही हिन्दुस्तान के अतिम बादशाह वहादुर शाह की वेगमो को भी गली गली अत्यन्त दयनीय दशा मे फिरना पडा। लक्ष्मी के एक की वनी न रहने के कारण ही महाराणा प्रताप को जगलो की खाक छाननी पडी। उनके बच्चे एक एक रोटी के टुकडे के लिये तरसे। आज भी हम बडे बडे लखपतियो को निर्धन होते देखते है। कभी घाटा लग जाने पर, या मिल मे आग लग जाने पर अथवा किसी की सट्टेवाजी की आदत के कारण दिवाला निकल जाता है।

पर वह दिवाला इतना शोचनीय नही होता जितना कि ऐश्वर्य के मद मे अधा होकर अपना विनाश कर लेने वाला। ऐसे मदाध व्यक्ति भूल गए है कि अनेको छत्रधारी सम्राट्, जिनका दसो दिशाओ मे डका बजता था तथा पूर्व से पश्चिम तक जिनका साम्राज्य फैला हुआ था, उनकी भी आज धूल तक नजर नही आती तो फिर हमारा ही वैभव क्या स्थिर रहेगा ?

होती जाके सीस पै छत्र की छाइया,
अटल फिर्न्ती आन दसो दिसी माइयां ।
उदै अस्त लौं राज जिनू का कहावता, पण हां वाजिन्द,
हो गए ढेरी धूल नजर नहीं आवता ।

जन-श्रुति के आधार पर महाशक्ति-शाली रावण के आँगन मे ब्रह्मा वेद पाठ करते थे। देवता उसकी हाजिरी बजाया करते थे। सूर्य तथा चन्द्र उसकी पहरेदारी करते थे। उसकी लका भी स्वर्ण-मयी थी। रावण स्वय भी महापडित था किन्तु उसे अपने बल-वैभव मे अहकार की मदिरा का नशा चढ गया। दूसरे विनाश-काले विपरीत-बुद्धि' वाली कहावत भी चरितार्थ हो गई। परिणाम स्वरूप उसने सीता का हरण किया और रानी मदोदरी तथा विभीपण के बार बार समझाने पर भी वह नही माना। अहकार ने उसका सर्वनाश कर दिया। सोने की लका जल कर राख हो गई। पुरी उजाड बन गई। आज भी उनकी दयनीय कहानी घर घर मे गाई जाती है—

इन्द्र पुरी सी जहा बसती नारियां ।
भरती जल पनिहारी कनक सिर गगरिया ॥

हीरा-लाल झवेर जडी सुवरन-मयी पण हाँ वाजिन्द ।
ऐसी पुरी उजाड़ भयंकर हो गई ।।

कितना दर्दनाक अन्त हुआ। ठीक उसी तरह दुर्योधन के अहकार के कारण ही कौरवो का समूल विनाश हुआ !

शक्ति का अहकार आज सारे विश्व को परेशान कर रहा है। अमेरिका तथा रूस अपने अपने वल का प्रदर्शन करने के लिये ही नित नए हिंसक अस्त्रो का आविष्कार कर रहे है। रूस व अमेरिका ही क्या सारी दुनिया ही अपनी अपनी सत्ता का प्रयोग करने के लिये वावली वन गई है। चीन तथा पाकिस्तान की उछल-कूद तो अभी आपके सामने होती रही है।

अनेक विद्वानो को अपने ज्ञान का वडा गर्व होता है। वे नही सोचते कि 'केवलज्ञान' के सामने उनका सूत्र-ज्ञान कितना नगण्य है।

भरत चक्रवर्ती ने दिग्विजय करने के लोभ मे अमोल अस्त्र सुदर्शन चक्र अपने भाई वाहुवली पर ही चला दिया। शक्ति का गर्व तथा सत्ता का लोभ सब कुछ करा लेता है। दूसरे, भरत दृष्टि-युद्ध तथा मल्ल-युद्ध वाहुवली से पराजित हो चुके थे, अत। क्रोध मे जल रहे थे। पर भाई होने के कारण अमोघ अस्त्र चक्र-रत्न-वाहुवली को मार नही सका। वाहुवली ने भरत को अपनी लौह सदृश भुजाओ मे उठाकर पटकना ही चाहा था कि उसी क्षण उन्हे राज-पाट आदि सभी से विरक्ति हो गई।

प्रज्ञा के उदित होते ही उन्होने भरत को नीचे उतार दिया। स्वय निर्ग्रन्थ होकर अपने विकारो की शाति के लिये तपस्या करने चले गये। घोर तपस्या करने के वाद भी अभिमान का तनिक सा अश जो उनके मन मे रह गया था, वही कैवल्य की प्राप्ति मे फौलादी दीवाल वन गया। अत मे उनकी वहन महासती श्री ब्राह्मी तथा सुन्दरी ने उन्हे प्रतिवोध दिया—

वीरा म्हारा गज (अभिमान) थकी ऊतरो ।
गज चढ्या केवल नहिं होसी रे ।

ये शब्द सुनते ही वाहुवली का अभिमान विलीन हो गया। तथा उन्हे केवलज्ञान प्राप्त हुआ। इससे ज्ञात हो जाता है कि दुर्गुणो का सिरताज अहकार जब तक रहता है मनुष्य की सारी साधना पर पानी फेरता रहता है।

वधुओ ! रूप का मद करना भी विलकुल निस्सार है। आप और हम सभी अनुभव करते है, जानते है कि रूप तथा यौवन कितना अस्थिर होता

है। आज जो सुन्दर प्राणी अपने रूप पर फूला नही समाता, क्या पता कल ही उस पर शीतला का प्रकोप हो जाए तथा उसका मारा चेहरा भद्दा हो जाए। अच्छे-अच्छे सम्पन्न व्यक्तियो का भी क्षण भर मे हार्टफेल होता देखा जाता है।

इन आकस्मिक सकटो के अतिरिक्त भी, हम देखते ही है, कि ज्यो ज्यो आयु की वृद्धि होती है, सौन्दर्य नष्ट होता जाता है। इन्द्रियाँ शिथिल होती जाती है तथा शारीरिक शक्ति क्षीण हो जाती है। क्या है इस शरीर मे ? हड्डिया, मास, रक्त, तथा मज्जा ही तो—

रुधिर मांस चर्बी पुरीष की, है थैली अलबेली,
चमडे की चादर ढंकने को, सब शरीर पर फैली।
विविध व्याधियो का मन्दिर तन, रोग शोक का मूल।
इस भव परभव मे शाश्वत सुख के सदैव प्रतिकूल।
ज्ञानी करो राग परिहार, हंस का जीवित कारागार।

तो इस आत्मा रूपी निर्मल हस को जिन अपवित्र वस्तुओ ने कैदी बना रखा है, क्या उनका गर्व होना चाहिये ? गोस्वामी तुलसीदासजी अपनी पत्नी रत्नावली के लिये आँधी पानी मे पागल की तरह भागते चले गए। कहा जाता है— खिड़की से लटकते हुए सर्प को रस्सी समझ कर उसके द्वारा ऊपर चढे। किन्तु उनकी पत्नी के कुछ शब्दो ने ही उनका विवेक जागृत कर दिया। उनका जीवन ही बदल दिया—

अस्थि - चर्ममय देह मम तामे ऐसी प्रीति,
ऐसी जो श्री राम मे, होति न भव-भीति ॥

उलटे पैरो तुलसीदासजी लौट गए और अपने राम मे मगन हो गए। रूप व यौवन से विरक्ति ने उन्हे अमर कर दिया।

गाधीजी ने कहा—'वास्तविक सौन्दर्य तो हृदय की पवित्रता मे होता है।" पर साथ ही साथ किसी दार्शनिक ने यह भी कहा है "सौन्दर्य तथा पवित्रता का सयोग क्वचित् ही होता है।" जीवन का असली सौन्दर्य कैसे मिलता है इस पर प्लेटो ने लिखा है—

"Man moves form beautiful things to beautiful ideas , form beautiful ideas to beautiful life from life to absolute beautyr"

भरत चक्रवर्ती बडे स्वरूपवान् थे। एक बार वे कॉच के महल मे अपना रूप देख रहे थे कि उसी समय उनके हाथ की एक अगुली मे से अगूठी निकल कर गिर पडी। अगुली सौदर्य-विहीन दिखाई दी तो उन्होने अपने शरीर के समस्त आभूपण एक-एक करके हटा दिये। तत्पश्चात् दर्पण मे देखा तो अनुभव किया कि यह सौन्दर्य तो ऊपरी वस्तुओ का है अत व्यर्थ है। इस सौन्दर्य के द्वारा क्या हासिल हो सकता है ? इसके द्वारा क्या आत्मा का कभी भी कुछ लाभ हो सकेगा ? भरत को यह चिन्तन करते ही केवलज्ञान की प्राप्ति हो गई।

बधुओ ! किसी भी तरह का अहकार मनुष्य का पतन कर देता है। मान की भावना हृदय के समस्त सद्‌गुणो के लिये घातक होती है। अत इसका त्याग करना मानव मात्र के उत्कर्ष के लिये अनिवार्य है।

आज हमने क्रोध तथा मान, इन दो कषायो पर विचार किया। समय अधिक होगया है अत: माया तथा लोभ के विपय मे कल कहने की भावना है।

१० | कषाय-विष

[खंड २]

सज्जनो ! कल हमने विचार किया था कि क्रोध तथा अहकार किस प्रकार आत्मा के पतन का कारण बनते है तथा इन आवेशो का कितना भयानक दुष्परिणाम सामने आता है ।

आज हम माया तथा लोभ के विषय मे चर्चा करेंगे । माया एक तीक्ष्ण धार वाली असि है जो आपसी-स्नेह सबध को क्षण भर मे ही काट देती है । श्री दशवैकालिक सूत्र मे कहा है—

"माया मित्ताणि नासेइ"

माया मित्रता का नाश करती है । कपटी व्यक्ति एक बार भले ही अपना काम बनाले किन्तु उसके साथ किसी की मित्रता तथा सहानुभूति सदा स्थिर नही रह सकती । मायाचारी पुरुष सदा सब के अविश्वास का पात्र बनता है । माया अनेक दोषो को जन्म देती है तथा शॉति का सर्वनाश करती है । यह विश्व मे जन्म-मरण के चक्कर को बढाती है तथा सद्गति की प्राप्ति मे बाधक बनती है ।

माया गइ - पडिग्घाओ ।

माया से सद्गति का विनाश होता है । माया एक नुकीले शूल के सदृश है जो अनन्तकाल तक हमारी आत्मा मे चुभती रहती है और हमारे विकास पथ मे बाधक बनती है । क्योकि तीव्र माया मनुष्य को मिथ्यादृष्टि बना देती है । भगवती सूत्र मे बताया गया है—"माई मिच्छादिट्ठी अमाई सम्मद्दिट्ठी" अर्थात् मायाचारी मिथ्यादृष्टि होता है तथा मायारहित सम्यग्दृष्टि ।

कपट अपना कार्य वडी ही सावधानी व चतुराई से करता है। यह व्यक्ति के अन्तर मे छिपा हुआ रहता है और वक्त पर अपना प्रभाव दिखाता है। लेकिन इसके ऊपरी लक्षण है – वाणी मे मधुरता, कोमलता तथा मोह-कता। क्रोध, मान तथा लोभ आदि वाह्य व्यवहार से पहिचाने जाते है पर कपट ऊपर से दृष्टिगत नही होता। इसलिए उसका प्रभाव वडा घातक तथा अचानक होता है। देखनेवाले उसे वडा सज्जन तथा हित-चिंतक समझते है —

एक वगुला बैठा तीर, ध्यान वाको नीर मे,
लोग कहे वाको चित्त, वस्यो रघुवीर में।
वाको चित्त मछलियाँ मॉय जीव की घात है,
पण हा वाजिन्द दगावाज को, मिले नहीं रघुनाथ है।

वात सत्य है। दगावाज व्यक्ति कितना ही भगवद् भजन का ढोग करे, स्थानको मे, मन्दिर मे जाए, सामायिक व्रत, जप तथा तप करे पर उसे भग-वान् नही मिल सकते। सिर्फ हमारी आत्मा को ही पतन की ओर नही ले जाती वरन् वह हमारे व्यावहारिक जीवन मे भी हानि पहुँचाती है। माया मित्रता का नाश करती है और मित्र के विना जीवन नीरस हो जाता है। साथी न रहने पर मनुष्य अकेला कुछ नही कर पाता। परिणामस्वरूप प्रगति के मार्ग मे वाधा आ जाती है। यह जीवन तो एक तीर के समान है। तीर छोड देने पर फिर वापिस नही आता, उसी तरह जिन्दगी चली जाए तो फिर सहज वापिस नही मिलती। किसी शायर ने कितना सुन्दर कहा है—

जिन्दगी है एक तीर जाने न पाये रायगाँ (व्यर्थ)।
पहले निशाना देख लो वाद में खेंचो कमा ॥

माया करने से तिर्यक् योनि प्राप्ति होती है—"माया तैर्यग्योनस्य"। तिर्यंच तिरछा चलता है पर मानव सीधा चलता है। सीधापन व सरलता ही उपयोगी तथा शोभास्पद होती है। सीधी लकडी पर ध्वजा लहरा सकती है, टेढी पर नही। इसी तरह सरल आत्मा मे ही सम्यक्त्व रह सकता है, वक्र हृदय मे नही।

हृदय की वक्रता को ही माया कहते है। माया आत्मा की सरलता को नष्ट करती है तथा कुटिलता को प्रोत्साहन देती है। ऐसे हृदय मे धर्म के वीज अकुरित नही हो सकते। भगवान महावीर ने कहा है—"सोही उज्जु-यभूयस्स, धम्मो सुद्धस्स चिट्ठई।"

सरल भाव वाली आत्मा की ही शुद्धि होती है, तथा शुद्ध आत्मा मे ही धर्म ठहर सकता है।

अगर हम नमक लगे हुये वर्तन मे दूध रख देगे तो वह फट जायगा। किन्तु उसी वर्तन को मॉज कर शुद्ध कर लेगे तो दूध वैसा ही शुद्ध बना रहेगा।

साधक को अगर अपने हृदय मे अध्यात्म की पवित्र ज्योति जलानी है तो उसे कपटाचरण की वक्रता को मिटाना पडेगा। आत्मा मे सीधापन व सरलता आ जाने पर वह शुद्ध हो जायगी और तव साधक जो भी क्रियाऐ करेगा उनका परिणाम शुभ होगा। दभ तथा प्रवचना पूर्ण त्रियाए भी सार्थक नही हो सकती।

वधुओ! आज तो साधना के क्षेत्र मे भी माया का साम्राज्य है। वाना वदलने से, मृगछाला पहनलेने से अथवा केश-लुचन कर लेने से ही कोई साधु नही हो सकता। कवीरदास ने कहा—

केसन कहा बिगारिया, जो मूंड़ो सौ बार।
मन को क्यो नहिं मूड़िये, जामे विषय विकार॥

सच्ची साधुता तो मन को कपायविकार रहित करने मे है अर्थात् मन को बदलने मे है। अन्यथा क्या फायदा हुआ अगर—"वाना वदला सौ सौ वार, मन वदला ना एकहुवार।" यह वडा भारी धोखा है। सिर्फ समाज के लिये ही नही, वरन स्वयं अपने आपको भी धोखा देना है। वाह्य जीवन मे साधना हो पर आतरिक जीवन मे अगर वासना है तो उस प्राणी का अपने आप से वढकर महान् शत्रु दूसरा कोई नही हो सकता। इससे तो अच्छा हैं कि साधना का दिखावा छोड दिया जाय।

गृहस्थ भी माया के खेल मे पीछे नही है। सतो के सामने आते ही वे जो 'तिक्खुत्तो' के पाठ से झुक-झुक कर वदना करते है, वे ही व्यक्ति स्थानक की सीढियो से उतरते ही मुनियो की कटु आलोचना करना शुरू कर देते है तथा छिद्रान्वेपण करना शुरू कर देते है। दुकान मे और घर पर अनेको प्रकार के अनैतिक आचरण करते है पर उपासरे व स्थानको मे जाकर भक्ति-भाव से सामायिक करने का ढोग करते हैं। पर पापो को ढँकने के लिये जो धार्मिक क्रियाऐं की जाती है उनसे वगुला भगत की उपाधि तो मिल सकती है, किन्तु भगवान नही मिल सकते। साधको के तो मन, वचन तथा कर्म मे एक ही भाव होता है—

मनस्येकं वचस्येकं कर्मण्येकं महात्मनाम् ।

सज्जनो ! मेरे कहने का आशय यह न माने कि सभी गृहस्थ मायाचारी होते हैं। आज मेरे सामने जो वृहत् जन समुदाय है, इसमे से अनेको महान् आत्माओ से मैं वचपन-से ही परिचित हूँ। इनका जीवन इतना पवित्र तथा त्यागमय है कि मेरा मन भी इन महान् श्रावको के लिये श्रद्धा से भर जाता है। लगता है वाना वदले हुए अनेको से इनका जीवन उच्च है। वहनें कभी कभी कहती हैं आप वहुत सुखी हैं क्योकि आपने ससार छोड दिया है। मैं सोचती हूँ—किसने कितना ससार छोडा है, यह कौन जानता है ? यह तो "वहुरत्ना वसुधरा" है। आज आडम्बर का वोलवाला है। कही मठाधीशो-जगद्गुरुओ का सम्मान उसके मस्तक पर छत्र लगाकर उन्हे रजत मडित सिंहासन पर आसीन करके अनवरत चवर डुलाकर किया जाता है। उनके आगमन पर पावडे विछाए जाते है। तो कही पर साधु नंगे पैर अपना सामान भी स्वय लिये हुए विचरण करते है। भिक्षा स्वयं लाते हैं। कही न मिले तो फाके करते है। कही ऐसे ऐसे भी साधु है जो शीत व ग्रीष्म के भयानक कष्टो को सहन करते हुए तपस्या-रत रहते हैं। जनता अपने अपने मतानुसार सभी का आदर करती हैं, श्रद्धा रखती है और वदना करती है। पर सच्ची साधुता कहा है ? किसमे है ? यह कौन जान सकता है ?

मेरे कहने का तात्पर्य, वधुओ ! सिर्फ यही है कि साधुता नाना प्रकार के वेशो पर अथवा क्रियाओ पर निर्भर नही है। किसी भी वेश के प्राणी के हृदय मे वह हो सकती है। दीन-हीन दरिद्र अथवा किसी करोडपति की आत्मा मे भी, अगर सरलता है, माया नही है, सर्वभौतिक साधन सुलभ होते हुए भी अगर वह जल मे कमल की तरह निर्लिप्त है तो वह साधक है और मुक्ति का अधिकारी है। उत्तराध्ययन सूत्र मे स्पष्ट वताया गया है—

पिंडोलए व दुस्सीले, णरगाओ न मुच्चइ ।
भिक्खाए वा गिहत्थे वा सुव्वए कम्मई दिव ।

अर्थात् भिक्षु भी अगर सदाचारी नही है तो उसे नरक मे जाना पडेगा। और गृहस्थ अगर सुव्रतो का पालन करने वाला होगा तो देवलोक मे जा सकेगा। आशय यही है कि साधु की साधना भी अगर सच्ची नही है, उसमे कपट है दिखावा है तो व्यर्थ है। यह कपट जीवन को ग्रस लेने वाला पिशाच है, अत मनुष्य को जितना शीघ्र हो सके इसके चगुल से वचकर आत्मा के कल्याण का सही मार्ग अपना लेना चाहिये ।

किसी भी प्रकार के छल कपटपूर्ण व्यवहार से सद्भावनाओ और सद्गुणो का विकास नही होता । ऊपर से यह कितना भी आकर्षक हो पर उसके मूल मे वचकता होती है । स्वार्थसिद्धि की भावना रहती है ।

बाह्य क्रियाओ का जीवन मे जितना मूल्य है उससे असख्य गुना मूल्य उसकी आतरिक शुद्धता तथा सरलता का है । शारीरिक सौन्दर्य न होने पर भी जिसका अन्त करण सुन्दर हो, वह महान् होता है । किसी ने ठीक कहा है —

सागरे जर्री हो या मिट्टी का हो ठीकरा ।
तुम निगाह उस पर करो जो उसके अन्दर है भरा ॥

मोने का पात्र भी मदिरा से भरा हो तो किस काम का ? पान करने पर वह मस्तिष्क को विकृत कर देगा । इसके विपरीत, मिट्टी के घडे मे अमृत भरा है तो वह उपयोगी है और वह अमरत्व प्रदान करेगा ।

इसी तरह मायारहित व्यक्ति, चाहे वह कितना भी दीन-हीन तथा कुरूप है, हमारे लिये सराहनीय है । और कपटी व्यक्ति, भले ही वह धनवान् अथवा स्वरूपवान् है, तो भी त्याज्य है, अविश्नसनोय है । मायाचारी की वाणी मे वडी मिठास होती है पर उसके हृदय मे भयकर विष होता है । मयूर का केकारव बडा ही कर्ण-प्रिय होता है पर वह सर्प को भी निगल जाता है । ऐसे व्यक्तियो की छाया से भी दूर रहना चाहिये । तुलसीदासजी कह गए है—

हृदय कपट वर वेष धरि, वचन कहहि गढ छोलि ।
अबके लोग मयूर ज्यो, क्यो मिलिये मन खोलि ॥

आधुनिक सभ्यता शिष्टता का पाखड है । पद, वेतन अथवा पुरस्कार के लोभ से लोग अपनी सज्जनता का मिथ्या विज्ञापन करते है । बनावटी शिष्टता मे धूर्तता छिपी रहती है— मैत्री मे विश्वासघात है, 'छल है छिपा विनय मे" यह बिलकुल सत्य है । भीतर सद्भावना न होने से बाहर उसका प्रकाश प्रयत्न करने पर भी नही आ सकता और न पकडा ही जा सकता है । एक उदाहरण से इसे समझिये ।

एक वृद्धा अपनी एक गठरी लिये हुए कही जा रही थी । मार्ग मे जब थक गई तो विश्राम के लिये बैठ गई । एक घुडसवार उधर से निकला तो वृद्धा बोली—भाई, मेरी यह गठरी अपने घोडे पर रखलो मैं आगे चलकर ले लूँगी मैं बहुत थक गई हूँ । ले चलने मे असमर्थ हू ।

घुडसवार अकड कर बोला – क्या मैं तेरे बाप का नौकर हूँ जो गठरी ले चलूँ ? कहकर घोडे को एड लगाता हुआ चल दिया। कुछ दूर जाकर उसे ध्यान आया कि अगर मैं गठरी घोडे पर रख लेता तो वह मुझे सहज ही मिल जाती। यदि मैं गठरी उसे वापिस नही देता तो वह मेरा क्या कर लेती ?

यह ध्यान आते ही वापिस लौटा और बुढिया के पास आया। वृद्धा के पास आकर बडे ही मधुर स्वर से बोला— मैया ! लाओ तुम्हारी गठरी मैं घोडे पर रखकर ले चलूँ ? इसमे मेरी क्या हानि है ? आगे प्याऊ पर देता जाऊँगा।

बुढिया बडी चतुर और अनुभवी थी। घुडसवार के विनय और माधुर्य-भरे शब्दो मे छिपे हुये कपट को वह पहचान गई और बोली—नही बेटा ! वह बात तो बीत गई। जो तेरे दिल मे आ गया है उसे मेरे दिमाग ने पहचान लिया है। अब मैं स्वय ही धीरे धीरे गठरी लेकर चली जाऊँगी।

इस प्रकार माया से ग्रसित मनुष्य को मुँह की खानी पडती है।— "माया-वशेन मनुजो जन-निन्दनीय।" कपट का व्यवहार करने से मनुष्य जन-साधारण के लिये निन्दा का पात्र बनता है, उसका कोई भी विश्वास नही करता। मायाचारी अपने पैरो पर अपने आप कुल्हाड़ी चलाता है।

वचनात्मक प्रवृत्ति वाला व्यक्ति आध्यात्मिक दृष्टि से तो ठगा जाता ही है, साथ ही भौतिक सुख की प्राप्ति से भी वचित रहता है। एक रोगी डाक्टर से छल करे, एक बीमारी से साथ दस और बीमारियाँ अपनी तरफ से बता दे तो हानि किसकी होगी ? रोगी की ही। विद्यार्थी अपने अध्यापक से छल करे तो क्या वह अध्ययन के क्षेत्र मे आगे बढ सकेगा ? कभी भी नही। इसलिये किसी भी साधक को नही भूलना चाहिये कि माया उसकी साधना को सफल होने देने मे सबसे बडा रोडा है।

लोभ कपाय ससार मे सर्वत्र पाया जाता है। लोभ कपायी प्राणी की पहचान हम सहज ही कर सकते है। लोभ का अर्थ है—ममता तथा तृष्णा। विश्व की कोई वस्तु अपने आप मे परिग्रह नही है उसके प्रति ममता ही परिग्रह है—"मुच्छा परिग्गहो वुत्तो"।

लोभी व्यक्ति केवल सग्रह करने की कामना रखता है। अपनी इस लालसा के कारण वह यह कभी नही सोचता कि मेरी इस वृत्ति से कितनो के घर उजड जायँगे। कितनी हसती हुई आखे रोने लग जायगी तथा कितनो के पेट की रोटी छिन जाएगी। उसके सग्रह की कोई सीमा नही रहती।

जितना भी लोगो को मिलता जाय, थोडा होता है कुबेर का खजाना भी उसे सतुष्ट नही कर सकता।

सपत्ति का उपार्जन व रक्षण करने मे वह कष्ट भी कम नही उठाता। भूख-प्यास की परवाह न करके वह अहर्निश धन की प्राप्ति के लिये प्रयत्न करता रहता हे। चाँदी के सिक्को की मधुर ध्वनि से ही उसकी भूख प्यास शात होती रहती हे। धन कमाने के लोभ मे व्यापारी ग्राहको के द्वारा किया गया अपमान भी बर्दाश्त कर लेते है। पैसा मिलता रहे तो कटु वचन सुन-कर भी उनके मन मे दुख नही होता। सोचते है—"दुधारु गाय की लातेभी भली।" अगर कहीं ग्राहक नाराज हो गया तो सदा के लिये टूट जाएगा।

सग्रह की वृत्ति ही लोभ को जन्म देती हे और द्रौपदी के चीर की भाति लोभ का कही अन्त नही आता। एक पजाबी कवि ने कहा है—

आशा फदे बन्दे दियाँ हुँदिया न पूरियाँ।
कलपदा बथेरा ता भी रहन्दिया अधूरियाँ॥
आख दे स्याने माया-माया नूं है जोड दी।
लखां वालया नूं है रहदी, लोड है करोड़ दी॥
होवे जे करोड तां भी, पेंदिया न पूरियाँ॥ आशा०॥

लोभी बन्दे की तृष्णा कभी भी नही मिटती। अनेक कल्पो तक भी उसकी कामनाएं अधूरी ही रहती है। सयाने व्यक्ति कहते हे कि पैसा पैसे को खीचता रहता है। लक्षाधीश करोडपति बनना चाहता है,और करोडपति बन जाने पर कामना और भी बढ जाती है।

एक बार सम्राट् सिकन्दर किसी योगी के चमत्कार के बारे मे सुनकर उसके पास गये। कई दिन तक उन्होने योगी की बडे ही मनोयोगपूर्व सेवा की। आखिर एक दिन योगी ने कहा—तुमने मेरी बहुत सेवा की है, बताओ क्या चाहते हो ?

सिकदर इसी क्षण की प्रतीक्षा मे थे। मन ही मन खुशी से नाचते हुए उन्होने कहा—भगवन्! मेरी कामना है कि सारी पृथ्वी पर मेरा आधिपत्य हो जाए। योगी सिकन्दर की तृष्णा को समझ गए और उन्हे शिक्षा देने के विचार से कुछ अपनी झोली मे से निकालने लगे। झोली मे से उन्होने एक मनुष्य की खोपडी निकाली और सिकन्दर को देकर कहा—इसको अनाज से भर दो। जिस क्षण यह खोपडी अनाज से भर जाएगी, उसी क्षण सारी पृथ्वी पर तुम्हारा अधिकार हो जाएगा।

सिकन्दर फौरन उसे लेकर अपने महल मे पहुँचे और अपने सामने एक सेर ज्वार के दाने मगाकर खोपड़ी मे भरने लगे। पर सेर भर ज्वार डालने के बाद भी उन्होंने देखा कि खोपडी खाली की खाली ही है। और पाँच सेर, फिर दस सेर, बीस सेर, मन भर और फिर बोरिया की बोरिया लाकर उँडेली गई पर खोपडी तो खाली ही रही। सिकन्दर हैरान हो गए। समझ गए कि यह योगी की चामत्कारिक खोपडी है।

वह उलटे पैरो योगी के पास पहुँचे और सारी बात बताई।

योगी हँस पडे और बोले—सम्राट्! यह एक मनुष्य की खोपडी है। एक राज्य भी इसे भर नही सका तो ज्वार के थोडे से दाने इसे कैसे भर सकेंगे ?

सिकन्दर समझ गया और शर्मिन्दा होकर अपने राज्य को लौट गया।

ससार मे मनुष्य जब तक तृष्णा से युक्त रहता है तब तक वह समृद्ध होने पर भी सदा दरिद्र ही बना रहता है—

यावत्सतृष्णाः पुरुषो हि लोके,
तावत्समृद्धोपि सदा दरिद्रः।

—सौदरा नद

रहीम ने भी यही कहा है ' जिनको कछू न चाहिये सो ही शाहगाह।" मनुष्य को किसी भी उपयोगी वस्तु का आवश्यकता से अधिक सग्रह करने का अधिकार नही है। भागवत मे नारद ने कहा है कि "जितने से अपना पेट भरता हो, उतने मे ही प्रत्येक व्यक्ति का स्वत्व है। जो उससे अधिक सचय करता है वह चोर और दन्डनीय है।"

यावद् भ्रियेत जठर तावत् स्वत्व हि देहिनाम्।
अधिक योऽभिमन्येत स स्तेनो दण्डमर्हति ॥

—भागवत

लोभी व्यक्ति धन को ही अपना सब कुछ समझता है। धन से ही वह कल्याण की कामना करता है। वह भूल जाता है कि अर्थ महा अनर्थ का कारण भी बनता है। धन भाई के द्वारा भाई का गला कटवाने का कार्य करता है और पिता-पुत्र मे भी विरोध करवा देता है। धनी व्यक्ति दूसरे के कष्ट को नही समझते। वे धन के पीछे ही पागल रहते हैं। धन वह नशा है जिसके कारण मनुष्य उचित-अनुचित का ध्यान नही रखता है। पर कालान्तर मे उसे पश्चात्ताप करना पडता है राजा मिदास की तरह।

मिदास एक राजा था। उसे धन के प्रति गहरी आसक्ति थी। दिन रात वह अपनी तिजोरिया भरते रहने के प्रयत्न मे ही रहता था। धीरे-धीरे उसके पास अपार धन भी हो गया पर फिर भी उसे सतोष नही हुआ। धीरे-धीरे उसने अपने महल मे एक कमरा भी सोने का बनवा लिया। एक दिन वह रात को बैठा हुआ अपनी धन राशि को गिन रहा था कि अचानक ही एक ज्योतिपुज देव का आगमन हुआ। देव बोला-मिदास! तुम बडे धनी हो। पूरा कमरा ही तुमने सोने का बनवा लिया है। मिदास बोला—देव! एक ही कमरा अभी तो मेरे पास है सोने का, मै तो और अधिक सोना चाहता हूँ। देव ने कहा—अच्छा कितना सोना और चाहते हो तुम? मैं तुम्हे दे सकता हूँ।

मिदास विचार मे पड गया। सोचने लगा—कितना माँगू? वह जितना सोचता उतना ही उसे कम लगता। अत मे वह बोला—भगवन्! कृपया मुझे यह वरदान दीजिये कि मै जिस वस्तु को छूलू वह सोने की हो जाय। देव बोला—एवमस्तु,। कल प्रात काल से ऐसा ही होगा पर इसके लिये तुम्हे पश्चात्ताप करना पडेगा। जब ऐसा हो तो मुझे याद करलेना। इतना कहकर वह अन्तर्धान हो गया।

मिदास को रात भर नीद नही आई। बेसब्री से वह सोचता रहा कि कब सुबह हो और मै देखू कि इस वरदान के कारण मेरी छुई हुई प्रत्येक वस्तु सोना होती है या नही। धीरे-धीरे प्रात काल हुआ। सूरज की पहली किरण के साथ ही मिदास उठ खडा हुआ। देखता क्या है कि बिस्तर गद्दा पलग सोने के हो गये है। मिदास खुशी के मारे उछल पडा और दौड दौड कर प्रत्येक वस्तु को छू कर सोना बनाने लगा। सब चीजे सोने की होती देखकर वह अत्यधिक प्रसन्न हुआ।

कुछ देर बाद नाश्ते का वक्त हुआ और उसके लिये नौकर ने नाश्ता लाकर रखा। मिदास सोने की कुर्सी पर जा बैठा और उसने एक केक का टुकडा खाने के लिये उठाया। छूते ही वह सोने का हो गया। मिदास कुछ हैरान हुआ। सोने के केक को पटक कर उसने दूध का गिलास उठाया और पीने के लिये अपने मुह से लगाया। पर पी नही सका, क्यो कि गिलास और दूध सब सोने के हो चुके थे। मिदास ने पागल की तरह नाश्ते की प्रत्येक वस्तु को छुआ पर एक भी खा नही सका। सब सोने की होती जा रही थी।

अब मिदास को अपने वरदान के लिये महान् पश्चात्ताप हुआ। भूख

प्यास से व्याकुल वह माथे पर हाथ रखे बैठा था कि उसकी अत्यन्त प्रिय पुत्री मैरीगोल्ड आई। क्या बात है पापा! कहती हुई वह आकर मिदास के गले में झूम गई और उसकी गोद में बैठ गई। मिदास ने उसे प्यार करना चाहा पर देखता क्या है कि उसकी नन्ही सी पुत्री निर्जीव और सोने की हो गई है।

अब मिदास दु:ख व शोक के मारे पागल होकर रोने लगा। रोते-रोते उसे देव की बात याद आई कि "जब वरदान के कारण पश्चात्ताप हो तो मुझे याद करना।"

मिदास रोते हुए बार-बार उस देव पुरुष को पुकारने लगा। कुछ ही समय बाद देव का पुन: आगमन हुआ और उसने मिदास के दुख को जानकर उसे उस वरदान से मुक्त किया। मिदास ने वरदान से मुक्त होते ही दौड़कर सबसे पहले अपनी पुत्री को चैतन्य किया। उसे गले से लगाया, प्यार किया तथा उसे ले कर फिर नाश्ते की वस्तुओं को छू कर अपनी भूख तथा प्यास मिटाई।

बंधुओ! अधिक लोभ का परिणाम ऐसा होता है। एक वक्त की भूख तथा प्यास ने राजा मिदास को बता दिया कि धन व कंचन मनुष्य के लिये उपयोगी नहीं है। उनसे पश्चात्ताप के सिवाय और कुछ भी हाथ नहीं आता। 'खलील जिब्रान' का भी कथन है—'अमीर और गरीब का फर्क कितना नगण्य है। एक ही दिन की भूख और प्यास दोनों को समान बना देती है।'

कुछ व्यक्ति समाज में अपना बड़प्पन प्रदर्शित करने के लिये धन का संचय करते हैं और अत्यधिक धन की प्राप्ति हो जाने पर अहंकार के कारण और किसी को बराबर नहीं समझते। गर्व के कारण उनके पैर ही जमीन पर नहीं पड़ते। वे भूल जाते हैं कि बड़प्पन धन में नहीं है। आज का राजा कल रंक हो सकता है। गिरधर कवि ने ऐसे लोगों के लिये ही कहा है—

दौलत पाय न कीजिये, सपने में अभिमान।
चंचल जल दिन चारि को, ठांउ न रहत निदान॥
ठांउ न रहत निदान जियत जग में जस लीजे।
मीठे वचन सुनाय, विनय सब ही की कीजे॥
कह गिरधर कविराय, अरे! यह सब घट तौलत।
पाहुन सम दिन चारि, रहत सब ही के दौलत॥

बडप्पन अच्छा गहना व कपडा पहन कर दिखाने मे भी नही है। अगर ऐसा होता तो वेश्या जो कि नित नए व अत्यन्त मूल्यवान वस्त्र तथा गहने पहनती है उसे समाज आदर क्यो नही देता ?

अच्छा खाना-पीना भी बडप्पन नही है। प्रथम तो कितना भी कोई अमीर क्यो न हो उसे भी अन्न, साग, सब्जी व फलादि खाने पडेगे। क्या किसी वादशाह को किसी ने गज-मुक्ता अथवा हीरे जवाहरात खाते देखा है ?

मेरे कहने का तात्पर्य यही है कि समाज मे बडप्पन दिखाने के लिये भी लोभ करके अथवा अन्य व्यक्तियो का शोपण करके अपनी तिजोरिया भरना कोई अर्थ नही रखता।

कपायो के वश मे होकर ही मनुष्य इस ससार मे चौरासी लाख योनियो मे चक्कर काटता रहता है और उसके कर्म मदारी की तरह उसकी आत्मा को नचाते रहते है। विद्वद्वर्य प० शोभाचन्द्रजी भारिल्ल का एक पद है—

कर्मो और कषायो के वश होकर प्राणी नाना।
कायो को धारण करता है, तजता है जग जाना ॥
है संसार यही अनादि जीव यही दुख पाते।
कर्म-मदारी जीव-वानरो को हा! नाच नचाते ॥

लोभ-कषाय, और सब कपायो की अपेक्षा जल्दी मनुष्य के मन मे प्रवेश कर जाता है। कालातर मे मनुष्य वृद्ध हो जाता है पर लोभ कभी बूढा नही होता, धन प्राप्ति के साथ साथ वह जवानो की तरह शक्तिशाली होता जाता है। जुविनल ने कहा—

'Avarice increases with the increasing pile of gold"

जैसे जैसे धन मे वृद्धि होती है लालच वढता है। लालची व्यक्ति ससार की सारी सम्पदा स्वय पाना चाहता है। दरिद्र व्यक्ति तो ससार की थोडी सी वस्तुओ मे सन्तोप कर लेता है, विलासी व्यक्ति वहुत-वहुत सी वस्तुओ मे, किन्तु लालची व्यक्ति तो ससार की सभी वस्तुएं पा लेना चाहता है।

"Poverty wants some things, luxury many, avarice all things"

लालची किसी के प्रति उदार नही होता, स्वय अपने को भी वह बडा कष्ट देता है। न अच्छा स्वय खाता-पहनता है, न ही परिवार के व्यक्तियो को खिला-पहना सकता है। उसे अपने आत्मीयजन भी दुश्मन दिखाई देते है। इसके विपरीत उदार व्यक्ति सारे ससार को अपना घर समझते है और प्रत्येक व्यक्ति को अपना भाई।

महारानी एलिजाबेथ के समय मे जटफेन मे स्पेनिशो के साथ युद्ध हुआ। उस समय वीर सर फिलिप सिडनी युद्धस्थल मे घायल होकर गिर पडे। वह अत्यन्त प्यासे थे। बडी मुश्किल से एक सिपाही ने उन्हे एक प्याला जल लाकर दिया। सिडनी महोदय जल पीने लगे। उसी समय उन्होने देखा कि एक सिपाही उनसे भी अधिक घायल तथा प्यास से छटपटा रहा है। सर सिडनी ने उसी क्षण वह प्याला उस सिपाही को दे दिया और कहा—"भाई, तुम्हे मेरी अपेक्षा पानी की अधिक आवश्यकता है।" कितनी उदारता थी उनमे! क्योकि लालच नही था।

लोभी व्यक्ति के सामने अगर कभी कोई याचक आ जाय तो उसे ऐसा लगता है जैसे साक्षात् काल आ गया हो। दान देने के नाम से उसका सेर भर खून सूख जाता है। लोभी का तो सिद्धान्त ही यही होता है कि "चमडी जाय पर दमडी न जाय।" किन्तु कभी देना पड जाता है लोक-लाज अथवा समाज के दबाव से, तो कुढकर, खीझकर, जलकर और महादुखी होकर उसके हाथ से पैसा छूटता है।

नवाब रहीम प्रतिदिन दान दिया करते थे। रुपयो पैसो की ढेरी लगाकर नीची आखे किए वे देते रहते थे। एक दिन गङ्ग कवि आ गए। उन्होने देखा कि एक व्यक्ति दो-तीन बार ले चुका फिर भी रहीम दिये जा रहे हैं। यह देख गङ्ग कवि ने कहा—

सीखे कहा नवाब जू देनी ऐसी दैन।
ज्यो ज्यो कर ऊँचे चढ़े त्यो त्यो नीचे नैन॥

रहीम ने उत्तर दिया—

देने हारा और है जो देता दिन रैन।
मानव भ्रम हम पै करें या विधि नीचे नैन॥

इसीलिये कहते है कि अगर किसी को कुछ देना है तो श्रद्धापूर्वक दो। अगर श्रद्धा नही तो कुछ भी मत दो—

"Give with faith, if you lack faith give nothing."

एक वार किसी धार्मिक फिल्म के रिकार्ड की आवाज कान मे पडी थी "क्या जाने किस भेष मे वावा मिल जाए भगवान रे ! सबको गले लगाना"...

सुनकर लगा कितनी सत्य बात हे। हमारा धर्म, हमारे शास्त्र यही तो कहते है। धर्म मदिर मे, मसजिद मे, गुरुद्वारे, अथवा मठो मे नही है। धर्म, पूजा, पाठ, जप, तप, सामायिक व प्रतिक्रमण मे ही नही है, असली धर्म मन की उदारता मे है। करुणा मे, सहानुभूति मे, नम्रता मे, और सरलता मे है। भगवान् इन्ही लोगो मे रहते हैं। गरीब दुखियो का खून चूस चूस कर निर्माण किये गये वडे वडे भवनो मे भगवान् नही रहते।

एक अमीर व्यक्ति रात दिन पूजा पाठ करता था। मदिर मे जाकर घटो भगवान् के चरणो मे सिर झुकाए रहता था। विना सध्या व गायत्री का पाठ किये खाना नही खाता था। एक दिन रात को स्वप्न मे भगवान ने उससे कहा कि मैं कल तुम्हारे यहा आऊँगा।

अमीर खुशी के मारे नाच उठा। सुवह से ही सारे घर को सजा दिया। भगवान् के स्वागत के लिये अनेक प्रकार के व्यजन वनवाए ! उनके विश्राम के लिये अनेक साधन जुटाए। मोटे गद्दे वाला पलग विछा दिया और भी अमीरो के योग्य सारी तैयारियाँ करली।

पूरी तरह से तैयारी कर के वह भगवान् की राह देखने लगा। थोडी देर वाद देखता क्या है कि एक जर्जर वूढा लकडी के सहारे फाटक पर आया और पेट भरने के लिये कुछ याचना करने लगा। अमीर ने गुस्से के मारे वुरा भला कहा और भगा दिया। थोडी और देर वाद एक कुष्ठ रोग से पीडित बुढिया आई। आखो से दिखाई नही देता था, कमर झुकी हुई थी। उसने भी अमीर के आगे हाथ फैलाया—अमीर ने दरवान के द्वारा उसे भी धक्का दिलवाकर निकाल दिया। बिचारी बुढिया दु.खपूर्ण नेत्रो से अमीर के भवन की ओर देखती हुई धीरे २ चली गई। अमीर भगवान् की प्रतीक्षा ही करता रहा। थोडी और देर वाद एक कवूतर लहूलुहान किसी हिंसक जानवर के द्वारा घायल किया हुआ, आकर उसके समीप ही गिर पडा। वरामदे मे विछाया हुआ कालीन उसके खून से गदा हो गया। अमीर गुस्से से आगबवूला हो गया और उस असहाय कवूतर को उसने उठाकर एक तरफ फेक दिया। कवूतर ने उसी समय दम तोड़ दिया।

अमीर सारे दिन भगवान् की प्रतीक्षा करता रहा पर निराशा ही हाथ लगी। अन्त मे रात को जब वह नींद मे था, उसे फिर भगवान् दिखाई दिये। वह बोला—भगवन्! मैने सारे दिन प्रतीक्षा की पर आप वादा करके भी नही पधारे।

भगवान् ने तिरस्कारपूर्ण दृष्टि से उसे देखा और कहा मैं तीन बार तुम्हारे दरवाजे पर आया पर तुमने मुझे हर बार दुत्कार दिया। देखो, उधर! अमीर ने भगवान् के निर्देशानुसार दृष्टि घुमाई तो उसे सुबह आया हुआ बूढा, बुढिया तथा दम तोडता हुआ कबूतर दिखाई दिया। भगवान् तो अन्तर्धान हो गए थे।

कवि गिरधर ने सत्य ही कहा है—

> साई समय न चूकिये यथा शक्ति सनमान।
> को जाने को आइ है, तेरी पौरि प्रमान॥
> तेरी पौरि प्रमान समय असमय तकि आवे।
> ता को तू जिय खोलि हृदय भरि कंठ लगावै॥
> कह गिरधर कविराय, सबै या में सधि आई।
> सीतल जल फल फूल समय जनि चूको साई॥

द्वार पर आए हुए याचक का अपमान करने से बढकर क्या पाप हो सकता है? भिक्षा माँगने वाला तो अपनी मजबूरियो से दुखी और मागने की शर्म से मृतक तुल्य होता ही है किन्तु उसे तिरस्कृत, अपमानित तथा इन्कार करने वाला उससे पहले ही मृतकवत् माना जाता ह। रहीमजी ने कहा है—

> रहिमन वे नर मर चुके, जे कहुँ मांगन जाँहि।
> उनते पहिले वे मुए जिन मुख निकसत नाँहि॥

सज्जनो! हम मुख्य विषय से कुछ दूर आ गए हैं प्रसग वशात्। मै बता यही रही थी कि लोभी व्यक्ति अन्य को कष्ट देने मे तिरस्कृत तथा अपमानित करने मे आगा-पीछा नही सोचते। लोभ रूपी महाकषाय के वश मे होकर जघन्य से जघन्य पाप करने मे भी नही हिचकिचाते।

आज की दुनिया मे अधिक धनी व्यक्ति ही बडा समझा जाता है। किन्तु यह भी ज्वलन्त सत्य है कि जिसके पास जितना अधिक पैसा है वह उतना

ही अधिक परिग्रही है । परिग्रह पाप है । क्योकि पैसा लोभ से इकट्ठा होता है और लोभी पैसे के लिये अधिक से अधिक असत्य, चोरी और हिसा का आचरण करता है ।

कई भाई कहते है कि हम प्रामाणिकता से पैसा इकट्ठा करते है इसमे क्या पाप है ? उन भाइयो को समझना चाहिये कि हो सकता है उनकी प्रामाणिकता के कारण उन्हे चोरी, हिसा तथा असत्य का पाप न लगता हो, पर यदि उनके हृदय मे ममता है तो उन्हे परिग्रह का पाप तो लगता ही है । अत इसे भी छोडना चाहिये । लोभ होने से ही परिग्रह वढता है । अगर उसे त्याग दिया जाय तो परिग्रह अपने आप कम होता चला जाएगा । समय वार वार नही आता । इसी प्रकार मनुष्य जन्म भी चला जाने पर फिर जल्दी नही मिल सकता ।

कपायो को वढाने से तथा इनके वश मे हो जाने से दुर्गु णो का सचय होता है और मुक्ति प्राप्ति की कामना अनन्त के गर्भ मे विलीन हो जाती है । कपायो द्वारा उपार्जित कर्मों का फल भोगने के लिये आत्मा को वार वार जन्म-मरण करना पडता है । न जाने किस-किस पर्याय मे आत्मा दुख पाती हुई घूमती है । उन पर्यायो मे वह अपना भला बुरा भी नही सोच सकता । इसीलिये ज्ञानी पुरुपो ने कहा है कि मनुष्य भव को वृथा मत जाने दो । एक क्षण भी गया हुआ वापिस नही आएगा । अगर कपायो के वश मे ही सदा रहे तो एक दिन ऐसा आएगा कि मिदास की तरह हाथ मल-मल कर पछताना पडेगा । अपने कृतकर्मों के लिये अपनी आत्मा ही वार वार धिक्कारेगी —

> **लानत औए लानत ते नूं कर्मा दिया मारिया ।**
> **अपना तू चंगा मंदा, कुछ ना वेचारिया ।**
> **गफलत दी चादर वे तूँ सो गया तान के,**
> **पैर कुल्हाडी मारी अपने तूँ जान के ।**
> **धर्म न कीता एवें वक्त गुजारया ॥ लानत औए ॥**

अर्थात् कर्मों के मारे, तुझे वार वार लानत है । तूने अपनी भलाई व वुराई के वारे मे भी नही सोचा । जिस समय तुझे जागना चाहिये था अर्थात् शुभ की प्राप्ति के लिये कुछ प्रयत्न करना चाहिये था, उस समय तू प्रमाद रूपी चादर ओढकर सो गया । कभी आत्मचिंतन नही किया । इस प्रकार

तूने अपने आप अपने पैर पर कुल्हाडी मार ली है। सारा समय व्यर्थ खो दिया, तनिक भी धर्म का कार्य नही किया।

बंधुओ! जब तक शरीर काम देता है तब तक प्रत्येक को सावधानी-पूर्वक बिना पल मात्र भी खोए, इसका लाभ उठा लेना चाहिये। सदा ध्यान रखना चहिये कि कषाय कभी हम पर हावी न हो सके। आत्मा की ज्योति को आच्छादित करके मद न कर दे। इसीलिये तीव्र विष की तरह हमे इनका त्याग कर देना चाहिये।

११ | स्वागत है पर्वराज..!
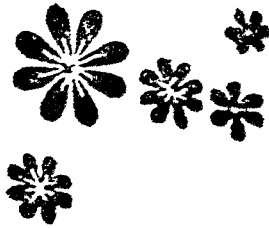
धर्मप्रेमी भाइयो तथा बहिनो ! आज पर्युषण पर्व का पहला दिवस है, जिसकी प्रतीक्षा हम कई दिनो से कर रहे थे। आज का दिन परम पवित्र तथा पावन है। आज से हमारा धार्मिक सप्ताह प्रारम्भ हो रहा है। हम प्राय देखते है कि नागरिक, कभी कभी स्वच्छता सप्ताह, राष्ट्रीय बचत-सप्ताह, कृपि-सप्ताह, मनोरजन सप्ताह आदि आदि सप्ताहो का आयोजन करते है और बडे उत्साहपूर्वक विशेप-विशेष तरीको से उन्हे मनाते है। इसी प्रकार यह हमारा धार्मिक सप्ताह है, जिसे हम रोज के साधारण दिनो की अपेक्षा अधिक लगन से, मन की शुद्धि का ध्यान रखते हुए मनाते है। प्राचीन समय से इस लोकोत्तर पर्व को हम मनाते चले आ रहे है।

एक दिन मैंने आपको बताया था कि भारत मे पर्वो की सख्या अगणित है। भारत जितने पर्व किसी भी देश मे नही मनाये जाते। वैसे मोटे तौर पर हम उनके दो भेद कर सकते है। प्रथम तो लौकिक तथा दूसरे लोकोत्तर।

लौकिक पर्वो का इतिहास देखा जाय तो मालूम होगा कि मूल मे उनके कई कारण है, जिनके द्वारा इन पर्वो को मानने की शुरुआत हुई। नाग-पचमी, शीतला, समुद्र-पूजा, अग्नि-पूजा आदि आदि भय के कारण मनाए जाने वाले पर्व है। जिनके मूल मे यह भय होता है कि नाग पूजा न की जाय तो नाग कभी डस न ले, शीतला की पूजा न करे तो कही बच्चो को चेचक न निकल आये ! इसी प्रकार जल से डूब मरने अथवा अग्नि से जल मरने का भी भय रहता है। लालच से मनाये जाने वाले पर्वो मे दिवाली (लक्ष्मी पूजन) मुख्य है। यद्यपि उसका उद्देश्य वीर निर्वाण की स्मृति द्वारा आध्यात्मिक प्रेरणा प्राप्त करना है। रक्षा-बधन भी मूल मे तो लालच से

पैदा हुआ पर्व नही था पर आजकल उसमे लालच भी शामिल हो गया है। निम्न श्रेणी के ब्राह्मण चाहे जिसे राखी बाँधते है सिर्फ लालच के कारण ही। पर्व मनाने का तीसरा कारण है मनोरंजन। मनोरजन की दृष्टि से जो पर्व मनाये जाते है उनमे होली मुख्य है। इसी श्रेणी मे दशहरा है, जिसमे लाखो व्यक्ति रावण को जलता हुआ देखकर आनद मनाते हैं। ये दिवाली, दशहरा, होली व रक्षाबधन आदि पर्व, चाहे उनका मूल उद्देश्य कुछ भी रहा हो, किन्तु आज वे लौकिक पर्व बन गए है।

दूसरे है लोकोत्तर पर्व। सभी धर्मों मे लौकिक तथा लोकोत्तर दोनो तरह के पर्व होते है। मुमलमानो मे 'रमजान' लोकोत्तर पर्व माना जाता है। इन दिनो वे बुरे कार्यों मे बचते है। ईसाइयो का 'क्रिसमस' लोकोत्तर पर्व है। पर्युषण महापर्व, जो आज से प्रारम्भ हो रहा है जैनो का महापर्व है। लोकोत्तर पर्व आत्मशुद्धि के लिए मनाये जाते है। पर्युषण पर्व भी आत्मा की शुद्धि के लिये है।

आज का दिन आत्म-साधना का सदेश देता है। मन, वचन तथा काया के द्वारा आत्मा का निर्मलीकरण करते जाना ही साधना है। मन, वचन तथा काया को स्थिर रखकर ही आत्मा की उपासना की जा सकती है। आप कम से कम आज के दिन यह दृढ निश्चय करले कि सवत्सरी तक हम मन मे बुरे विचार नही आने देगे। क्रोध, मान माया, लोभ तथा मोह आदि सभी को नियन्त्रित करके यथासभव इनसे बचने की कोशिश करे। किसी कवि ने कहा है —

यह राग-आग दहै सदा तातै समामृत सेइये।
चिर भजे विषय-कषाय अब तो त्याग निज पद बेइये॥

अर्थात् राग रूपी अग्नि अनादि काल से निरतर ससारी जीवो को जला रही है—दुखी कर रही है, इसलिये सभी को रत्नत्रयमय समता रूपी अमृत का पान करना चाहिए जिससे राग-द्वेष-मोह (अज्ञान) का नाश हो। विषय-कषायो का सेवन प्राणी अनादि काल से कर रहा है। अब तो उसका त्याग करके आत्म-पद (मोक्ष) प्राप्त करना चाहिए।

यह सही है कि मन पर नियन्त्रण करना बडा कठिन है। यह अस्थिर है किन्तु मन मे विषय विकारो के आते ही उनसे छुटकारा पाने का प्रयत्न मनुष्य को अवश्य करना चाहिये। मान लीजिये, मन मे कभी क्रोध आविर्भाव हो तो गज सुकुमार जैसे क्षमावान् का स्मरण करना चाहिये, जिसने अपने मस्तक पर सोमिल द्वारा जलाये हुये अगारो की वेदना को भी समभाव

से सहन किया। अहकार का हृदय मे आगमन होने पर वाहुवली का और लका के राजा रावण का ध्यान आना आवश्यक है। जिनके मेरु के समान गर्व का भी अन्त हुआ। लोभ का आक्रमण होने पर सोने के लिये पागल राजा मिदास का ध्यान आजाना चाहिये, जिसे अत मे पाश्चात्ताप करके अपने वरदान को भी वापिस करना पडा। क्योकि उसके छूते ही प्रत्येक वस्तु सुवर्ण की हो जाती थी। प्रत्येक प्राणी को यह ध्यान रखना चाहिये कि आशा और तृष्णा का तो कभी अत ही नही है। तृष्णा मनुष्य के हृदय मे आकुलता पैदा करती है और इसके विपरीत निराकुलता आत्मा मे सुख तथा शाति। कहा भी है। —

आतम को हित है सुख सो सुख आकुलता बिन कहिये।
आकुलता शिव माँहि न तातै शिव मग लाग्यो चहिये ।।

आत्मा का हित निराकुलता मे है और पूर्ण निराकुलता मोक्ष मे है, अत मनुष्य को मोक्ष मार्ग पर चलना चाहिये।

वधुओ! ये आठ दिन वडे ही मगलमय होते है। इन आठ दिनो मे हमे आठ कर्मो से मुकावला करना है। सिर्फ मगलगान गाने से अथवा आडम्बर करने से आत्मा ऊँची नही उठ सकती। आत्मा-चितन करने से उन्नत तथा उज्ज्वल वनती है। आत्म-ज्ञान के विना ससार की कोई भी वस्तु आत्मा की सहायक नही वन सकती।

धन समाज गज बाज, राज तो काम न आवै,
ज्ञान आपको रूप भये, फिर अचल रहावे।
पुण्य-पाप-फल माँहि हरखि विलखौ मत भाई।
यह पुद्गल पर जाय, उपजि विनसै थिर नाई।

धन-सम्पत्ति, परिवार राज्य अथवा हाथी घोडे कोई भी पदार्थ आत्मा के नही होते। सिर्फ सम्यक्ज्ञान ही आत्मा का स्वरूप है। वह एक वार प्राप्त मोह के क्षय से उत्पन्न सम्यग्ज्ञान होने के पश्चात् अक्षय हो जाता है। कभी नष्ट नही होता।

भौतिक सम्पत्ति के सयोग तथा वियोग को पुण्य तथा पाप का फल समझकर हर्ष अथवा विपाद नही करना चाहिये, क्योकि प्रत्येक सासारिक वस्तु आत्मा से भिन्न है। वह सब तथा शरीर भी नश्वर है। वह नष्ट होता है और फिर पैदा होता है।

जो व्यक्ति इस बात को समझ लेते है उनके हृदय मे ही समता तथा

संतोष जागता है। हमे पर्वाधिराज पर्युषण पर्व मनाना है पर साथ ही यह ध्यान रखना है कि सिर्फ पर्व के ऊपरी रूप को ही नही देखना है। यह पर्व हमारे सामने त्रिमुखी दृष्टिकोण लेकर आया है—शारीरिक, मानसिक तथा आत्मिक।

अनेक व्यक्ति इन आठ दिनो मे सिर्फ गर्म जल के अलावा कुछ नही लेते—'अठाई तप' करते हैं। अनेक ऊनोदरी करते हैं अर्थात् बहुत थोडा सात्विक भोजन ही लेते है। इन तपो का आराधन करने से आन्तरिक शुद्धि एव सयमवृद्धि के साथ शारीरिक स्वास्थ्य की दृष्टि से भी लाभ होता है।

दूसरा लाभ है मानसिक। मन पर नियन्त्रण करने के विषय मे अभी-अभी मैने बताया है कि इन दिनो हमे प्रयत्न करके विषय-कषायो को कम से कम करना चाहिये। इससे मन की पवित्रता बढ़ेगी। साथ ही आगमो के श्रवण से तथा महान् पुरुषो की जीवनियाँ पढने से मन मे सद्‌गुणो का समावेश होगा और मन निर्मल बनेगा।

पर्व का तीसरा दृष्टिकोण है आत्मिक। इसे ध्यान मे रखते हुए, आत्मा के रूप का ज्ञान करते हुए, आत्मा के शुद्ध रूप का ज्ञान करते हुए रत्नत्रय की आराधना करनी चाहिये। सक्षेप मे रत्नत्रय (सम्यक् दर्शन, सम्यग् ज्ञान तथा सम्यक् चारित्र) के लक्षण इस प्रकार है—

> **परद्रव्यन से भिन्न आपमे रुचि सम्यक्त्व भला है।**
> **आप रूप को जानपनो सो सम्यक् ज्ञान कला है॥**
> **आप रूप मे लीन रहे थिर सम्यक् चारित सोई॥**

पुद्‌गल आदि पर पदार्थों से त्रिकाल भिन्न ऐसी निज आत्मा पर अटल विश्वास रखना तथा अपने शुद्ध स्वरूप का श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन हैं। आत्मा को पर वस्तुओ से भिन्न जानना (ज्ञान करना) सम्यक् ज्ञान है। पर वस्तुओ का आलम्बन छोडकर आत्मस्वरूप मे एकाग्रता से मग्न होना सम्यक् चारित्र कहलाता है।

आशा है आप इस महापर्व के उद्देश्य को समझ गए होगे। तीन तरह के लाभ एक साथ प्रदान करने वाला यह पर्व कितना महान् है? हमे बड़ी सावधानी से इससे लाभ उठाने है।

श्रम तो पशु भी बहुत करता है, अत. श्रम करना ही मानव की विशेषता नही है। विशेषता तो उसकी भावना मे होती है। किसी ने सत्य कहा है—"भावना भवनाशिनी।" और भी कहा गया है —

मंत्रे तीर्थे, द्विजे देवे, दैवज्ञे भेषजे गुरौ।
यादृशी भावना यस्य, सिद्धिर्भवति तादृशी ॥

मंत्र, तीर्थ, ब्राह्मण, देवता, ज्योतिषी, औषध और गुरु मे जैसी भावना होती है वैसी ही सिद्धि मिलती है।

भावना ही व्यक्ति को स्वर्ग अथवा नरक मे ले जा सकती है तथा भावना ही मनुष्य को मोक्ष का मार्ग बता सकती है। एक अंग्रेज का कथन है —

"Fancy may kill or cure"

भावना मार भी सकती है और जिला सकती है। जिस व्यक्ति के हृदय मे भावनाएँ शुद्ध होती है उसे बुरे व्यक्तियो मे भी जो अच्छाईया है वे दिखाई देती हैं और जिनके हृदय मे भावनाऐं अशुद्ध होती है, उन्हे अच्छे व्यक्तियो मे भी दुर्गुण ही दुर्गुण नजर आते है। तुलसीदास ने कहा है—

जाकी रही भावना जैसी, प्रभु मूरत तिन देखी तैसी।

मनस्वी व्यक्ति प्रकृति से अर्थात् प्रकृति की प्रत्येक जड तथा चेतन वस्तुओ से शिक्षा लेते है। यद्यपि प्रकृति बोलती नही, फिर भी जो गुणग्राही होते है वे स्वय उसमे से अच्छाइया खोज लेते है।

कम से कम इन आठ परम पावन दिनो के लिए तो आप अपनी दृष्टि को गुण-दृष्टि बना ले। किसी भी वस्तु के दोष न देखकर सिर्फ उसके गुणो को देखे व अपनाएं। ऐसी दृष्टि बना लेने पर प्रत्येक वस्तु आपको कुछ न कुछ शिक्षा देती हुई नजर आएगी। आधी-पानी, सर्दी-गर्मी हर अवस्था मे अडिग रहने वाले पर्व आपको प्रत्येक स्थिति मे अविचलित रहने की शिक्षा देगे। फल फूलो से लदे वृक्ष पत्थरो की चोटे खाकर भी मीठा फल प्रदान करते हुए आपको बुरे व्यक्ति के साथ भी अच्छाई करने की प्रेरणा देगे। प्रत्येक अमीर-गरीब उच्च तथा नीच व्यक्ति को सदा पवित्र व मधुर जल प्रदान करते हुए कुए मूक भाषा मे आपसे कहेगे कि विश्व के प्रत्येक प्राणी को एक सरीखा स्नेह प्रदान करो।

जड वस्तुओ के अतिरिक्त पशु पक्षी भी हमे बहुत कुछ सिखाते है, हममे सीखने की योग्यता तथा गुण ग्रहण की आकाक्षा होनी चाहिये। मयूर को देखिये, वह इन दिनो बरसात मे मुदित होकर नृत्य करते रहते है। आप और हम उसके सौन्दर्य को देखकर प्रसन्न होते है कि इसकी आखे, पख, आदि आदि कितने सुन्दर है! किन्तु मयूर स्वय क्या देखता है? अपने कुरूप पैरो को। क्या हम भी अपने गुणो को न देखकर अपने दोषो को

नही देख सकते ? ऐसा कर सके तो जीवन मे दोष रहने ही न पावे। आज तो हम प्रशसा चाहते हैं, मान-पत्र चाहते है, बधाइया प्राप्त करने की आकाक्षा रखते हैं, मानो ससार के सारे ही गुण इसमे विद्यमान हैं, अवगुण का तो नाम-निशान ही नही है। इसी कारण अपनी कीर्ति को बढ़ाने की कामना करते हुए दूसरो को गिराने का प्रयत्न ही सदा करते हैं, पर इसका परिणाम क्या होगा —

तुलसी जे कीरति चहैं, पर कीरति को खोय।
तिन के मुंह मसि लागी है, मुए न मिटि है धोय॥

अपने को उठाने व औरो को गिराने का प्रयत्न करने से चेहरा इतना कलकित हो जाता है कि वह मरने तक भी पुन अपना यथार्थ रूप प्राप्त नही कर सकता। कितना ही मल-मल कर क्यो न धोया जाय काली करतूतो की कालिमा नही जाती।

मयूर के बाद चीटियो को देखिये। इन्हे आपने सदा ही कतारो मे दिवालो पर चढते देखा होगा। न जाने कितनी बार वे चढती है और गिरती हे किन्तु हिम्मत नही हारती। आप प्रथम तो उनसे सगठन की शिक्षा लीजिये। असख्य होते हुए भी कभी किसी ने उन्हे लडते झगडते अथवा समाज से बहिष्कार करते देखा हे ? नही, पर मनुष्यो मे एक घर मे दो सगे भाई होगे तो किसी न किसी दिन सिर फूटने की नौबत आ जाएगी। पति पत्नी भी बिना लडे झगड़े नही रह सकते। उनके छुटकारे के लिये भी सरकार को तलाक का कानून बनाना पडा है। सदा से चली आई इस फूट के कारण ही तो भारत मे अग्रेजो का राज्य हुआ। राजपूत राजा वैमनस्य के कारण एक दूसरे की सहायता नही करते थे और इसी कारण एक-एक करके अग्रेजो ने उन्हे पराजित करके समग्र भारत पर अधिकार कर लिया। फूट के कारण ही हिन्दुस्तान के दो टुकडे हुए—हिन्दुस्तान तथा पाकिस्तान। अगर भारतवासियो मे चीटियो की तरह एकता होती तो यह नौबत नही आती।

अल्पानामपि वस्तूनां संहतिः कार्यसाधिका।
तृणैर्गुणत्वमापन्नैर्बध्यन्ते, मत्तदंतिन॥

छोटी छोटी वस्तुओ के सघटन से ही कार्य सिद्ध हो जाता है, जैसे घास की बटी हुई रस्सियो से मतवाले हाथी बाधे जाते हैं। जान डिकिन्स ने कहा —

"By uniting we stand, by dividing we fall"

सघठन मे हमारा अस्तित्व कायम रहता है। तथा विभाजन मे हमारा पतन होता है।

दूसरी शिक्षा चीटियो से जो मिलती है वह है लगन की। लगनपूर्वक काम करने पर ससार की कोई भी शक्ति फल प्राप्ति मे बाधा नही डाल सकती। चीटी बार बार गिरती है, पर हिम्मत नही हारती और अन्त मे अपने कार्य मे सफल होती है। मानव मे ऐसी लगन का प्राय अभाव देखा जाता है। आज हम देखते है कि सत्सग प्राप्त करके अथवा सतो के उपदेश सुन कर के भाइयो मे धर्म करने की इच्छा होती है। वे सामायिक करना शुरू करते है। किन्तु थोडे दिन बाद ही ऊब जाते है और उसे छोडे देते है। स्वाध्याय करने का नियम लेते है पर कुछ दिनो मे ही थक जाते है और नियम को ठिकाने लगा देते है। चातुर्मास शुरू होने पर कुछ दिन तक तो बडे जोर-शोर तथा उत्साह से व्याख्यान सुनने आते है और सबमे आगे आकर बैठने का प्रयत्न करते है पर धीरे धीरे पीछे की ओर खिसकते जाते हैं। महीने दो महिने मे पूरी छुट्टी ले लेते हैं।

बताइये ! क्या ऐसी लगन को लेकर आत्म-कल्याण हो सकेगा ? किसी शायर ने कहा है।

सर शमा सा कटाइये पर दम न मारिये।
मंजिल हजार सिम्त हो, हिम्मत न हारिये ॥

मजिल को प्राप्त करने मे सिर को कटाना पडे तो भी हिम्मत नही हारना चाहिये। बिना दम मारे (रुके) चलते रहना चाहिये।

अपनी काश्मीर यात्रा से पहले, जब हम जम्मू पहुँचे, उस समय तक काश्मीर यात्रा का खयाल ही नही था। हमारा विचार दस पन्द्रह दिन जम्मू ठहर कर वापिस लौट आने का था। पर जम्मू के लोगो ने एक वर्षावास वहाँ करने के लिये अतीव आग्रह किया। इस बीच मे छह महीने का समय था, अत हमने सोचा काश्मीर ही क्यो न हो आएं। अपनी योजना मैंने वहाँ की कुछ बहनो के सामने रखी। सुनते ही वे घबरा गई। बोली—महाराज ! इस बात को अपने मन मे ही रखना। काश्मीर जाना हँसी खेल नही है।

पर मैंने तो योजना बनाना सीखा है, उसे बिगाडना नही। अपनी योजना मैंने जम्मू सघ के सेक्रेटरी के सामने रखदी। सघ ने निर्णय दिया—"काश्मीर का रास्ता सरल नही है, पर्वतीय है। ऊँचे-ऊँचे पहाडो पर अनेक जगह तो बिलकुल सीधी चढाई है। पहाड वर्फ से ढके हुए है। रास्ते मे

कदम-कदम पर मिलिटरी के पडाव है, जिसमे सब तरह के आदमी होते हैं। रास्ता बर्फ गिरने के कारण जगह-जगह बद हो जाता है। मार्ग मे हिन्दुओ के घर कम तथा मुसलमानो के अधिक है। वातावरण भी स्वास्थ्य के अनुकूल नही है। जो सन्त उधर गए, बीमार पड गए। जब सत भी उधर नही जा सकते तो सतियो के लिये तो उधर जाना असभव है। सक्षेप मे कठिनाइयो की लम्बी चौटी सूची बनाकर हमारे सामने रख दी तथा कह दिया—सघ की प्रार्थना है कि आप काश्मीर न जाएँ। संघ आपके विचारो से सहमत नही है।

पर सघ की बताई हुई मार्ग की भयकरता मेरे हार्दिक निश्चय को नही बदल सकी। मेरे जीवन का तो प्रेरणा सूत्र ही यह रहा है।

"Strength is life, weakness is death and fear is the root of sin"

अर्थात् साहस-शक्ति ही जीवन है, कायरता तथा कमजोरी मृत्यु और भय सब पापो की जड है।

मैंने सघ की बातो का यथासभव उत्तर दिया और उसे न डरने के लिए समझाया। सघ की स्वीकृति मिलगई फिर तो कुछ बहने भी साथ चलने के लिये तैयार हो गई। बहने बडी ही उत्साही तथा निडर थी। काश्मीर के लिये रवाना होने का दिन भी नियत कर लिया गया। चैत्र कृष्णा ५ गुरुवार स० २०१६।

जाने के एक दिन पहले चतुर्थी को सहसा आकाश मेघाच्छन्न हो गया और मूसलाधार वर्षा ओलो के साथ गिरती रही। रात तक यह क्रम चला। हम आहार भी उस दिन नही ला सके। चलने वाली बहने कुछ उदास और भय से शकित हो उठी। किन्तु मैंने उन्हे दृढ शब्दो मे समझाया कि घबराओ मत! मनुष्य की प्रबल भावना प्रकृति को भी परिवर्तित कर देती है।

कहते है—'जैसी मनसा वैसी दशा'। सचमुच ही प्रात काल होते होते आसमान साफ हो गया और सूर्य की लाल किरणे मानो हमारे पथ पर कुकुम बिखेरने लगी। नियत समय पर हमने प्रस्थान कर दिया, सघ ने भी बडे उल्लास व शुभ कामनाओ के साथ हमे विदाई दी।

रास्ते मे हमे अनेको कष्टो का सामना करना पडा। विशालकाय पर्वतो पर चढे और हजारो फिट गहरे खड्डो के किनारे की चिकनी और सिर्फ पैर रखने लायक सकड़ी पगडडियो को पार किया, जहाँ तनिक भी पैर फिसलने

पर जीना असभव होता । भयकर बर्फीली आधी, पानी तथा बरफ की वर्षा को सहन किया । हड्डियो को भी गला देने वाली जगहो पर रहना पडा, जब कि हमारे पास ओढने बिछाने के लिये भी साधुओ के योग्य परिमित वस्त्र ही थे । पहनने के एक जोडी कपडे और ओढने को चद्दर ही सिर्फ हमारी पीठ पर बधे थे । हाथो पर आहार पानी के लिये पाँच छ पात्र थे। उनके साथ हमे चढना उतरना तथा विचरण करना पडता था ।

सक्षेप मे अनेको बार मृत्यु के मुख से सिर्फ-आत्म-शक्ति के बल पर निकलते हुये हमने साढे तीन महीने तक भ्रमण किया । इस बीच ऊधमपुर, कुद, पलीटाप, नगरौटा, मगग्कोट, बनिहाल, पीर पचाल, बेरीनाग, अनन्त-नाग, अवन्तीपुर, श्रीनगर, कश्मीर, खीर भवानी, गुलमर्ग, खिलनमर्ग तथा चदनवाडी आदि अनेक स्थान देखे तथा वहाँ के निवासियो के रहन-सहन तथा रीति रिवाजो की जानकारी प्राप्त की ।

जैन धर्म के बारे मे यथाशक्य जानकर लोग बडे प्रभावित हुये और अनेको परिवारो ने माँस खाने का त्याग कर दिया । जब कि उधर उनका यही मुख्य भोजन हे । जगह जगह मुझे व्याख्यान देने के लिए आग्रह किया जाता था । मुझे भी उन सरल व्यक्तियो को समझाने तथा उनके बीच बोलने मे हार्दिक प्रसन्नता होती थी । खैर, सस्मरण तो अनेको है तथा विस्मयकारक भी है पर उनका वर्णन इन समय अप्रस्तुत है । मुझे तो प्रसग-वश आप लोगो को सिर्फ यही बताना था कि लगन से करने पर कोई भी कार्य असभव नही होता ।

सज्जनो ! अभी मैने मयूर तथा चीटी के जीवन से शिक्षा लेने के लिये उनकी कुछ विशेषताएे बताई है । अब मै जगल के राजा शेर के एक महान गुण को बताने जा रही हू । आप सोचेगे कि सिर्फ प्राणियो को पकडकर खा जाने के अलावा उसमे कौन-सी ऐसी विशेपता है जिसका अनुकरण किया जा सकता है ? आप गली गली मे फिरने वाले कुत्तो को देखते ही है । अनेक बार वे घरो मे घुस आते है और फिर लकडी आदि की मार खाते है । जिस समय उन्हे लकडी फैक कर मारने की कोशिश की जाती है, तो वे अपने मुह से लकडी को पकड कर क्रोध व्यक्त करते है ।

पर आप जानते है शेर क्या करता है ? उस पर अगर कोई शिकारी तीर या गोली चलाए तो वह तीर अथवा बदूक की गोली नही वरन् सीधा शिकारी की ओर ही झपटता है । तीर गौण हे, शिकारी प्रधान । सिंह गौण

कारण तीर को नहीं, वरन् प्रधान कारण शिकारी को खत्म करना चाहता है। कितनी बडी विशेषता है यह। हमें भी तो ठीक यही करना है।

हमे जीवन मे दुख पहुँचाने वाले, अशाति पैदा करने वाले निमित्त कारणो को दोष नही देना है। उनके लिये कुढना नही है। वरन् उनमे प्रधान कारण जो हमारे बाधे हुए कर्म है, उन्हे पकडना है। उनमे ही मुकाबिला करना है। एक मद बुद्धि छात्र है। उसके पास पुस्तके हैं। शिक्षा देने वाले शिक्षक भी है। किन्तु वर्षो अध्ययन करके भी उसे जैसी होनी चाहिये वैसी ज्ञान प्राप्ति नही होती। इसमे दोष किसका है ? शिक्षको का या कि पुस्तको का ? वास्तव मे दोनो का नही है। ये तो निमित्त कारण है। वास्तविक और आभ्यन्तर कारण तो उसके बाधे हुए ज्ञानवरणीय कर्म ही है। जिनके कारण निमित्त मिलने पर भी ज्ञानप्राप्ति नही होती। ऐसी स्थिति मे हमे शिक्षको को दोष न देकर उन कर्मों का ही क्षय करना है और नए बधने से रोकना है।

अनेक बार राह चलते समय हमे पत्थर की ठोकर लग जाती है। काटे चुभ जाते है। ईर्ष्या तथा द्वेष के कारण हमारे भाई-बद अथवा पडोसी हमे कोसते है,गालियाँ देते हैं तथा इससे भी अधिक हानि पहुँचाने का प्रयत्न करते है, तो क्या हमे उन पत्थरो को, काटो को, भाई बधो को अथवा पडोसियो को ही बदले मे हानि पहुँचाना चाहिये और बुरा-भला कहना चाहिये ? नही, वरन् अपने उन असातावेदनीय कर्मो को ही खतम करने का पुरुषार्थ करना चाहिये जिनके कारण ऐसे निमित्त मिलते है।

निमित्त कारणो मे बदला लेना व्यर्थ है। बदला लेने की अपेक्षा क्षमा अधिक श्रेष्ठ है क्योकि क्षमाशीलता महत्ता का लक्षण है —

"Forgiveness is better than revenge, forgiveness is the sign of gentle nature"

मुनि गज सुकुमार ने मस्तक पर जलते अगारो की वेदना सहन की, पर अपने ससुर सोमिल से बदला लेने की भावना उनके मन मे नही आई। राम को राज्याभिषेक के स्थान पर वन जाना पडा, पर उनमे विषाद अथवा बदले की भावना का चिन्ह भी दृष्टिगोचर नही हुआ। सुकरात ने जहर का प्याला पी लिया, स्वामी दयानन्द के ऊपर ईट और पत्थर फेंके गए। ईसा को शूली पर चढाया और गाधीजी ने सीने पर गोलिया खाई। फिर भी इन महान् आत्माओ ने अपने कष्ट प्रदाताओ को हसते हसते क्षमा कर दिया, उन्हे अज्ञानी मानकर। ईसा ने

यहा तक कहा है कि "अगर कोई तुम्हारे गाल पर थप्पड मारे तो तुम दूसरा गाल भी उसके आगे कर दो।" कवीरदास ने कहा—

जो तोको काटा वुवै, ताहि बोव तू फूल।
तोहि फूल के फूल है, वाको है तिरसूल॥

आपत्तियो तथा मकटो को वरदान और आशीर्वाद समझना चाहिये। सहनशीलता मे ही महानता तथा मनुष्यता है जिसकी तुलना मे देवत्व भी कुछ नही है। उर्दू के शायर 'हाली' ने कहा है—

फरिश्ते से वेहतर है इन्सान वनना।
मगर इसमे पडती है मेहनत जियादा॥

वास्तव मे देवता से मनुष्य वनना अधिक कठिन है और मनुष्य वार वार नही वना जा सकता अत मनुष्य को चाहिये कि वह न तो दूसरो के दोप देखे और न यह देखे कि दूसरे क्या करते है। और क्या नही करते। उसे अपने ही कृत्य-अकृत्य कर्मो को देखना चाहिये।

न परेसं विलोमानि न परेस कताकतं।
अत्तनो व अवेक्खेय कतानि अकतानि च॥

—धम्मपद

वन्धुओ! सक्षेप मे यही कि हमे कर्म सिद्धात पर विश्वास रखना चाहिये और समझना चाहिये कि हमारे जीवन मे जो विघ्न वाधाएँ आती है उनका मूल कारण तो हम स्वयं ही है। अत हमारी दृष्टि उपादान कारणो को ही पकडने वाली सिंह-दृष्टि होनी चाहिए, निमित्त कारण को पकडने वाली श्व-दृष्टि अर्थात् कुत्ते की जैसी दृष्टि नही।

हमे साधना करनी है। जीवन निर्माण करना है। साधना नरक के दुखो से आतकित होकर अथवा स्वर्ग की कामना को लेकर नही करनी चाहिये। साधना सिर्फ अपनी आत्मा को निर्मल करने के लिये होनी चाहिए। उसका फल तो स्वय ही मिल जाएगा।

आज पर्युपण पर्व के प्रथम दिन, मै एक वात मुख्य तौर से आपको कहना चाहती हू। वह यही है कि, वहुत से व्यक्ति वर्प भर आत्म-चितन, साधना, तपस्या और भी धर्म कार्य मय अन्य क्रियाओ से उदासीन रहकर इन आठ दिनो मे ही अपनी समझ मे खूव धर्म करके अपने कर्तव्य की इति श्री समझ लेते है। उनका यह समझना ठीक नही है, वरन् नादानीपूर्ण है।

यह सही हे कि कुछ भी न करने की अपेक्षा इन आठ दिनो मे भी जो

किया जाय वह ठीक है—"Some thing is better than nothing" जितने दिन भी मन मे पवित्रता रहे, दोषो से बचने का प्रयत्न किया जाय, हिंसा मे भय रहे, बहुत अच्छा है। पर यह सतोष कर लेने लायक नही है। वास्तव मे तो ये दिन शुभ कामनाओ के निश्चय तथा उनको धार्मिक ग्रन्थो से शास्त्रो से, अथवा सतो के उपदेशो से बहुत कुछ समझ लेने के लिये ही होते है। इन आठ दिनो मे शुभ-कार्य अथवा शुभ सकल्पो की शुरुआत की जाती है। उसके बाद तो इन निश्चयो का, क्रियाओ का या आत्मसयम का अभ्यास प्रारम्भ होता है जो कि वर्ष भर तक धीरे धीरे किया जाता है।

साधना एक दम नही होती। इन्द्रिय-दमन एक बार मे ही नही हो सकता। वह शनै शनै अभ्यास करने पर ही होता है। किसान बीज बोकर तुरन्त ही फसल प्राप्त करना चाहे तो क्या यह सभव है? नही, उसी प्रकार साधक निरन्तर साधना किये बिना साधना के फल को कैसे पा सकता है? उसके लिये बडे त्याग व तपस्या की आवश्यकता होती है। किसी ने कहा भी है—

तू कर बदगी, और भजन धीरे धीरे।
मिले प्रभू की, शरण धीरे धीरे।
दमन इन्द्रियो का, तू करता चला जा,
बना शुद्ध चाल-चलन धीरे धीरे।
अगर तुझे मिलने की, दिल मे तमन्ना,
बना शुद्ध मन का, मदिर धीरे धीरे।

आज वह युग नही है या कि किसी मनुष्य की आत्मा मे वह क्षमता नही है जो गजसुकुमार, बाहुबली, अर्जुनमाली अथवा महात्मा बुद्ध की तरह सरलतापूर्वक ज्ञान की प्राप्ति कर सके। देश, काल तथा स्थिति को देखते हुए तथा अपने सामर्थ्य का ध्यान रखते हुए बडी सावधानी के साथ साधना पथ पर हमे कदम रखना चाहिये ताकि कही ठोकर न खा जायें और मन निराश न हो जाय। किसी कवि ने फल प्राप्ति के लिये अपने अधीर मन को कितने सुन्दर ढग मे समझाया है—

धीरे धीरे रे मना! धीरे सब कुछ होय।
माली सींचे सो घड़ा, ऋतु आयां फल होय॥

भाइयो! आप दीवाली पर जिस तरह पुराने हिसाब की जाँच करते है, हानि-लाभ का लेखा-जोखा करते है, ठीक इसी तरह पर्युषण पर्व पर हमे अपने हृदय के गुण व दोषो का लेखा-जोखा करना चहिये, मन की

पवित्रता की जांच करनी चाहिये और नवीन सत्संकल्पो की शुरुआत करनी चाहिये । देखना चाहिए कि हमारी आत्मा उन्नति के मार्ग पर कहा तक पहुँची हे ।

हमे धर्म के आडम्बर को नही अपनाना है, धर्म की आत्मा को भी समझना है । सामायिक, पौषध, स्वाध्याय, तपस्या आदि बाह्य क्रियाओ को करते हुए भी यह नही भूलना है कि धर्म वास्तव मे आत्मा की वस्तु है । उसका जागरण अन्दर से ही होगा । अगर आप यह समझ लेगे तो इन परम दिनो का समुचित लाभ उठा सकेगे ।

१२
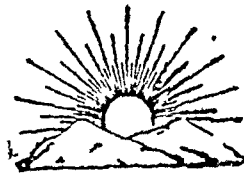
पुनीत पर्व संवत्सरी

आज परम उत्कृष्ट और लोकोत्तर पर्व सवत्सरी का दिवस है। इस पावन दिन के विपय मे शास्त्र मे कहा गया है कि यह पर्व अपने आप ही नही चल पडा है वरन् श्रमण भगवान् महावीर ने इसे निश्चित किया है। समवायाग सूत्र मे कहा गया है .—

"समणे भगवं महावीरे वासण सवीसइराइमासे वइक्कंते सत्तरिएहिं राइंदिएहिं सेसेहिं वासावास पज्जोसवेइ।"

श्रमण भगवान् महावीर ने चातुर्मास्य के एक महीना और वीस दीन व्यतीत हो जाने पर और सत्तर दिन शेप रह जाने पर पर्युपण पर्व की आराधना की।

कल्पसूत्र मे भी यही लिखा है कि "चातुर्मास के ५० दिन वीत जाने पर और ७० दिन शेप रह जाने पर भगवान् ने सवत्सरी पर्व की आराधना की थी। इसलिये इस परम पुनीत पर्व की महिमा अनिर्वचनीय है। किसी वंश के पूर्वज किसी महान कार्य के लिये कोई दिन नियत कर देते है तो सदा के लिये उस दिन का महत्त्व उस वश परम्परा के लिये मान लिया जाता है। तो फिर स्वय भगवान् के द्वारा निश्चित किये हुए इस पर्व के महत्त्व का तो कहना ही क्या ? यह तो समस्त समाज के लिये आराधना करने योग्य पुनीत पर्व है।

हमारी आजकल की धार्मिक परम्परा के अनुसार पर्युपण पर्व आठ दिन का माना जाता है, जब कि शास्त्रो मे यह पर्व एक दिन, भाद्रपद-शुक्ला पचमी का ही निश्चित किया गया है।

प्रथम के सात दिन तो आज की सवत्सरी पर्व के सम्यक् रूप से आराधन करने के निमित्त तैयारी करने के लिये समझने चाहिये। जिस प्रकार एक बादशाह शत्रु पर धावा करने के लिये नियत किये हुए दिन से पहले सेना का सगठन अस्त्र-शस्त्र आदि का संग्रह करता है, ठीक उसी प्रकार राग-द्वेष, विषय विकार आदि अतरग शत्रुओ का नाश करने के लिये, नियत किये गए सवत्सरी पर्व के प्रथम सात दिनो मे तैयारी करनी चाहिये। इन दिनो मे अहिंसा, तप, त्याग तथा सयम के द्वारा आध्यात्मिक बल बढाना चाहिये, जिससे कि आत्मा को प्रतिक्षण अवनत करने वाली कषाय रूप अग्नि शात हो जाए।

आज का दिन साधु तथा श्रावक सभी के लिये आराधना करने का है। वैसे जैन शास्त्रो मे गृहस्थो की अपेक्षा साधुओ पर इस पर्व को आराधना का कुछ विशेष भार दिया गया है। यदि कोई साधु प्रमादवश सवत्सरी पर्व की आराधना नही करता तो उसे प्रायश्चित्त आता है। निशीथ सूत्र मे कहा गया है—**"पज्जोसवणाए न पज्जोसवेई"**। प्रत्येक सयमशील साधु तथा साध्वी आज के दिन अपने ज्ञान, दर्शन तथा चारित्र मे लगे हुए दोषो की सच्चे हृदय से आलोचना करते है और प्रतिक्रमण मे ससार के समस्त प्राणियो से क्षमा याचना करते हैं।

साधुओ के समान ही श्रावको को भी पूरी सावधानी से सवत्सरी की आराधना करनी चाहिए। आत्मिक विकारो को देखने और उनका प्रतीकार करने का यत्न करना चाहिए। साथ ही दान, शील, तप और सद्भावना के द्वारा अधिक से अधिक धर्मोपार्जन करने का प्रयत्न करना चाहिये।

बधुओ! आज के दिन अहिंसा के प्रचार मे अनाथो, दीन-दुखी प्राणियो के उद्धार में तथा ज्ञानवृद्धि के कार्यों मे अपना द्रव्य लगाकर आपको पूर्ण लगन के द्वारा पुण्यानुबन्धी पुण्य का उपार्जन करना चाहिये। अधिक नही दिया जा सके तो भी यथाशक्ति त्याग-दान तो करना ही चाहिये। आज के समय मे तो जो व्यक्ति चोरी करता है वह दड का भागी होता है, किन्तु प्राचीन समय मे, जो कृपण होता था वह भी अपराधी तथा दंड के योग्य माना जाता था।

बधुओ, यह स्मरण रखना चाहिये कि भौतिक सपत्ति, जो उसे पकड कर रखना चाहता है, उसका साथ छोड देती है और जो उसकी अवज्ञा करता है उसके पीछे पीछे चलती है। इसीलिये कबीर ने कहा है—

जो जल बाढे नाव मे, घर मे बाढे दाम।
दोऊ हाथ उलीचिये, यही सयानो काम ॥

पतजली ने अपने 'योग-सूत्र' मे कहा है - बुद्धिमान् मनुष्य के लिये धन-सपत्ति आदि भौतिक वस्तुएं आग की तरह जलाने वाली है। विषय तथा कषाय की आग से जलने वाले व्यक्ति धन प्राप्त करके उच्च पद प्राप्त करके और सम्मान आदि प्राप्त करके शाति चाहते है, परन्तु उनसे भी किसी को शाति नही मिलती। करोडपति ईर्ष्या की आग मे जलता है। वृहत् परिवार का व्यक्ति क्रोध की आग मे तथा प्रतिष्ठा प्राप्त व्यक्ति अहकार की आग मे जलता है। इनके शमन के लिये हमारे अध्यात्मनिष्ठ सतो ने, योगियो ने एक मात्र जल, सयम ही बतलाया है जिसे ग्रहण करने पर ही आत्मा की आग बुझ सकती है। ऐसे त्यागी और महान् व्यक्ति, जिन्हे हम 'Fire Brigadier' 'फायर ब्रिगेडियर' कह सकते हैं, पहले भी हुए है और आज भी हैं। आवश्यकता है इनसे लाभ उठाने वालो की। मनुष्य, देव तथा दानव, जैसा भी चाहे बन सकता है। एक अग्रेज लेखक ने कहा था—"मुझे स्वर्ग मे जाने से पूर्व स्वर्ग को अपने हृदय मे उतारना है।"

बिलकुल सत्य है यह बात। जिस व्यक्ति के हृदय मे सेवा, दान, दया तथा परोपकार आदि गुण हैं उस व्यक्ति के हृदय मे ही स्वर्ग है। महान् विद्वान् 'मिल्टन ने कहा है .—

"The mind in its own place and in itself can make a heaven of hell, a hell of heaven"

मन अपने भीतर ही स्वर्ग को नरक तथा नरक को स्वर्ग बना सकता है। एक सस्कृत कवि भी यही बताता है —

सदा प्रसन्नं मुख—मिष्टवाणी,
सुशीलता च स्वजनेषु सख्यम्।
सतां प्रसग खल—संग – त्याग—
श्चिह्नानि देहे त्रिदिवस्थितानाम् ॥

सदा प्रसन्न मुख रहना, प्रिय बोलना, सुशीलता, आत्मीय जनो से प्रेम, सज्जनो का संग तथा नीचो का त्याग—ये स्वर्ग मे रहने वालो के लक्षण हैं।

महर्षि वेदव्यास का कथन है—"दो प्रकार के व्यक्ति ससार मे स्वर्ग के ऊपर भी स्थित होते है—एक तो जो दरिद्र होकर भी कुछ दान करता है और दूसरा जो शक्तिशाली होकर भी क्षमा करता है।"

गीर्वाण भाषा के महाकवि माघ वडे ही उदार थे। लोकोक्ति है कि सरस्वती के उपासको पर लक्ष्मी की कृपा दृष्टि नही रहती। माघ पहले वहुत सम्पन्न थे मगर दान देते-देते उनकी स्थिति साधारण, वल्कि दयनीय हो गई थी। एक दिन एक नवागन्तुक गरीव ब्राह्मण ने आकर महाकवि से याचना की—मै वहुत गरीव हूँ और कन्या का विवाह करना है। कृपया मेरी सहायता कीजिये।

कवि माघ उठ खडे हुए। क्षण भर विचार किया फिर घर मे जाकर अपनी निद्रित पत्नी के हाथ मे से अतिम गहना-एक सोने का कगन-उतार लाए और ब्राह्मण को दे दिया। पत्नी भी कगन खोलने से जाग गई थी। उसने तुरन्त दूसरे हाथ का कगन खोला और वाहर आकर ब्राह्मण को दे दिया। वोली—भाई, कन्या का विवाह एक कगन से कैसे निपटेगा यह दूसरा भी ले जाओ।

आगन्तुक ब्राह्मण चकित रह गया और इस महादानी दम्पति को प्रणाम करके आशीर्वाद देता हुआ चला गया।

वेकन ने ठीक ही कहा है—"जो परोपकार मे रत है उसके लिए भूमडल ही स्वर्ग है।" इसके विपरीत, जिसके हृदय मे परोपकार की भावना नही, जिसके हृदय मे करुणा नही, और ईश्वर के वन्दे, अपने भाईयो से प्रेम नही, उसके लिये स्वर्ग मे भी जगह नही होती। वह ईश्वर की कृपा का अधिकारी नही होता।"

अवूबिन अधम नाम का एक वडा भला और भोला व्यक्ति था। एक रात को अचानक नीद खुलने पर उसने देखा कि उसकी झोपडी मे एक देवदूत वैठा हुआ कुछ लिख रहा है।

अवूविन ने पूछा—आप क्या लिख रहे है? देवदूत ने स्नेहपूर्ण चेहरे से कहा—"मै उन लोगो के नाम लिखता हूँ जिन्हे ईश्वर से प्रेम है।"

अवूबिन ने पूछा—क्या मेरा नाम भी उन लोगो मे है?

देवदूत ने कहा—नही, तुम्हारा नाम तो नही है।

अवूविन ने वडी शाँति और दृढता से कहा—आप कृपया मेरा नाम

उन लोगो मे लिख लीजिये, जिन्हे ईश्वर के वदो, से अपने भाइयो से और ससार के समस्त प्राणियो से प्रेम है।

देवदूत ने उसका नाम लिखा और चल दिया।

दूसरे दिन रात को देवदूत फिर आया और अपनी पुस्तक अवूविन के सामने खोलकर बोला—देखो, यह उन लोगो की सूची है जिन्हे ईश्वर प्रेम करता है।

अवूविन ने देखा कि उसका नाम सबसे ऊपर है।

वास्तव मे धर्म का असली स्वरूप मनुष्य-मात्र से और प्राणी-मात्र से प्रेम करना है।

आज के दिन हम चौरासी लाख योनियो के समस्त प्राणियो से क्षमा याचना करते हैं। कहते हैं—

खामेमि सव्वे जीवा, सव्वे जीवा खमंतु मे।
मित्ती मे सव्वभूयेसु वैर मज्झं ण केणई ॥

मै ससार के सर्व प्राणियो से क्षमा याचना करता हू और क्षमा प्रदान करता हूँ। समस्त प्राणियो मे मेरी मित्रता रहे किसी से भी वैर भाव नही।

किन्तु क्या तोते की तरह उक्त पाठ बोल लेने से ही सबसे क्षमा याचना हो जाती है? क्या घर बैठे हाथ जोड कर कहने से दुश्मनी मिट जाती है? क्या समस्त प्राणियो से मित्रता और प्रेम हो जाता है? नही, उनके प्रति आत्मभाव रखने से, करुणा रखने से, सहानुभूति की भावना रखने से, उनकी सेवा करने से, दान देने से तथा परोपकार करने से होती है।

अगर हमारे हृदय मे सयम नही है, त्याग नही है, त्याग व उपशम नही हैं तो सवत्सरी के दिन परम्परा से प्रेरित होकर पौषध, उपवास तथा आयविल आदि तपस्याएं करना पूर्ण सार्थक नही है। धर्म स्थानको मे तो हम सामायिक-प्रतिक्रमण करे तथा नीति, न्याय, प्रामाणिकता, दया, दान सतोप और प्रेम आदि के पाठ पढे, किन्तु स्थानक से वाहर वाजार मे, दुकान अथवा घर मे उनको व्यवहार मे लाने का अवसर आने पर भी भूल जाएे तो क्या वह तोता ज्ञान नही कहलाएगा।

धर्माचरण का महत्त्व धर्मस्थानक मे ही अधिक है, यह सोचना वडी भारी भूल है। धर्म की आवश्यकता स्थानक मे है अथवा स्थानक से वाहर?

कल्पना कीजिए मार्ग मे चल रहे है। पैरो मे सुन्दर बूट पहने हुए हैं। पहले सीमेंट से बना हुआ एक दम चिकना राज-पथ आता है। उस पर

आप बूट पहने हुए चलते है। किन्तु आगे जाकर ककर-पत्थर व काटो से भरी हुई पगडडी आती है तो उस पर बूट खोल कर हाथ मे ले लेते है। क्या यह मूर्खतापूर्ण कार्य नही है ? बूटो की आवश्यकता कहा अधिक है ? राजपथ पर या कटीली पगडडी पर ? पगडडी पर ही न ? इसी प्रकार धर्मस्थानक तो राजपथ है क्योकि वहा विपय विकारो को बढाने के निमित्त नही मिलते। कषाय रूपी काँटे नही लगते। लेकिन धर्मस्थानक से वाहर निकलते ही कटीली भूमि होती है, आपका घर, बाजार या कि अन्य कोई भी जगह हो, सर्वत्र विषय-कपायो के काँटे बिछे हुए होते है। राग द्वेष रूपी ककर चुभने की सभावना रहती है। ऐसी जगहो पर आप धर्म रूपी बूट उतार लेगे तो कैसे काम चलेगा ? जीवन के काटो से भरे हुए पथ मे धर्म का आचरण न करके सिर्फ स्थानक मे ही करना आपको क्या फल दे सकेगा ?

वास्तविक धर्म तो तभी होगा जब हमारी प्रत्येक प्रवृत्ति बोलना, चलना, खाना, पीना, व्यापार करना आदि धर्म से ओत-प्रोत होगी। जो धर्म हमे गुणवान् वनाए वही सच्चा धर्म है। इसके अलावा अन्य मत, पन्थ या सम्प्रदाय सब धर्म के निर्जीव कलेवर की तरह है, जिन्हे पकडे बैठा रहना कल्याणकर नही है। धर्म तो पवन तथा आकाश की तरह सर्व व्यापक होता है। उस पर किसी की भी मालिकी नही होती। वह सिर्फ आत्मा की चीज होती है। अन्दर से ही उसका आविर्भाव तथा विकास होता है। हाँ, इतना अवश्य है कि उसके विकास तथा उन्नति के लिये धर्म स्थानक विद्यालय के समान है। वहा मनुष्य धर्म के पाठ पढता है। उन्हे याद रहता है। मगर उन पाठो का उपयोग तो धर्म-विद्यालय के बाहर ही जाकर होगा, यह नितान्त सत्य है।

हमे अपना जीवन ऐसा बनाना चाहिये जो दूसरो के लिये आदर्श वन सके एव दूसरो के जीवन को भी उज्ज्वल वना सके। किसी ने कहा भी है— 'जीवन वन तू दीप समान'। एक एक क्षण मिलकर जीवन का निर्माण करते है, पर गया हुआ एक भी क्षण दुबारा नही आता। कहावत है—वीता हुआ समय तथा कहे हुए शब्द कभी वापिस नही बुलाए जा सकते। इसलिये हमे चाहिये कि एक एक क्षण का सही उपयोग करे। "बेकन" ने कहा है। "To choose time is to save time" सुप्रसिद्ध शायर "दाग" ने भी यही कहा है —

गुजर गये है जो दिन फिर न आएँगे हरगिज।
कि एक चाल फलक (आसमान) हर वरस नहीं चलता॥

इस ससार मे कोई भी अमर होकर नही आया है। जिस तरह सराय मे यात्री आकर इकट्ठे होते हैं और अपने अपने समय पर चल देते है, उसी प्रकार प्राणी इस भूतल पर जन्म लेते है और एक दिन प्रयाण कर जाते हैं। जितने दिन तक प्राणी रहता है, अपनी भावना तथा व्यवहार से शुभ तथा अशुभ कर्मों का वन्ध करता है। किन्तु जव उनके फल भोगने का समय आता है, वह अकेला ही भोगता है। उस समय उसका सगी साथी कोई नही होता। दीनदयालजी ने अपने एक सुन्दर पद मे यही वताया है —

कोउ सगी नहीं उतै है इतही को संग।
पथी लेहु मिली ताहि तें सवसो सहित उमंग॥
सवसो सहित उमग वैठि तरनी के मांही।
नदिया नाव-संजोग फेरि यह मिलि है नाही॥
वरनै दीनदयाल पार पुनि भेंट न होई।
अपनी अपनी गैल पथी जैहै सव कोई॥

कहते हैं इस जन्म के साथियो मे से अगले जन्म मे कोई साथी नही होगा। सव यही के सगी है। ठीक वैसे ही जैसे एक नाव मे यात्री मिलते है। इसलिये हे प्राणी! इस नदी-नाव सयोग मे सवके साथ हिल-मिलकर वैठ। यह दुर्लभ सयोग फिर नही मिलेगा, क्योकि सव अपने रास्ते (कर्मो के अनुसार) पर चल देंगे।

सुज्ञ वन्धुओ! कितना सुन्दर भाव हैं इस पद का। इस छोटे से जीवन मे किसी को किसी से राग द्वेप तथा ईर्ष्या नही रखनी चाहिये। किसी से वैर नही वाधना चाहिये। भले ही हमारे साथ कोई वुरा करे फिर भी हमे उसे क्षमा करते हुये उसका भला करने का ही प्रयत्न करना चाहिये। किसी भी स्थिति मे अपने हृदय की महान् शक्ति क्षमा को तिलाजलि नही देना चाहिए।

एक महात्मा ने नदी मे स्नान करते हुये एक विच्छु को देखा जो पानी मे छट-पटा रहा था। महात्मा ने उसे हथेली मे उठाकर वाहर निकालना चाहा। किन्तु उसे हथेली पर लेते ही विच्छू ने डक मार दिया। डक की वेदना से हाथ हिल गया और विच्छू वापिस पानी मे गिर गया। महात्मा जी ने उसे फिर उठाया, उसने फिर डक मारा और दर्द के कारण वह फिर हथेली से गिर गया। पर महात्माजी ने उसे पानी से वाहर निकालने की कोशिश नही छोडी।

पास ही एक दूसरे सज्जन भी स्नान कर रहे थे। वोले— जव यह विच्छू

आपको डक मार रहा है तो आप इसे पकडते ही क्यो है ? क्यो व्यर्थ उसके डक के शिकार बन रहे हैं ?

महात्माजी ने शाति से हँसते हुये कहा—महाशय, डक मारना विच्छू का स्वभाव है और प्राण बचाना मनुष्य का। विच्छू होकर भी जब यह अपना स्वभाव नही छोडता तो मै मनुष्य होकर अपना नैसर्गिक गुण क्यो छोडू ।

वास्तव मे 'क्षमा' मनुष्य का नैसर्गिक गुण है इसे किसी भी हालत मे मनुष्य को नही छोडना चाहिये ।

आज सवत्सरी पर्व के दिन किये जाने वाले आपके प्रतिक्रमण के पीछे सद्भावना की पवित्र धारा प्रवाहित हो जानी चाहिये । ऐसा हुआ तो गगा की तरह उसका निर्मल प्रवाह आपके वर्ष भर के वैमनस्य को आत्मा के बाहर निकाल देगा । आज इस पर्व के दिन आप सभी को कम अथवा अधिक समय से चले आ रहे किसी के प्रति भी मन-मुटाव को सच्चे प्रेम के द्वारा समाप्त कर देना चाहिये । मिथ्याभिमान को तिलाजलि दे देना चाहिये । अन्यथा आपका यह पर्व मनाना निरर्थक हो जायगा और आपके ये पौपध, उपवास तथा आयबिल कोई फल नही दे सकेगे ।

आपका उपवास केवल आहार त्याग करने से और भूखे रहने से ही सम्पन्न नही होता । उसमे तो विपय और कपाय के भी त्याग की भावना होनी चाहिये । लघन तो ज्वर अथवा अन्य बीमारियो मे भी अनेक हो जाते है किन्तु उनकी गणना तपश्चर्या मे नही होती । आप पौपध व्रत करते है और इधर-उधर न घूम कर स्थानक-उपाश्रय मे ही दिन व्यतीत करते हैं, पर बधुओ ! इतने मात्र से ही आपका पौपध व्रत सार्थक नही हो सकता । वह सार्थक तब हो सकता है जब कि विनय, विवेक, वैराग्य, सेवा, सहनशीलता तथा आत्मचिंतन आदि के द्वारा आप अपनी आत्मा को समभावमय, उन्नत, दृढ तथा उज्ज्वल बनावे ।

इसी प्रकार सामायिक सिर्फ दो घडी का समय बिताने मात्र से नही सम्पन्न होती । आत्मा मे पूर्ण समभाव आना चाहिये तथा अन्तरात्मा विश्व-प्रेम के मधुर रस से सराबोर होनी चाहिये । यही वास्तविक सामायिक है । भारतीय धर्म के उन्नायको ने इस तथ्य को भली भाति समझा था और जीवन मे उतारा भी था । उनके हृदय से सदा ये उद्गार निकलते थे —

"मित्रस्याह चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्ष्ये ।"

अर्थात् मैं समस्त प्राणियों को मित्र की दृष्टि से देखता हूँ। जैन शास्त्रों का तो प्रधान मंत्र यही है कि प्रत्येक प्राणी को अपनी आत्मा के समान ही समझना चाहिये, समस्त प्राणियों के प्रति मन में मैत्री भाव होना चाहिये—

"सव्व भूयप्पभूयस्स" तथा "मित्ती मे सव्व भूएसु"

कोई भी प्राणी विश्व मैत्री का विरोध नहीं करता। सभी चाहते हैं कि विश्व का प्रत्येक प्राणी मैत्री के गाढे बन्धनों में आबद्ध हो जाय और कोई किसी का विरोधी अथवा शत्रु न रहे। किन्तु इसके लिये जैसे हृदय की आवश्यकता है वैसा हृदय कोई भी अपना नहीं बना पाता। अर्थात् बिना नींव के ही विश्व मैत्री तथा विश्वशांति का भवन बनाना चाहते हैं। क्या यह संभव है? नींव के बिना इमारत खडी हो सकती है क्या?

आप सोचेंगे कि विश्व-बंधुत्व की नींव क्या है? इसके उत्तर में मेरा यही कथन है कि सर्व प्रथम तो आध्यात्मिकता की भावना ही इस नींव में होनी चाहिये। इसके अभाव में आर्थिक, शैक्षणिक अथवा अन्य कोई भी आधार विश्व-शांति की इमारत को मजबूत नहीं बना सकता। जब तक हमारी प्राचीन अध्यात्म प्रधानसंस्कृति का पुनरुत्थान नहीं होता तब तक विश्व-बंधुत्व की भावना का प्रसार होना असंभव है।

विश्व-बंधुत्व तथा विश्व-मैत्री के नारे लगाने से यह संभव नहीं है। उसी तरह जिस तरह कि प्रतिक्रमण का पाठ मात्र पढ लेने से और सिर्फ शब्दों के द्वारा ही चौरासी लाख योनियों के प्राणियों से क्षमा माग लेने से पापों तथा अपराधों के लिये क्षमा नहीं मिलती। वास्तव में तो व्यवहार में हमें हार्दिक पश्चात्ताप का प्रायश्चित करना चाहिये। किसी के प्रति भी चले आ रहे वैमनस्य का मन, वचन तथा काया से त्याग करना चाहिये। किसी उर्दू के शायर ने कहा है—

मंजिले हस्ती में दुश्मन को भी अपना दोस्त कर।
रात हो जाए तो दिखलावें तुझे दुश्मन चिराग॥

सच्चे हृदय से दुश्मन को दोस्त बना लेने पर दुश्मन कब तक दुश्मन बना रह सकता है? मनुष्यों की अंगुलियां काट काट कर उनकी माला पहनने वाला डाकू अंगुलिमाल तथा छः पुरुषों और एक स्त्री का प्रतिदिन वध करने वाला अर्जुनमाली भी अध्यात्म बल के कारण बदल गया। अपने दानव रूप को उन्होंने देवत्व में परिणत कर लिया। मनुष्य ही क्या, पशु पक्षी भी प्रेम को तथा दया को पहचान लेते हैं। महा विषधर नागराज

चण्ड-कौशिक ने भगवान् महावीर के नेत्रो मे अपने प्रति स्नेह-भावना देखकर जीवन पर्यन्त किसी को न डसने का प्रण कर लिया। जब तक जीवित रहा उसने मनुष्यो के द्वारा पहुँचाई गई चोटो को तथा अनेकानेक आघातो को अत्यत साम्यभाव से सहन किया।

स्विट्जरलैड की दो महिलाएं एक सेवाश्रम के चन्दे के लिए जा रही थी कि सामने से एक मुस्लिम युवक आता दिखाई दिया। महिलाओ ने आश्रम का परिचय देकर रसीद बुक उसके हाथ मे दे दी। मुस्लिम युवक ने रसीद बुक पढकर पहले तो जोर से अट्टहास किया और फिर घृणा से अपने मुह से पान की पीक उन महिलाओ की सफेद साडियो पर थूक दी।

महिलाओ ने शांति से फिर कहा— महाशय, पान की पिचकारी के लिये धन्यवाद है, किन्तु गरीव रोगियो की सेवा के लिये कृपया कुछ न कुछ अवश्य दीजिये।

उनकी सहिष्णुता तथा विनीत वाणी से उस मुसलमान युवक का दिल भी पिघल गया। उसने अपने बटुए के सारे रुपये, जो लगभग ५००) थे, निकाल कर दे दिये तथा अपने असभ्य वर्ताव के लिये उन महिलाओ से क्षमा मागी।

बधुओ! ऐमी घटनाओ से सिद्ध हो जाता है कि क्षमा तथा प्रेम के गुण मे क्रूर दिल भी वदले जा सकते हैं। कहा भी है —

"क्षमा वशीकृति र्लोके क्षमया किं न साध्यते ?

— सुभाषित संचय

क्षमा ससार मे वशीकरण मत्र है, क्षमा से क्या सिद्ध नही होता ? सबसे बडा तप भी क्षमा ही है। "क्षान्तितुल्य तपो नास्ति" क्षमा के बराबर दूसरा तप नही है।

अगर आपके हृदय मे क्षमा गुण है, क्षमा करने की शक्ति है तो आपको अन्य किसी तपस्या की आवश्यकता नही है। सत तिरुवल्लुवर ने कहा है— "अपनी पीडा सह लेना तथा दूसरे जीवो को पीडा न पहुँचाना यही तपस्या का सच्चा स्वरूप है।"

वेदव्यास ने भी महाभारत के शाति पर्व मे बताया है—"आतरिक तप चैतन्यमय प्रकाश से युक्त है, उससे तीनो लोक व्याप्त है।"

क्रोध रूप कषाय का शमन ही सबसे वडा तप है। उसके विना तपस्या से कुछ भी उपलब्ध किया जाय, सब व्यर्थ है।

एक साधक था। उसने घोर तपस्या करके जल पर चलने की शक्ति प्राप्त कर ली। प्रसन्नता से दौड़ता हुआ वह अपने गुरुजी के पास आया और बोला—गुरुदेव! आज मुझे जल पर चलने की सिद्धि मिल गई है।

गुरु ने फटकार के स्वर मे कहा—"चौदह वर्षों तक क्या तुम इसी सिद्धि के लिये पच रहे थे?

यह तो एक पैसे की सिद्धि हुई। यह तो तुम मल्लाह को एक पैसा देकर भी प्राप्त कर सकते थे। तपस्या तो आत्म-शुद्धि के लिये होती है। कषायो का नाश तथा क्षमा का धारण करना ही तपस्या का सच्चा फल है। साधक बहुत लज्जित हुआ और उसे अपनी भूल मालूम हो गई।

मेरी बहनो, तथा भाइयो! आशा है आज के दिन का महत्त्व आप समझ गए होंगे और यह भी समझ गए होंगे कि हमे आज क्या सकल्प करना चाहिये।

आज के दिन हमे यह हिसाब नही लगाना है कि हमने कितने पौषध, उपवास किये कितनी सामायिके की? कहां-कहा कितने मुनिराजो के दर्शन किये और कितने प्रवचन सुने? हमे देखना तो यह है कि प्रवचनो मे हमने क्या लिया? घटो उपदेश सुनकर भी अगर हमारे हृदयो मे कोई परिवर्तन नही आया तो रोज चार चार घटे उपदेश सुनने से भी क्या फायदा हुआ? एक व्यक्ति वर्ष भर नियमित रूप से प्रवचन सुने पर ग्रहण कुछ भी न करे और दूसरा एक दिन सुने पर एक साधारण सा गुण भी अगीकार कर ले तो वह वर्ष भर प्रवचन सुनने वाले से हजार गुना अधिक अच्छा है। गाडी भर लकडी के बजाय चन्दन का एक टुकडा अच्छा, जो कि शीतलता प्रदान करता है। सौ बोरी कंकर पत्थरो की अपेक्षा हीरे का एक कण अच्छा, जो कि आपकी अगुलि को सुशोभित करता है।

इसी प्रकार वर्षो प्रवचन सुनने, सामायिक प्रतिक्रमण करने तथा तपस्या करने से अधिक अच्छा है, अगर व्यक्ति अपने मन मे प्रेम, दया तथा करुणा के गुणो को स्थान देवे। करुणा ऐसा महान् गुण है कि जिसकी मधुरता अन्य समस्त गुणो को आकर्षित करके खीच लाती है। आपको सर्व प्रथम अपने हृदय मे करुणा को स्थान देना चाहिये।

मनुष्य के हृदय मे सात्त्विकता की ज्योति जगाने वाली करुणा ही है। आज सवत्सरी के दिन इस स्थानक मे आप सब समाज के कर्णधार विद्यमान है। आपको ध्यान रखना चाहिये कि कम से कम हमारे समाज मे तो कोई दीन-दुखी, असहाय या निराश्रित न रहे। आज अगर आप दृष्टि दौड़ाएं

तो देख सकेगे कि आपके समाज मे, आपके आस-पास ही आपकी अनेक गरीब अथवा विधवा बहने ऐसी स्थिति मे है कि जिनकी दशा देख कर हृदय रो उठता है। उनके पास पेट भर खाने को नही है, लज्जा ढकने के लिये पूरे वस्त्र नही है, और अपना भरण-पोषण करने के लिये कोई साधन नही है। जाति व कुल की मर्यादा के कारण वे हीन कार्य कर नही सकती और परिणामस्वरूप वडी ही भयकर स्थिति मे आठ-आठ आसू बहाते हुए समय गुजार रही है।

ऐसी स्थिति मे आपका सच्चा धर्म यही है कि आज के शुभ दिन से आप उनके लिये कुछ करने का बीडा उठाऐं। अगर आप थोडा थोडा सा भी परिश्रम उनके लिए करे, अपनी विशाल सम्पत्ति मे से हजारवाँ हिस्सा भी उनकी सहायतार्थ लगावे तो ऐमी असहाय बहनो के लिये कोई रास्ता निकल आएगा। कोई ऐसी सस्था स्थापित हो सकेगी जिसमे बहने कुछ हाथ का कार्य, सीना, पिरोना, आदि सीख सकेगी अथवा उससे सरल और अन्य काम सीख सकेगी तथा कुछ प्राप्त कर सकेगी। पापड-वडी आदि घरो के लिये आवश्यक वस्तुऐ जहाँ वनवाई जायँ और बदले मे उनको कुछ अर्थ की सुविधा हो सके। सकल्प करने पर ऐसी कुछ व्यवस्था करना आपके लिये तो तनिक भी कठिन नही होगा। पर उन बहनो का, जो कि बडी भयानक स्थिति मे से गुजर रही है, बहुत कुछ भला हो सकेगा। अधिक क्या कहूँ आपसे, आपके हृदयो मे छिपी हुई करुणा को जगाना चाहिये और अपनी शक्ति का सदुपयोग करना चाहिए। करुणा विश्व की सबसे वडी निधि है।

कहते है कि विश्वकर्मा ने सारी सृष्टि का निर्माण किया और अपनी कला से वडे सतुष्ट हुये। पर उसी क्षण उन्हे विचार आया कि इस सब का उपभोक्ता तो कोई है नही। यह सोचकर उन्होने मानव के निर्माण की तैयारी की। पर जब यह सूचना सत्य को हुई तो वह आकर वोला-भगवन्! ऐसी गलती मत कीजियेगा। मानव दम्भ तथा बेइमानी फैलाकर असत्य को जन्म देगा और आपकी सृष्टि को अशुभ साबित कर देगा।

न्याय भी आया और कहने लगा—भगवन्! मानव केवल स्वार्थी होगा और स्वार्थ के कारण अपने भाई का गला घोटेगा।

शाँति को जब पता चला तो वह भागी भागी आई और वोली—देव! अगर यह मानव सत्य तथा न्याय को नही अपनाएगा और ये दोनो चले जायेगे तो मै फिर कहाँ रहूगी? सारी सृष्टि मे तो हाहाकार मच जाएगा।

उसी समय, विश्वकर्मा की छोटी पुत्री करुणा आ गई और उसने कहा—पिताजी ! आप मानव का निर्माण अवश्य करे। अगर आपके सब दूत सत्य, न्याय आदि उसे सुधारने मे समर्थ नही होगे तो मैं मानव को सुधार लूँगी। मेरे रहते कोई भी दुर्गुण मनुष्य के हृदय मे नही आ सकेगा।

बन्धुओ ! करुणा मे इतनी शक्ति होती है। उसके होने पर मनुष्य के हृदय मे सेवा, भावना, दया, क्षमा आदि सब गुण स्वय आते है और इनका आना ही सच्ची सामायिक है, सच्चा प्रतिक्रमण है, सच्ची तपस्या है और सच्चा धर्म है। अगर ये गुण आपमे थोडी मात्रा मे भी आ सके तो आपका यह सवत्सरी पर्व मनाना सार्थक हो जायेगा।
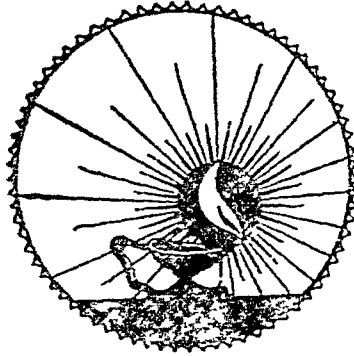
[२]

आम्रमंजरी

मानव दिशाएँ और बिन्दु

१ | सब नदियाँ सागर की ओर...!

देव-सरिता की प्रतिष्ठा को प्राप्त गगा, कृष्ण की क्रीडा-स्थली यमुना, तथा सरयू ब्रह्मपुत्रा, कृष्णा, कावेरी चम्बल आदि समस्त नदिया कल-कल करती हुई तथा अपावन को पावन करती हुई अपनी नैसर्गिक गति से वहती रहती है। सबका लक्ष्य एक ही होता है—सागर मे मिलना।

सवकी राह अलग अलग होती है। वन, खेत और मैदान, नगर और गाव, भिन्न भिन्न स्थानो मे से लहराती हुई और इठलाती हुई सब अनवरत चलती रहती है। किन्तु अन्त मे जाकर सब सागर मे ही विलीन हो जाती है।

बधुओ! ठीक इसी तरह की गति विश्व मे धर्मों की है। ससार मे अनेक धर्म फैले है, अनेक पथ चल रहे हैं, अनेक सम्प्रदाय अपनी अपनी महत्ता का प्रभाव डाल रहे है। लेकिन सवका लक्ष्य एक ही है—मुक्ति प्राप्त करना अपना अस्तित्व मिटा कर परमात्मा मे मिल जाना।

यह ससार अनेको धर्म-रूपी फूलो की फुलवारी है। एक फुलवारी मे जिस प्रकार गुलाव, चमेली, चम्पा, जूही, मोगरा, सूरजमुखी, रजनीगधा तथा यूकेलप्टस आदि अपनी अपनी सुगध, सौन्दर्य तथा अन्य विशेषताएं लिये हुए उपवन की शोभा वढाते है उसी प्रकार विश्वरूपी फुलवारी मे विभिन्न धर्म भी अपने अपने सिद्धॉत, मान्यताएं आचार-विचार तथा क्रिया-काड आदि लिये हुए मानव की आत्मा को आत्मानन्द के सौरभ से सुरभित करते हुए उसे मोक्ष का मार्ग वताते है।

जिस प्रकार प्रत्येक पुष्प उपवन को सुगन्धित बनाता है, उसी प्रकार धर्म आत्मा को परमात्मा बनाने का मार्ग प्रदर्शित करने के लिये है। इसीलिये जब मनुष्य प्रत्येक पुष्प की सुगन्ध लेता है, उसकी प्रशसा करता है तो उसे प्रत्येक धर्म का भी यथोचित आदर करना चाहिये और जिस धर्म मे जो अच्छाई हो उसे ग्रहण करना चाहिये। गुलाब को पसंद करने वाला कोई व्यक्ति अगर गुलाब को ही अपना फूल मानकर अन्य फूलो की निदा करे और उन्हे उखाड देने का प्रयत्न करे तो यह उचित नही, ठीक इसी प्रकार एक धर्म का अनुयायी यदि अन्य धर्मों की निन्दा करता है और उन्हे जड-मूल से उखाड फेकने का प्रयत्न करता है तो ऐसा करना भी अनुचित है। एक गुलाब के अलावा अन्य पुष्पवृक्षो को नष्ट करने से जैसे उपवन की शोभा खत्म हो जाती है, उसी प्रकार मजहबो के लिये लडने से, मारकाट करने से तथा द्वेष करने से मुक्ति के द्वार बद हो जाते है।

ससार मे प्रत्येक वस्तु का अपना-अपना धर्म होता है। हर वस्तु का हर प्राणी का, हर मनुष्य का अपना धर्म है। डक मारना बिच्छू का धर्म है, पर उसके प्राण बचाना मनुष्य का। जलाना आग का धर्म है, पर बुझाना पानी का। पशु, पक्षी, चर और अचर सबका अपना अपना धर्म होता है।

हमारा भी जो धर्म है, उसका हम पालन करे यह हमारा कर्त्तव्य है। वैसे धर्म का अर्थ कर्तव्य का पालन करना होता है। पर कर्तव्य के साथ-साथ इसमे पवित्रता, विश्वास तथा श्रद्धा भी आती है। अहिसा सत्य, सयम तथा तप आदि पर दृढ रहना ही धर्म है। जैनागम मे कहा गया है —

धम्मो मंगलमुक्किट्ठं, अहिंसा संजमो तवो।
देवा वि तं नमसंति जस्स धम्मे सयामणो॥

—दशवैकालिक सूत्र

धर्म सबसे उत्तम मगल है। धर्म है—अहिसा, सयम और तप। जिसके मन मे सदा धर्म रहता है, उसे देवता भी नमस्कार करते है।

'मनु' ने भी चारो वर्णों के लिये जो धर्म बताया है, उसमे पाच बातो पर जोर दिया है।—

अहिंसा सत्यमस्तेयं शौचमिन्द्रिय—निग्रह।
एतं सामासिकं धर्मं चातुर्वर्ण्येऽब्रवीन्मनुः॥

रामायण मे तुलसीदासजो ने लिखा हे कि अहिसा -- किसी को न सताना सवसे वडा धर्म है और सवसे वडा पाप दूसरे की निन्दा करना हे।

परम धर्म श्रुतिविदित अहिसा ।
पर निन्दा सम अघ न गिरीसा ॥

वाचक उमास्वाति द्वारा रचित 'तत्त्वार्थ सूत्र" सभी सम्प्रदायो मे मान्य जैनधर्म का प्रसिद्ध ग्रन्थ है। इसमे उत्तम धर्म के दस अग वताये है। १ क्षमा, (सहनशीलता) २ मार्दव (चित्त मे मृदुता) ३ आर्जव (भाव की शुद्धता) ४ शौच, (लोभ अथवा आसक्ति न होना) ५ सत्य, ६ सयम, ७ तप, ८ त्याग, ९ अकिचनता (अपरिग्रह) तथा १० ब्रह्मचर्य ।

वैशेषिक दर्शन मे भी कहा है —

यतोऽभ्युदय-निःश्रेयस-सिद्धि' स धर्म

अर्थात् धर्म वह है, जिससे मनुष्य को इस लोक मे उन्नति होती हे तथा परलोक मे मोक्ष की प्राप्ति होती है।

इन उदाहरणो से वधुओ ! आप समझ गये होगे कि प्रत्येक धर्म मे वे सव गुण आ जाते है जो कि प्रत्येक मनुष्य मे होने चाहिये । वह चाहे किसी भी जाति का हो और किसी भी सम्प्रदाय का हो। प्रत्येक धर्म का अर्थ है प्राणी मात्र पर करुणा, प्राणीमात्र से प्रेम, ऐसा सद्‌आचरण कि जिससे अपना तथा दूसरो का भला हो। सत्य, सयम, ईमानदारी—यही सब धर्मो का मूल है। सभी धर्मो के पवित्र सिद्धात है। यहा तक कि इस्लामधर्म मे ईश्वर निष्ठा, भाईचारा और सदाचार पर जोर दिया गया है। उससे भी यही कहा गया है कि नम्रता, गरीवी और प्रेम ही धार्मिक होने की पहचान है —

खाकसारी आजजी गुरबत मुहब्बत दोस्ती ।
जिनके ये अफआल है, वोही सआदत मन्द है ।

साराश यही कि, सभी धर्म आत्मा को ऊँचा उठाने का प्रयत्न करते है और मोक्ष की प्राप्ति का उपाय बताते है।

अज्ञानी व्यक्ति किसी पथ अथवा सम्प्रदाय को ही धर्म मान बैठते है। वे नही जानते है कि धर्म आत्मा है तो पथ अथवा सप्रदाय सिर्फ उसका कलेवर। उस कलेवर मे से जव धर्म रूपी आत्मा निकल जाती है तव वह कलेवर,

जिसे हम संप्रदाय कहते है, ईर्ष्या, द्वेष तथा वैमनस्य की दुर्गन्ध फैलाने लगता है।

सभी पथ अथवा संप्रदाय धर्म के ही विविध अग होते है। पर इन विषय मे तमाशा यह हो गया कि जिसने जो अंग पकड़ लिया वह अग उसी को धर्म मान बैठा और दूसरे अग वालो से लड़ने झगड़ने बैठ गया। उन अधों की तरह जो कि एक हाथी को देखने गए थे।

हाथी के पास पहुँच कर एक अधे ने उसके पेट पर हाथ फेरकर कहा—हाथी नगाडे जैसा है। दूसरे ने पैर छू कर कहा—खभे जैसा है। तीसरे ने पूँछ पकड कर रस्सी जैसा बताया। चौथा बोला—हाथी सूप की तरह है क्योकि उसने हाथी के कान का स्पर्श किया था, पाँचवा, जिसने कि हाथी का दात पकड रखा था, बोला—हाथी गदा की तरह होता है। सबके सब अपनी-अपनी बात जोर देते हुये झगडने लगे कि हाथी ऐसा ही होता है।

सयोगवश एक नेत्रवान् मनुष्य उधर से निकला। उसने अधो को झगडते देखकर समझाया कि भाईयो ! व्यर्थ झगडो मत। हाथी की सूँड साँप जैसी, दात गदा जैसा पैर खभे जैसे, पेट नगाड़े जैसा तथा कान सूप की तरह होते है, किन्तु इन सबके सम्मिलित रूप को ही हाथी कहा जाता है।

धर्म का भी ठीक यही हाल है। सारे धर्म एक हैं, मगर पथो के चक्कर मे पड कर लोग अधो की तरह झगडते है, यद्यपि आत्मशुद्धि करना सबका लक्ष्य एक यही होता है।

रस्ते जुदे जुदे हैं मकसद एक है।

सामायिक, प्रतिक्रमण, पूजा-पाठ, जप-तप व्रत-अनुष्ठान, ज्ञान-ध्यान रोजा और नमाज; तसवीह तथा माला सब मनुष्य को एक ही ठिकाने पर पहुँचाते है, बशर्ते कि मनुष्य का सम्यक् विवेक जागृत हो और वह सदाचार परायण हो।

मनुष्य अपने उपास्य को राम कहे अथवा कृष्ण उससे कुछ बनता अथवा विगडता नही। जरूरत सिर्फ इतनी है कि मन को शुद्ध बनाकर भगवान् की उपासना करे। किसी ने कितना सुन्दर कहा है —

या राम कहो या रहीम कहो, दोनों की गरज अल्लाह से है।
या इश्क कहो या प्रेम कहो, मतलब तो उसीकी चाह से है।
या धर्म कहो या दीन कहो, मकसद उसी की राह से है।
या सालिक हो या योगी हो, मंशा तो दिले-आगाह से है॥

क्यो लडता है मूरख बदे, यह तेरी खाम-खयाली है।
है पेड़ की जड तो एक वही, हर मजहब इक इक डाली है।

कोई राम कहता है, कोई रहीम। कोई ईशू कहता है कोई सत श्री अकाल। कोई अहुरमज्द कहता है और कोई जुहोवा। किसी को भक्ति रुचती है, किसी को ज्ञान। किसी को कर्म मे आनन्द आता है किसी को प्रार्थना मे। कोई प्रभु के गुणो का चिन्तन करता है और कोई जप-तप। पर सबकी इच्छा एक ही स्थान 'मोक्ष' मे पहुँचने की होती है या होनी चाहिये।

भेद सिर्फ ऊपर मे दिखाई देता है। किन्तु भीतर तो सब मे एक ही तत्त्व समाया हुआ है। चाहे मन्दिर हो, चाहे मसजिद, ईट, चूना पत्थर तो सभी मे एक सा ही होता है।

बनवाओ शिवालय या मसजिद, है ईंट वही चूना है वही
मेमार वही मजदूर वही, मिट्टी है वही गारा है वही॥

ऊपर के दिखावटी भेद भावो को या वेप भूपा को लेकर लडना-झगडना भारी भूल है। जब कि सभी धर्म अहिसा एव प्रेम की शिक्षा देते है। सभी सत्य और ईमानदारी पर जोर देते है। सभी धर्म करुणा और दया का उपदेश देते है और सभी धर्म सतोप तथा क्षमा पर बल देते है। साधु और सन्त, ऋपि और मुनि युग युग से इसी बात की पुकार करते रहे है।

गाँधीजी सभी धर्मो का आदर करते थे। विनोबा भावे ने तो ३६ नामो की एक माला ही बना ली है। एक बार वे हृषीकेश से हरिद्वार जा रहे थे तो किसी ने उन्हे चन्दन की एक माला भेट की। वैसे वे माला बहुत कम फेरते है, पर जब वह मिल ही गई तो रात को सोते समय माला के साथ उनका चिन्तन भी चलने लगा। विभिन्न धर्मो का तथा पन्थो का और वही धीरे धीरे तीन पदो मे परिणत हो गया —

ॐ तत् सत् श्री नारायण तू, पुरुषोत्तम गुरु तू।
सिद्ध बुद्ध तू, स्कन्द विनायक, सविता पावक तू॥
ब्रह्म ज्दद तू यह्व तू, ईश पिता प्रभू तू।
रुद्र विष्णू तू राम कृष्ण तू, रहीम ताओ तू।
वासदेव गो विश्व रूप तू, चिदानन्द हरि तू।
अद्वितीय तू, अकाल निर्भय, आत्म लिंग शिव तू॥

इसमे जैन, बौद्ध, सिख, पारसी, यहूदी, ईसाई, ईसलाम, ताओ आदि

अनेक धर्मों के देवताओं के नाम हैं। पर ये सब एक ही भगवान के नाम हैं। उसी के अनन्त रूप हैं। सच्चे हृदय से उसका चाहे जो नाम लो, उसमें ही परमात्मा मिल जाएगा।

पानी को कोई जल कहता हैं, कोई आब, कोई वाटर, कोई एकुवा। इसी तरह प्रभु को कोई कृष्ण कहता है कोई हरि, कोई शिव कहता है कोई ब्रह्मा मगर आशय तो एक पूर्ण वीतराग सर्वज्ञ-सर्वदर्शी परमात्मा से ही होना चाहिए। नामों से कोई फर्क नही पडता। किसी भी नाम से उपासना की जाय मुक्ति का वही मार्ग हो जाता है और प्रत्येक मार्ग का अन्त एक ही मोक्ष होता है—सब रास्ते जहाज है पर सबका लगर एक ही घाट होना है।

जन्म के बाद मानव जब कुछ समझने लायक होता है तभी से वह सोचने लगता है—मैं कौन हूँ ? कैसे पैदा हुआ ? इस जन्म के पहले कहाँ था और मरकर कहाँ जाऊँगा ? ईश्वर क्या है ? सत्य असत्य क्या है कर्तव्य अकर्तव्य क्या है ? ऐसे-ऐसे हजारो प्रश्न मन मे उठते है। यह है हमारे मन की जिज्ञासा।

और जहाँ से इनका उत्तर मिलने की आशा होती है। लोक-परलोक, जन्म-मृत्यु, सत्य असत्य तथा ईश्वर के बारे मे जिससे जाना जा सकता है वही होता है धर्म। सभी धर्मों की नीव बस इन्ही सवालो को लेकर पड़ी है।

धर्म के रूप

धर्म के दो रूप है—(१) बाहरी (२) भीतरी। आचार बाहरी होता है तथा विचार भीतरी। विचार सूक्ष्म होता है आचार स्थूल।

धर्म की मूल आधार शिला हैं विचार। इसमे धर्म की बुनियादी बातें, कर्त्तव्य अकर्त्तव्य की बाते और चित्तशुद्धि की साधनाएं आती है। आचार मे पवित्रता के बाहरी नियमो पर, बाहरी आचरण पर जोर दिया जाता है। उद्देश्य तो दोनो का एक ही है—चित्त की शुद्धि और मन की पवित्रता। मन शुद्ध होने पर ही मनुष्य जन्म सफल हो सकता है। आत्मा की उज्ज्वलता ही असली धर्म है। किसी राजस्थानी कवि ने बडे मधुर शब्दो मे कहा है :—

> आतमा मे दाग लगाइजे मती,
> ऊजली ने मैली बनाइजे मती।
> आत्मा है थारी असली सोनो, सोना मे खोट मिलाइजे मती। आ०
> आत्मा है थारी अमृत बूंटी, अमृत मे जहर मिलाइजे मती॥ आ०
> आत्मा है थारी ज्ञान री गुदड़िया, पापा री खोल चढ़ाइजे मती।
> आत्मा है थारी ज्ञान रो दिवलियो, फूंक मार ने बूझाइजे मती॥

अभिप्राय यही है कि, असली साधना भीतर की है। क्षमा, दया, करुणा, तथा मैत्री भाव आदि मन के गुण आत्मा को उन्नत तथा पवित्र बनाते है।

अब बात आती है आचार की, धर्म के बाहरी रूप की। इस बाहरी रूप को लेकर सारे झगडे खडे होते हैं। क्योकि हर धर्म का अपना बाहरी रूप होता है। धर्म-ग्रन्थ, दर्शन, आराध्य, तीर्थ, उत्सव तथा पूजा उपासना की पद्धति आदि सभी धर्मो की अपनी अलग-अलग होती है। विश्व मे आज पाच मुख्य धर्म है—हिन्दूधर्म, जैनधर्म, बौद्ध धर्म, ईसाई धर्म, तथा इस्लाम धर्म।

हिन्दू धर्म—हिन्दू धर्म बहुरूप धर्म है। इसके अनेक धर्म-ग्रन्थ है। वेद, उपनिषद् महाभारत, गीता, रामायण तथा भागवत, पुराण आदि। इस धर्म मे ब्रह्म, ईश्वर, विष्णु, महेश, राम, कृष्ण, हनुमान आदि की ही नही वरन् ३३ करोड देवी देवताओ की उपासना का विधान है। उपासना साकार भी चलती है और निराकार भी। तपस्या भी की जाती है और ध्यान भी। जप भी किया जाता है और कथा-कीर्तन भी।

पवित्रता को लेकर खान पान, छुआछूत आदि के भी बहुत से नियम बने हैं। ऐसा माना जाता है कि धर्म के नियमो का पालन करने से पूजा उपासना और तीर्थ यात्रा आदि से मोक्ष मिलता है।

जैनधर्म —अपने को जिन अर्थात् वीतराग का अनुयायी मानने वाले 'जैन' कहलाते है। श्वेताम्बर, दिगबर, स्थानकवासी, तेरापथी, बीसपथी, तारण पथी आदि सभी अनेकातवाद मे विश्वास रखते है। आत्मा, मोक्ष और ससार आदि के स्वरूप मे उनमे कोई भेद नही है। नौ तत्वो का स्वरूप सभी एक सा मानते है। कर्म-सिद्धात मे भी समानता है।

जैनधर्म के अनुयायी क्षमा, मार्दव, आर्जव, शौच, सत्य, सयम, तप त्याग आकिंचन्य तथा ब्रह्मचर्य इन धर्म के दस लक्षणो का, तथा पर्युषण पर्व मे विशेष रूप से आराधन करते है। सवत्सरी के दिन शाम को प्रतिक्रमण के पश्चात् अपने वर्ष भर के वैमनस्य को भूलकर शत्रुओ को भी गले से लगाते है। पर्युषण पर्व के अलावा अक्षय तृतीया, महावीर जयन्ती, श्रुत पचमी और वीर निर्वाण दिवस (दीपमालिका) आदि और भी पर्व मनाते है।

दिगबर सप्रदाय के अनुसार गृहस्थो के देवपूजा, गुरूपासना, स्वाध्याय, सयम ये तप और दान आदि, छ दैनिक कर्तव्य माने गए है।

श्वेताबर सम्प्रदाय के अनुसार सामायिक, प्रतिक्रमण, वदन, श्रावक के बारह व्रतो का पालन, कायोत्सर्ग और प्रत्याख्यान ये छ. आवश्यक कर्त्तव्य

है। मगर ये दोनो प्रकार के आवश्यक कर्त्तव्य दोनो ही सम्प्रदायो को मान्य है। इनमे किसी को विवाद नही है। जैनो के तत्त्वज्ञान की भूमिका ऐसे दृढ आधार पर खडी है कि आज तक उसमे कोई मतभेद उत्पन्न नही हुआ। जो भी सम्प्रदाय भेद है उसमे आचारसबधी मौलिकदृष्टि तथा आतरिक एकरूपता भी अक्षुण्ण है। सिर्फ वाह्य क्रियाकाण्ड और वेपभूपा का एव प्रतीको का किंचित् भेद है।

अहिंसा के पालन पर जैन धर्म मे वहुत ही जोर दिया गया है। रात्रि भोजन, विना छना हुआ पानी तथा माँस मदिरा आदि का उपयोग जैन धर्म मे वर्जित है। हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील तथा परिग्रह इन पाचो पापो को छोड देने के लिये जैन धर्म मे वडा आग्रह है। इनका त्यागना ही पाच व्रत कहे गये हैं। जैन धर्म मे व्रतो और उपवासो का भी वडा महत्त्व माना गया है। यहा तक कि उपसर्ग आने पर, अकाल पडने पर, वुढापा आने पर और रोग होने पर धर्म के लिये शरीर को भी त्याग देने का आदेश दिया गया है।

णमोकार मत्र, जिसमे कि अरिहत, सिद्ध आचार्य, उपाध्याय, और साधु, इन पाचो की वदना की जाती है जैनो का महामत्र माना जाता है। सारी पूजा, उपासना आचार और व्रत का एक मात्र उद्देश्य मोक्ष होता है।

वौद्ध धर्म —वुद्ध मे विश्वास करने वाले वौद्ध कहलाते है। वुद्ध ने कोई ग्रथ नही लिखा। उनके उपदेशो को उनके शिष्यो ने पहले याद किया और फिर लिख लिया। पेटियो मे उन्हे रखने से उनके नाम पिटक पडे। ये तीन है (१) विनयपिटक (२) सुत्तपिटक (३) अभिधम्म पिटक।

इनमे भिक्षु तथा भिक्षुणियो के लिये नियम वनाए गए है।

वौद्ध श्रावक चार कर्म क्लेश मानते है—हिंसा, चोरी, दुराचार तथा झूठ तथा पाप के भी चार स्थान हैं—रागवश, द्वेपवश, मोहवश तथा भयवश पाप करना।

वौद्ध धर्म के भी चार पथ हैं—थेरवाद, महायान, तिव्वती और जेन। ये सम्यक् ज्ञान, सकल्प, सत्य अहिंसा, न्याय, सत् प्रयत्न, अलोभ तथा समाधि इस अष्टागिक मार्ग के द्वारा निर्वाण की प्राप्ति मानते हैं।

इस्लाम —इस्लाम के पाच स्तम्भ हैं (१) ईमान (२) नमाज (३) रोजा (४) जकात (गरीबो, अनाथो, स्कूलो तथा अस्पतालो के लिये दान देना) (५) हज (पवित्र तीर्थ 'मक्का' जाना)।

कुरान इनका धर्म ग्रथ है। ये १०० मनको की माला पर अल्लाह का नाम जपते है।

सिख धर्म —सिखो का धर्मग्रथ है 'गुरु ग्रथ साहिब'। इसके प्रति सिखो की बड़ी श्रद्धा रहती है और बडी भक्ति से वे इसकी पूजा करते हैं। उसकी धूलि माथे पर लगाते है। जब ग्रथ का पाठ होता है तो एक भक्त पीछे खडा होकर उस पर पखा झलता है। भक्त लोग उस पर रुपये पैसे भी चढाते है। गुरुद्वारे मे रोज सुबह शाम इसका पाठ होता है। सिख १०८ मनको की माला पर 'सतनाम वाह गुरु' जपते है।

केश, कघा, कच्छा, कडा और कृपाण—ये इनके पवित्र चिह्न माने जाते है। गुरु गोविन्दसिंह के कहने के बाद से ही सिख इन्हे धारण करते आते है। ये मूर्तियो की पूजा नही करते। ग्रथ साहिब की करते है। मन की पवित्रता पर ये बडा जोर देते है। वास्तव मे यह हिन्दू धर्म का ही एक पथ है।

पारसी अग्नि के उपासक होते है। ये 'अहुर मज्द' मे विश्वास करते हैं। इनके धर्म के तीन स्तम्भ है—पवित्र विचार, पवित्र वाणी तथा पवित्र कार्य।

पारसी जरतुश्त के अनुयायी होते है तथा उन्ही के चित्र की पूजा करते है। इनके धर्म ग्रन्थ का नाम ''जन्द अवेस्ता' है। अगियारी (अग्नि मदिर) मे पूजा करना इनका धार्मिक कर्तव्य माना जाता है।

पारसी धर्म मे पवित्रता, न्याय, सयम, स्वावलम्बन, पशुओ की रक्षा, दया, दान, सेवा तथा शिक्षा के प्रसार मे बडा जोर दिया जाता है।

ईसाई धर्म —ईसाई धर्म मे माना जाता है कि भगवान् अपने आपको तीन रूपो मे प्रकट करता है —(१) परम पिता परमात्मा, (२) भगवान् का पुत्र ईसा और (३) पवित्रात्मा।

बाइबिल उनका धर्मग्रन्थ है। गिरजाघर मे वे बराबर जाया करते है। क्रॉस ईसाइयो का पवित्र चिह्न माना जाता है। मानव मात्र से प्रेम करना ईसाई धर्म का आदर्श है।

बधुओ! आप समझ गए होगे कि इन धर्मो के बाबत कुछ बताने का मेरा आशय क्या है। यही कि धर्म के दो, बाहरी तथा भीतरी रूप, विचारो मे तो किसी प्रकार के भेदभाव का भय नही है, किन्तु धर्म के बाहरी रूप, आचार को लेकर अनेक बार खून खराबियाँ होती रहती है। धर्मान्धता

के कारण एक सम्प्रदाय दूसरे सम्प्रदाय पर कीचड उछालता रहता है। समय-समय पर मार काट पर उतारू हो जाता है। यह वडी अज्ञानता की वात है। इससे सावित हो जाता है कि मनुष्य धर्म के असली तत्त्व को नही पहचानते।

धर्म के वाहरी तत्त्व अर्थात् आचार तथा क्रिया पर ही जो लोग ज्यादा जोर देते हैं उनमे अहकार ही वढना है, आत्मा उन्नत नही होती, वे धर्म के वाहरी रूप को पकड कर वैठ जाते है और भीतरी तत्त्व को समझ नही पाते। भ्रमवग वाहरी क्रिया-काड मे ही भूले रहते है और आत्मा की पवित्रता की ओर उनकी दृष्टि नहीं जाती। परिणाम-स्वरूप वे जीवन भर वेद, पुराण गीता, भागवत, कुरान और गुरु ग्रथ साहिव सुनते हैं पर अन्त तक धर्म का मर्म नही समझ पाते और भेड की पूछ पकड कर सागर पार करने के प्रयत्न मे डूव जाने वाले व्यक्ति की तरह भव-सागर के भवर मे डूव जाते है। कहा भी गया है—

दुनिया भरम भूल बौराई।

आतम राम सकल घट भीतर, जाकी सुद्धि न पाई॥
जप तप संयम काया कसनी, साख्य जोगव्रत दाना।
यातें नहीं ब्रह्म से मेला, गुनहर करम बंधाना॥
वकता ह्वै ह्वै कथा सुनावे, स्रोता सुनि घर आवे।
ज्ञान ध्यान की समझ न कोई, कह सुन जनम गवावै॥
जन 'दरिया' यह वडा अचम्भा, कहै न समझै कोई।
भेड़ पूंछ गहि सागर लांघै, निश्चय डूबै सोई॥

भाइयो! आज के मेरे विचारो को जानकर आप लोगो के मन मे सभवत: एक जवर्दस्त प्रश्न उठ खडा हुआ होगा कि जव सव धर्म समान है तो फिर किसको अपनाया जाय? क्या सभी को अगीकार किया जाय? आप किसी प्रकार के भ्रम मे न पड जायँ इसलिये मैं इन प्रश्नो का उत्तर दे रही हूँ।

जैसा कि मैंने अभी वताया, सभी धर्म महान् है और सभी मोक्ष की ओर ले जाने वाले है क्योकि धर्म का असली तत्त्व सभी मे एक है। यह अवश्य है कि धर्म के ऊपरी रूप क्रिया-काड तथा आचार-विचार मे सभी मे भिन्नता है और किसी किसी मे तो वह इतना अधिक दिखावटी हो गया है कि उनकी क्रियाएं व्यर्थ मालूम होने लगी है और मनुष्य उनके जाल मे

फस कर धर्म के भीतरी और सही तत्त्व को भूल गया है। खैर . मैं धर्मों के विषय मे ही कह रही थी कि वास्तव मे तो सभी धर्म मुक्ति की ओर ले जाने वाले है।

इसलिये मानव को चाहे वह किसी भी धर्म का हो अपने धर्म को सही तौर से व पूरी तौर से, अपनाना चाहिये। उसके भीतरी व बाहरी रूप को सही मायने मे समझ कर उसके अनुसार उसे जीवन मे उतारना चाहिये। दूसरे धर्म भी अच्छे है, सिर्फ यही सोचकर उन्हे भी अपनाने की कोशिश करना बुद्धिमानी नही है। हाँ बुद्धिमानी यह है कि दूसरे धर्मावलम्बियो को भी प्रत्येक मनुष्य उतना ही आदर व सम्मान दे जितना कि अपने साधर्मी भाई को देता है।

अभी मैंने कहा था कि सागर मे अनेक जहाज होते है पर सभी का लगर तो एक ही घाट होता है। सभी जहाजो मे यात्री जाते है। जो जिस जहाज मे बैठा हुआ होता है वही उसे उसके लक्ष्य की ओर ले जाता है। बीच रास्ते मे किसी को जहाज बदलने की आवश्यकता नही, और न ही दूसरे जहाज-यात्रियो पर कीचड-पानी उछालने की, बुरा भला कहने की या कि उनके जहाज को डुबो देने की आवश्यकता है। ये सभी कार्य निकृष्ट है। आपस मे वैमनस्य रहने पर दोनो जहाजो को डूबने का खतरा होता है, उसे त्याग कर आवश्यकता इस बात की है कि एक दूसरे का सहायक बना जाय। किसी एक जहाज मे खराबी होते ही दूसरे जहाज को उसकी मदद करना चाहिये। हम देखते है कि एक शहर से दूसरे शहर की ओर दौडने वाली मोटरो मे से अगर किसी मे कुछ खराबी होती है तो बाद मे आने वाली मोटर का चालक तुरन्त रुक कर, उसकी सहायता करता है और उसे भी चलने योग्य बना कर अपने रास्ते पर चल देती है।

बस, यही सभी धर्मावलम्बियो को सोचना चाहिये। अपने धर्म पर, अनन्य विश्वास रखते हुए भी अन्य धर्मावलम्बी को घृणा की दृष्टि से नही देखना चाहिये और न किसी को दूसरे के धर्म की निंदा करनी चाहिये।

महावीर प्रसाद द्विवेदी के गाव मे एक बार किसी हरिजन को एक साँप ने काट खाया। द्विवेदी जी ने उसे देखा तो तुरन्त अपना जनेऊ तोडकर उससे साप के काटे हुए अग पर कसकर बाध दिया।

लोग चौक पडे कि एक तो जनेऊ यो ही पवित्र उसे तोड कर एक अछूत को कैसे बाध दिया ?

यह सोचने की वात है कि जनेऊ तोड डालने से और हरिजन को छू लेने से क्या धर्म भ्रष्ट हो गया ? नही ! जनेऊ तो सिर्फ एक चिह्न है, धर्म उसमे नही रहता । धर्म तो हृदय मे रहता है । धर्म का उद्देश्य यही है कि मनुष्य के चरित्र मे अटल वल प्राप्त हो और वह विश्व के समस्त प्राणियो को आत्मवत् समझे । जो धर्म दूसरे धर्म को वाधा पहुचाता है वह धर्म नही कुधर्म है ।

भारत मे सदा ही धर्म -आत्म-विकास का एकमात्र कारण माना गया है । जैसा कि अभी अभी मैने वताया था—हिन्दू धर्म, जैन धर्म, वौद्ध धर्म ईसाई धर्म और इस्लाम धर्म । ये पाचो धर्म आज ससार के मुख्य धर्म है । इनमे से इस्लाम, ईसाई और वौद्ध धर्म तो पिछले दो ढाई हजार वर्ष से ही अस्तित्व मे आए हैं । हिन्दू तथा जैन धर्म ये दोनो ही प्राचीन धर्म माने जाते हैं । हिन्दू धर्म-शास्त्रो मे, जो अधिक प्रचलित है ऐसे वेदो, उपनिषदो तथा भागवत मे भी प्रथम तीर्थंकर श्री ऋषभदेव विषयक उल्लेख मिलते हैं । अत इसमे सन्देह नही कि जैन धर्म ही अधिक प्राचीन है । और जैन धर्म वताता है —धर्म मानवता का प्रवेश द्वार है, यह उपदेश की नही, आचरण की वस्तु है । यह सहज व स्वाभाविक है । दार्शनिक 'स्टालिन' ने कहा है —

"धर्म को रोका नही जा सकता, अन्तरात्मा तथा हृदय को दवाया नही जा सकता ।'

महात्मा गाधी ने भी कहा है—"जहा धर्म नही वहा विद्या, लक्ष्मी, स्वास्थ्य, सभी का अभाव होता है । धर्म रहित स्थिति मे बिलकुल शुष्कता होती है, शून्यता होती है ।

विद्वान फ्रेकलिन ने तो यहा तक कहा है —

"If man are so wicked with religion, what would they be without it"

धर्म होने पर भी जव मनुष्य इतने नीच है, तो यदि धर्म न होता तो वे क्या होते !

भारतवर्ष का अनन्य दर्शन हमें वार वार कहता है —

"अप्पणा सच्चमेसिज्जा मित्ति भूएसु कप्पए ।"

आत्मा से सत्य का अन्वेपण करो और प्राणी मात्र के प्रति मैत्री भाव रखो ।

धर्म को लेकर लड़ना झगडना पतन का कारण है । हम चाहे जिस

धर्म को देखे, यही तत्त्व समझे और बरते, हम देखेगे कि सब धर्मों के भीतर सत्य, प्रेम तथा करुणा, यही समाया हुआ है। अगर हमे सचमुच धर्मात्मा बनना है तो इन्हे जीवन मे उतारना होगा और ऊपरी भेद-भाव तथा वैमनस्य को छोडना होगा। यह याद रखना होगा कि —

"जप, माला, छापा, तिलक सरै न एकौ काम।"

काम तो तभी बनेगा जब कि हम धर्म के भीतरी रूप को समझ लेगे, और तभी हमारा धर्म-जहाज हमे मुक्ति की ओर पहुँचाएगा। अन्यथा बिना पतवार के जहाज की तरह आत्मा इस भवसागर मे डोलती रहेगी और फिर मोक्ष-रूपी किनारा पाना असभव हो जाएगा।

सज्जनो! समय हो चुका है। आशा है आप समझ गए होगे कि असली धर्म सद्विचार और सदाचार है। इस युगल को जीवन मे उतारने से ही आत्मा कल्याण का भागी बनता है।

२

संजीवनी श्रद्धा

धर्मप्रिय बंधुओ ! आज रविवार है, अत, लगता है कि स्थानक छोटा हो गया है। भाई-बहनो को बैठने के लिये स्थान नही मिल रहा है फिर भी मुझे बडा सतोष तथा प्रसन्नता है कि अत्यधिक जनसख्या, होते हुए भी चारो तरफ 'Pin drop silence' है। आशा मे भी बहुत अधिक शाति है। फिर भी आप लोगो की वाणी मूक होते हुए भी, व्यग्र व उत्सुक निगाहे मुझे जल्दी अपनी बात शुरू कर देने की प्रेरणा दे रही हैं, ऐसा लगता है। अत मैं अपना वक्तव्य आपके सामने रख रही हूँ।

आज का विषय 'श्रद्धा' है। इस विश्व मे प्राणीमात्र आधि, व्याधि तथा उपाधि अर्थात्, मानसिक, शारीरिक तथा भौतिक दुखो से पीडित है। इन तीनो तापो से छुटकारा पाने के लिये तीन साधन हैं—श्रद्धा, ज्ञान और क्रिया। दूसरे शब्दो मे हम इन्हे दर्शन, ज्ञान तथा चारित्र भी कह सकते हैं। मनुष्य को प्रत्येक लक्ष्य की प्राप्ति के लिये इन तीनो का आश्रय लेना पडेगा। अगर कोई व्यक्ति अस्वस्थ हो तो सर्व-प्रथम उसे श्रद्धा या विश्वास होना चाहिये कि मैं अस्वस्थ हू। किसी बीमारी से पीडित हूँ। उसके पश्चात् व्यक्ति को अपनी बीमारी से मुक्त होने के उपायो का ज्ञान-होना चाहिये और यह ज्ञान होने के पश्चात् क्रिया के द्वारा उन उपायो को कार्य रूप मे लाकर रोग मुक्त होना चाहिये। इसी तरह अगर किसी को अमेरिका जाना हो तो सर्वप्रथम उसे यह मालूम करना पडेगा कि अमेरिका विश्व मे किस जगह है ? यहाँ से कितनी दूर है ? उसके बाद उसे यह ज्ञान करना होगा कि वहा किस प्रकार जाया जा सकता है। किस प्रकार जाना ठीक रहेगा—हवाई जहाज द्वारा अथवा जल-जहाज द्वारा ? यह ज्ञान कर लेने के बाद मानव टिकिट खरीद कर जहाज मे बैठेगा और तब अपने लक्ष्य की

ओर पहुँच सकेगा। आशा है इन तीनो के विपय मे आप समझ गए होगे। पर इसके साथ ही एक बात और ध्यान मे रखनी है। वह यह कि दर्शन, ज्ञान तथा चारित्र के पूर्व सम्यक् शब्द लगा है सम्यक् अर्थात् सच्चा। अगर दर्शन, ज्ञान व क्रिया सही नही होगे तो किसी भी लक्ष्य की प्राप्ति नही होगी।

आप अन्दाज लगा सकते है कि अगर रोगी अपनी बीमारी का सही निदान न करवाए तो उसे अपनी बीमारी के सही उपचारो का ज्ञान कैसे होगा ? और सही उपचारो का ज्ञान न होने पर वह सही औपधि का प्रयोग कैसे कर सकेगा ? परिणाम यह होगा कि रोगी स्वस्थ होने के बजाय उलटे मृत्यु के मुख मे चला जाएगा। सम्यक् शब्द ही हमारा सम्यक्त्व है। हमारी सिद्धि का सोपान है। सम्यक्त्व के बिना श्रावक अथवा साधु कुछ भी नही बना जा सकता। बिना सम्यक्त्व के मानव दानव बन जाता है।

श्रद्धा जीवन-निर्माण का मूल मत्र होता है। बिना श्रद्धा के कोई भी मनुष्य इस ससार-सागर से पार हुआ हो ऐसा इतिहास नही बताता। व्यक्ति कितना भी विद्वान् हो, ज्ञानवान् हो, पडित हो, दार्शनिक हो किन्तु अगर उसमे सम्यक्त्व नही है, उसकी आत्मा के प्रति श्रद्धा नही है, तो विविध भापाओ का ज्ञान तथा अनेक प्रकार की कलाओ का अभ्यास भी उसे इस ससार सागर से तैरा कर पार नही कर सकता। स्व० स्वामी श्री चौथमलजी म० ने यही बात अपनी राजस्थानी भापा की पक्तियो मे कही है —

जिणन्द मै जग किम तरसूं हो ?
इंगलिश हिन्दी, फारसी, भण भण उर भरसूं हो।
जिन आगम जचिया बिना, हूँ खोटो खर सूं हो ॥
विविध प्रकार व्याख्यान दे, वर शोभा वरसूं हो।
पिण समकित रुचिया बिना, कहो कैसे सुधरसूं हो ॥
जिणन्द मै जग किम तरसूं हो।

तात्पर्य यही है बधुओ ! कि ज्ञान कितना भी हासिल कर लिया जाय किन्तु जब तक सच्चे देव, गुरु, तथा धर्म पर श्रद्धा नही हो, तब तक मनुष्य न सच्चा श्रावक ही कहला सकता है और न ही साधु।

श्रद्धा अथवा आस्था से ही मन की अनेक गुत्थिया सुलझ जाती है। श्रद्धा के बिना शरीर के रोगो की अथवा मन के रोगो की, कोई भी औपधि

अपना प्रभाव नही डालती। श्रद्धा ही जीवन के लिये अमृत है। किसी भी साध्य की प्राप्ति दुर्लभ नही है। किन्तु दुर्लभ है विश्वास अथवा श्रद्धा। जैनागम कहता है—"सद्धा परम दुल्लहा"

स्वेट मार्टेन ने कहा है "मनोवाञ्छित पदार्थ का मूल श्रद्धा ही हो सकती है।" गाधीजी ने कहा है—"श्रद्धा का अर्थ है आत्मविश्वास और आत्म-विश्वास का अर्थ है ईश्वर मे विश्वास।"

श्रद्धा के दो रूप होते है। प्रथम सम्यक् श्रद्धा, दूसरी अंधश्रद्धा। पहली विवेक पूर्ण होती है और दूसरी अविवेक पूर्ण। दोनो मे गौ के दूध और रक्त के जितना अन्तर होता है। हालाकि दोनो गाय मे ही प्राप्त होते हैं पर अन्तर कितना विशाल होता है। हीरा और कोयले के उदाहरण से भी आप इसे समझ सकते है। दोनो एक ही तत्त्व से बनते हैं, फिर भी दोनो के मूल्य और कार्य मे महान् अन्तर होता है। यह तो आप जानते ही है।

जिस व्यक्ति को सच्चे देव, गुरु तथा धर्म पर श्रद्धा होती है उसकी श्रद्धा दूध व हीरे की तरह मानना चाहिये। इसके विपरीत जो कुदेव, कुगुरु तथा कुधर्म पर श्रद्धा रखता है उसकी श्रद्धा को अंध श्रद्धा तथा कोयले व रक्त की तरह की श्रद्धा मानना चाहिये।

आशा है आप लोग बडी सावधानीपूर्वक मेरी बात सुनेंगे। क्यो कि, हमे अपनी आत्मा मे सच्ची श्रद्धा को लाना है इसलिये यह ज्ञान करना आवश्यक ही नही वरन् अनिवार्य है कि सच्चे तथा मिथ्या देव, गुरु तथा धर्म कौन कौन से है? उनके क्या लक्षण हैं? और उनमे क्या अन्तर है। अब मैं आपको यही बताने जा रही हू।

सच्चे देव वह हैं जो वीतराग हो। जिन्होने राग द्वेष को पूर्ण रूप से जीत लिया है, उन्हे हमे देव मानना चाहिये भले हो उनका कुछ भी नाम हो :—

वीतरागो जिनो देवो रागद्वेष-विवर्जित ।

जो राग तथा द्वेष के दोषो से रहित हो गए हैं ऐसे देवाधिदेव वीतराग प्रभु को ही जिनेन्द्र-भगवान् और जिनदेव कहा जाता है।

इसके विपरीत जो राग के चिह्न स्त्री से युक्त हैं, द्वेष के चिह्न शस्त्र से युक्त है और मोह के चिह्न जपमाला से युक्त है, जो निग्रह और अनुग्रह

अर्थात् किसी का वध करने या किसी को वरदान भी देने वाले है ऐसे देव सच्चे नही है और वे मुक्ति का कारण नही हो सकते —

ये स्त्री शस्याक्षसूत्रादि-रागाद्यङ्कफलङ्कित। ।
निग्रहानुग्रहपरास्ते देवा स्युर्न मुक्तये ॥

—हेमचन्द्राचार्य

सुदेव तथा कुदेव के विपय मे समझ लेने के बाद अब सुगुरु के लक्षण समझिये । किसी भी वेष को धारण करने वाले गुरु हो, किन्तु वे अगर पच महाव्रतो का सम्यक् रूप से पालन करते हो तो वे हमारे गुरु है । श्री हेमचन्द्राचार्य ने गुरु के लक्षण बताए है—

महाव्रत-धरा धीरा भैक्षमात्रोपजीविनः ।
सामायिकस्था धर्मोपदेशका गुरवो मता ॥

अर्थात् पाच महाव्रतो (अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य तथा अपरिग्रह) को धारण करने वाले, परीषह और उपसर्ग आदि आने पर भी व्याकुल न होने वाले, भिक्षा से उदरपूर्ति करने वाले, सदैव सामायिक अर्थात् समभाव मे रहने वाले तथा धर्म का उपदेश देने वाले गुरु कहलाने के अधिकारी है । इसके विरुद्ध—

सर्वाभिलाषिणः सर्वभोजिन सपरिग्रहाः ।
अब्रह्मचारिणो मिथ्योपदेशा गुरवो न तु ॥

—हेमचन्द्राचार्य

जो धन धान्यादि सभी वस्तुओ की अभिलापा रखने वाले, मद्य, मधु, माँस आदि सभी वस्तुओ का आहार करने वाले, परिग्रह से युक्त, अब्रह्मचारी और मिथ्या उपदेश देने वाले है, वे गुरु नही है, कुगुरु है ।

अब हम सम्यक्धर्म के लक्षण पर आते हैं । श्री हेमचन्द्राचार्य के अनुसार धर्म के निम्नलिखित लक्षण है —

दुर्गतिप्रपतत्प्राणि-धारणाद्धर्म उच्यते ।
सयमादिदशविध सर्वज्ञोक्तो विमुक्तये ॥

नरक व तिर्यञ्च आदि दुर्गतियो मे जाते हुए जीव को जो बचाता है वही धर्म है । सयम आदि दस प्रकार (क्षमा, मार्दव, आर्जव, सत्य, शौच, सयम, तप, त्याग, आकिंचन्य तथा ब्रह्मचर्य) का धर्म ही मोक्ष को प्रदान करने वाला होता है ।

मनुस्मृति मे भी धर्म के दश लक्षण बताये गये है --

धृति क्षमा दमोऽस्तेय शौचमिन्द्रिय-निग्रहः ।
धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशकं धर्मलक्षणम् ॥

— मनुस्मृति

धैर्य, क्षमा, दम, अस्तेय, शौच, इन्द्रियनिग्रह, धी, विद्या, सत्य, अक्रोध, ये धर्म के दस चिन्ह हैं ।

सच्चा धर्म पापो की जड काटकर मुक्ति का मार्ग प्रदर्शन करता है पर मिथ्या धर्म इसमे उलटे भव भ्रमण के भवर मे डाल देता है । कुधर्म के लक्षण है—

मिथ्यादृष्टिभिराम्नातो हिंसाद्यैः कलुषीकृतः ।
स धर्म इति वित्तोपि, भवभ्रमणकारणम् ॥

—योगशास्त्र

अर्थात् मिथ्यादृष्टियों के द्वारा प्रवर्तित और हिंसा आदि दोषो से कलुषित धर्म के नाम पर प्रसिद्ध होने पर भी ससार परिभ्रमण का कारण बनता है ।

सक्षेप मे सार यह है कि जो धर्म राग द्वेष तथा कषाय आदि से जीव को मुक्त कर मोक्ष ले जाता हो, उसे ही धर्म कहना चाहिये । उस धर्म का नाम चाहे कुछ भी क्यो न हो ?

आज हम जैन कुल मे उत्पन्न होने के कारण ही अपने को सम्यक्त्वधारी कहने लगते है, किन्तु हमारी यह धारणा गलत है । वास्तव मे तो जिस व्यक्ति मे सम, सवेग, निर्वेद, अनुकम्पा तथा आस्था ये पाँच लक्षण हो वही जैन है और सम्यक्त्व का धारी है । चाहे वह किसी भी जाति का हो । ब्राह्मण हो अथवा राजपूत, वैश्य हो या शूद्र । इसके विपरीत जिसमे ये पाँच लक्षण नही हैं वह जैन जाति मे उत्पन्न होकर भी जैन कहलाने का अधिकारी नही है । एक दिन मैंने कहा था कि कोई भी नवजात शिशु अपने साथ जाति का कोई चिह्न लेकर नही आता । जाति सिर्फ इस शरीर की मान लेते हैं । आत्मा की कोई जाति नही होती । कोई मुसलमान मरकर अपने शुभ कर्मों के कारण जैन जाति मे उत्पन्न हो सकता है और जैन अपने दुष्कृत्यो के कारण मरकर तिर्यच योनि मे भी चला जा सकता है ।

इसीलिये मेरे बन्धुओ ! हमे अपना हृदय बडा विशाल रखना चाहिये । जाति अथवा कुल के आधार पर किसी को ऊचा समझकर आदर

देना अथवा किसी को नीचा मानकर उससे घृणा करना योग्य नही है। किसी भी धर्म अथवा सम्प्रदाय से राग अथवा द्वेष रखना मूर्खतापूर्ण है। जो धर्म दूसरे धर्मों की निन्दा करता है, उसमे बाधा पहुँचाता है वह भी धर्म नही माना जा सकता है धर्म तो हृदय की चीज है इसलिये वह किसी भी सम्प्रदाय अथवा नाम विशेप से बन्धा हुआ नही होता, अत स्वतत्र है तथा पवित्र है। सन्त तिरुवल्लुवर ने कहा है—"मन को निर्मल रखना ही धर्म है बाकी सब कोरे आडम्बर है।" स्वामी रामतीर्थ का कथन है—"धर्म का उद्देश्य है कि मनुष्य के चरित्र मे अटल बल प्राप्त हो।" महात्मा कन्फ्यूशियस ने बताया है कि "गम्भीरता, उदारता, विश्वस्तता, तत्परता तथा दयालुता का व्यवहार ही सच्चा धर्म है" महात्मा गाँधी ने भी यही कहा है—"ईश्वरत्व के विपय मे हमारी अचल श्रद्धा, पुनर्जन्म मे अविचल श्रद्धा और सत्य तथा अहिंसा मे हमारी सम्पूर्ण श्रद्धा ही विशाल तथा व्यापक धर्म है और यह जिन्दगी की हर एक साँस के साथ अमल मे लाने वाली चीज है।"

इस प्रकार हम देखते है कि ससार के सभी महान् पुरुप एक स्वर से हृदय की पवित्रता, निर्मलता, तथा विशालता को ही धर्म मानते है, किसी भी सम्प्रदाय विशेष की क्रियाओ को नही। मेरे कहने का मतलब यह नही है कि क्रिया का कोई महत्त्व ही नही है वरन् यह है कि क्रिया हमारे हृदय की निर्मल भावनाओ के अनुसार होनी चाहिये। शुभ क्रिया ही शुभ फल देती है। विद्वान शरले ने कहा है —

"Only the actions of the just smell sweet and blossom in the dust"

अर्थात् सच्चे मनुष्यो के कर्म ही मधुर सुगध देते है, और मिट्टी मे भी खिलते हैं। विक्टर ह्यूगो ने भी कहा है—

"God actions are the invisible hinges of the doors of heaven"

शुभ कर्म स्वर्ग के दरवाजे का अदृश्य कब्जा है। पाश्चात्य कवि लाँगफेलो ने तो अपनी इगलिश की कविता मे यहाँ तक लिखा है कि भविष्य चाहे कितना भी सुन्दर हो, विश्वास न करो, भूतकाल की भी चिन्ता न करो,

जो कुछ करना है उसे अपने पर और ईश्वर पर विश्वास रखकर वर्तमान मे ही करो —

Trust no future, however pleasant,
Let the dead past bury its dead,
Act-act in the living present,
Heart within and god overhead.

बन्धुओ ! आशा है क्रिया अथवा कर्म के महत्व को आप अच्छी तरह समझ गए होंगे। मनुष्य जैसी क्रिया करेगा वैसा ही उसे फल मिलेगा, 'रामचरित मानस' मे कहा गया है—

करम प्रधान विश्व करि राखा ।
जो जस करइ सो तसु फल चाखा ॥

इसलिये प्रत्येक प्राणी को सच्चे धर्म पर आस्था रखते हुये उसके अनुसार ही क्रिया करनी चाहिये । और तब तक करते रहना चाहिये जब तक कि सामर्थ्य है, इन्द्रियो मे हिताहित के विवेक की शक्ति है ।

बहुत से व्यक्ति यह सोचते है कि धर्म कर्म, व्रत-पचक्खान, सामायिक-प्रतिक्रमण आदि सब बुढापे मे करने की चीजे है । अभी तो, जब तक शरीर मे शक्ति है, अर्थ उपार्जन कर ले और जीवन का आनन्द भोग ले । लेकिन वे अज्ञानी जीव ये भूल जाते है कि जब शरीर और इन्द्रियाँ शिथिल हो जाती है तब आत्मा के कल्याण के लिये चेष्टा करना, झोपड़ी मे आग लग जाने पर कुआ खुदवाने के समान व्यर्थ है, असामयिक है ।

बचपन मे तो धर्म-अधर्म का बोध ही नही होता । युवावस्था मे बोध होने पर भी विपयो की ओर मन झुक जाता है अत धर्म की आराधना नही होती । वृद्धावस्था मे फिर सामर्थ्य ही नही रहती । इस प्रकार अनन्त पुण्यो के योग से मिला हुआ मानव जीवन व्यर्थ हो जाता है । इसलिये कवि भूधरदास जी मनुष्य को चेतावनी देते है —

जौलो देह तेरी काहू रोग सो न घेरी, जोलौं,
जरा नाँहि तेरी जासौं पराधीन परि है ।
जौलो जम नामा वैरी देय न दमामा जौलो,
माने कान रामा बुद्धि जाइ न विगरि है ॥

तौलो मित्र मेरे ! निज कारज सवार लै रे,
पौरुष थकेंगे फेर पीछे कहा करि है ।
अहो आग आए जब झोपड़ी जरन लागी,
कुआ के खुदाए तब कौन काज सरि है ।।

झोपडी जलने लगने पर कुआ खुदाने का प्रयत्न करना जैसे मूर्खता है, उसी तरह वृद्धावस्था आ जाने पर मुक्ति के लिये प्रयत्न करने की सोचना और पहले उसकी अपेक्षा करना भी मूर्खता है। पर ऐसी मूर्खता कौन करता है ?

ऐसा वे करते है जिनके हृदय मे देव गुरु तथा धर्म के प्रति श्रद्धा नही होती । श्रद्धावान् व्यक्ति अपना एक पल भी व्यर्थ नही खोता । उसे विश्वास होता है कि सच्चा सुख आत्मा को कर्म के बधनो से छुडाने मे है, सासारिक भोग विलास भोगने मे नही । वह सदा यह कहता है —

"होल बड़ा मेनू मजला दा,
पोते राही दा खर्च तैयार नाहीं ।
अग्गे ओखिया घाटियां राह लम्बे,
दूजा नाल मेरे कोई यार नाहीं ।
उत्थे नकद व्यौपार खरीद करदे,
घडी दा एक ओदार नाहीं ।
मेहरम्भ शाह दिल सशय विच,—
रहेन्दा पल्ले कोडिया भी मेरे चार नाहीं ।

अर्थात् मुक्तिलोक रूपी मजिल के लिये मुझे बडा ही भय है, क्योकि साधना पथ के राही के पास जो खर्ची होनी चाहिये वह खर्ची मेरे पास नही है । प्रथम तो इस पथ मे परीपहो की तथा कठिनाइयो की बडी दुस्सह घाटिया है तथा रास्ता बडा लम्बा है । दूसरे, मेरे साथ चलने वाला कोई साथी नही है । सच है, सिनेमा, बरात यात्रा तथा अन्य मनोरजक जगहो पर जाने के लिये तो अनेको साथी मिल जाते है किन्तु साधना पथ पर साथ देने के लिये कोई मित्र नही मिलता ।

कवि आगे कहता है आगे जाकर तो नकद व्यापार करना पडेगा, क्योकि वहा नकद व्यापार ही होता है किन्तु मेरे पास तो पल्ले मे चार कोडिया भी नही है और नही कोई उधार देने वाला है। अत मुझे दिल मे बडा सशय रहता है कि आगे जाकर मेरा क्या होगा ? श्रद्धाहीन मनुष्य का हाल

बिना पाथेय लिये हुए राही की तरह ही होता है। श्रद्धा वह पूंजी है कि जिसके द्वारा ही अनन्त सुख की उपलब्धि हो सकती है।

बधुओ ! आजकल के व्यक्ति, जो श्रद्धा से रहित होते हैं, और धर्म-कार्य मे जिनका मन नही लगता, इससे बचने के लिये मुख्य रूप से तीन बहाने बनाया करते हैं।

सर्व प्रथम उनकी यह शिकायत होती है कि "क्या करे महाराज जी ! समय ही नही मिलता। प्रातःकाल नित्यकर्म से निवृत्त होकर दुकान खोलनी पडती है दोपहर को बारह बजे बडी मुश्किल मे खाना खाने आ जाते है। फिर वापिस दुकान दौड़ते है। शाम को दुकान बन्द करके भोजन करते है और रात को रोज का हिसाब किताब मिलाना पडता है। उसके बाद थके मांदे सो जाते है। बताइये कब हम व्याख्यान सुनें कब सामायिक करें ?

अधिक न कहकर मैं उनसे सिर्फ यह कहती हूँ कि एक बार आप अस्पताल मे जाइये और वहा पडे हुए सैकडो मरीजो मे से किसी से भी पूछिये कि—भाई ! घर, दूकान और अन्य अनेको अनिवार्य कार्य छोडकर तुम्हे यहा आने का समय कैसे मिल गया ? अब वे सारे कार्य कौन सभालता होगा ?

इसके अलावा अगर समय मिलने की और भी जानकारी करनी है तो भरी जवानी मे बीमारी एक्सीडेंट आदि के विभिन्न कारणो द्वारा, किसी मृतप्राय: युवक से जाकर पूछिये कि—तुम अपनी नौकरी अथवा अपनी मील या कारखाने के कार्य को तथा अपने परिवार के भरण पोषण के कार्य को छोड कर कैसे जा रहे हो ? तुम्हे कैसे समय मिल रहा है ? अब तुम्हारे पीछे तुम्हारा काम कौन करेगा ?

इसका क्या जवाब मिलेगा ? यही न कि मजबूरी है। तो मजबूरी से जब अस्पताल मे पडे रहने का अथवा मरने का समय मिल ही जाता है। अपनी इच्छा से समय क्यो नही मिल सकता ? अस्पताल मे चौबीसो घटे देने पड़ते है, मरने पर बाद का सारा समय देना पडता है तो फिर क्या एक घटा भी रोज व्याख्यान सुनने मे अथवा सामायिक करने मे नही लगाया जा सकता ?

गया हुआ धन, खोया हुआ स्वास्थ्य, भूली हुई विद्या, छिना हुआ राज्य सब वापिस आ सकता है। किन्तु गया हुआ समय कोटि प्रयत्न करने पर भी वापिस नही आ सकता। भगवान् महावीर ने गौतम स्वामी को बार बार जो कहा—"**समयं गोयम मा पमायए**" यह चिरन्तन सत्य है, सही है।

नैपोलियन वोनापार्ट समय का वडा पावद था। एक वार उसका कोई सेनानायक दस मिनिट देर से आया। नैपोलियन ने जव कारण पूछा तो उसने घड़ी दिखाकर कहा 'मेरी घडी दस मिनिट लेट है।' नैपोलियन ने कहा "Either you change your watch or I shall change you" अर्थात् या तो तुम अपनी घडी वदल लो, नही तो मैं तुम्हे वदल दू गा।

इसी प्रकार समय की कीमत आकने वाले व्यक्ति ही गार्हस्थिक कार्यों के वावजूद भी धर्म-कार्य के लिये समय निकाल ही लेते है। सिर्फ हृदय मे श्रद्धा होनी चाहिये। श्रद्वा एक लगन है। लगन के विना जिस प्रकार कोई भी कार्य सिद्ध नही हो सकता उसी प्रकार श्रद्धा के विना समय मिलने पर भी धर्म-कार्य नही किया जा सकता।

दूमरा वहाना मनुष्यो का यह है कि हम साधु सतो के पास जाते है, तीर्थ-स्थानो मे जाते हैं, मन्दिरो मे जाकर पूजा पाठ करते है व स्थानको मे जाकर सामायिक प्रतिक्रमण भी करते है किन्तु फिर भी हमारी आत्मा को शाति नही मिलती। तव श्रद्वा किस प्रकार मन मे दृढ रह सकती है ?

उन भोले वधुओ को यह ध्यान नही है कि वे अपनी श्रद्वा को कितना अस्थिर वना लेते हैं। किस प्रकार का प्रयत्न और श्रम करते है।

एक किसान था। पानी की अत्यधिक कमी होने के कारण उसने अपने खेत मे एक कुआ खोदना शुरू किया। २५ हाथ जमीन खोद लेने पर भी पानी नही निकला तो उसने उसे वैसा ही छोड दिया तथा दूसरी जगह खोदना शुरू किया। उमे भी पानी न निकलने के कारण अधूरा छोड दिया तीसरी जगह फिर पच्चीस हाथ खोदा और चौथी जगह भी उतना ही खोदा। अव वताइये उसका कुआ खोदना कैसा था ?

वस यही ढग आज श्रद्धाहीन मनुष्यो का हे। उनका मन किसी एक कार्य मे लगता ही नही ओर इससे किसी भी प्रकार का अभ्यास नही हो पाता। फिर साध्य की प्राप्ति कैसे होगी ?

जव लगन एक रास्ते पर नही लगती अर्थात एक रास्ते को पूरा तय नही किया जाता तो गतव्य स्थान कैसे मिल सकता है ? किसी एक शहर को जाने के लिये एक ही मार्ग पर अत तक चलना चाहिये। यह नही कि चौराहे पर खडे होकर पहले एक तरफ का रास्ता लिया। कुछ दूर जाकर वापिस लौटे और दूमरा रास्ता नापना शुरू किया। फिर तीसरा और उसके वाद चौथा रास्ता भी कुछ दूर तक जाकर देख आए। फिर तो शहर तक

पहुँचने का सवाल ही नही रहेगा और चौराहे पर ही अड्डा जमाना पडेगा ! एक बार मैंने बताया था कि नदी मे २० नावे हो सकती है पर बीसो मे थोडी थोडी दूर तक बैठने वाला क्या नदी पार कर सकेगा ? नही । नदी वही पार करेगा जो कि एक नाव मे ही विश्वासपूर्वक बैठेगा ।

बस इसी तरह, आत्मिक शाति तथा आनन्द भी वही व्यक्ति पा सकेगा जो आत्मकल्याण के मार्ग पर चलने का ही अभ्यास करेगा और मन को पूर्ण लगन के साथ उस मार्ग की बाधाओ को हटाने मे लगाए रहेगा । किसी एक विषय का पूर्ण ज्ञान प्राप्त करके ही कोई व्यक्ति विद्वान बन सकता है । थोडी हिन्दी थोडी उर्दू तथा इसी प्रकार अग्रेजी, फारसी, गुजराती, बगाली तथा कन्नडी आदि का थोडा ज्ञान प्राप्त करने वाला कभी भी विद्वानो की कोटि मे नही गिना जा सकता ।

मनुष्यो की धर्म मे आस्था न होने का तीसरा कारण है—उनकी दोष दृष्टि । आज के व्यक्ति प्राय कहते है, अमुक व्यक्ति इतना धर्म-ध्यान, सामायिक प्रतिक्रमण करता है पर उसमे क्रोध इतना है, कषाय इतनी है, दुकान पर बैठकर भी बेईमानी करता रहता है । ऐसा धर्म-ध्यान करने से तो नही करना अच्छा । कभी कहते है, अमुक साधु इतने शिथिलाचारी है, अथवा कि अमुक सम्प्रदाय ऐसा है वैसा है ।

मै उन बधुओ से पूछती हूँ कि वे स्वय कैसे है ? दूसरो मे जो अवगुण है वे उनमे तो नही हैं ? शायद वे यह सोचते है कि हम मैं दुर्गुण हैं तो क्या हुआ, औरो मे भी है । वाह ! कैसी बढिया बात है । दूसरे पाप कर्मो को बाध रहे है तो हम भी बाध रहे हैं । पर क्या उन्हे भोगते समय भी यह सोचकर सतोष रहेगा कि सब भोग रहे है तो हम भी भोगते है । नही, कष्ट का जब अनुभव होता है तो किसी भी स्थिति मे, कुछ भी सोचकर मन को सतोष नही होता । उस समय अपने कृत-कर्मो पर अवश्य ही पश्चात्ताप होता है ।

कीते सारे काम निराले, प्रभु दी भक्ति छुडावन वाले,
खोले कौण बन्धन दे ताले, चाबिया आप गवाइया ने ।
वारी सफर करन दी आई, तन विच जोरन पल्ले पाई,
पिछली बीती चेते आई, रो रो देन दुहाइयां ने ।
मुखो नाम न प्रभु दा जपया, न कोई तीरथ न तप तपया,
हुण तां प्रभु बिन कौन छुडाये, लाख चौरासिया पाइया ने ।

उस समय प्राणी अपने मन को धिक्कारते हुए कहता है—जीवन भर तो तूने प्रभु की भक्ति छुडाने वाले निराले काम किये हैं। अब उन बाधे हुए बधनो को कौन खोलेगा ? स्वय तूने ही तो अपने पैरो पर कुल्हाडी मारी है। मुक्त होने की कु जिया खो दी हे।

अब तो इतर लोक का सफर करने का वक्त आ गया है और मार्ग पाथेय कुछ भी नही है। किन्तु अब रो-रो कर दुहाई देने मे क्या फायदा होगा।

जब तक शरीर मे शक्ति रही और मस्तिष्क काम करता रहा तब तक तो तूने कभी भी मु ह से प्रभु का नाम उच्चारण नही किया। न कभी तीर्थ गया, न ही तपस्या की। अब, जब कि चौरासी लाख योनियो के चक्कर मे पड गया तो रोता हे। मगर अब तो भगवान् के बिना कोई भी इस दुख से बचा नही सकता। उसी को याद कर।

मेरे कहने का यह अभिप्राय है कि मनुष्य को भी अधानुकरण नही करना चाहिये। अध पतन के मार्ग पर औरो को जाते देखकर स्वय का पतन कर लेना बुद्धिमानी नही है। हमे अपनी आत्मा की महान् शक्ति को सिर्फ छिद्रान्वेपण के कार्य मे नही खोना चाहिये।

साधना का पथ तो एक राजपथ है। इस पर पूर्ण श्रद्धापूर्वक दृढ कदमो से चलना चाहिये। इस विशाल तथा विस्तृत राजमार्ग पर तो अनेक यात्री चलते हे। सत, असत सज्जन, दुर्जन, साधु, श्रावक, अमीर, गरीब, सबल, तथा दुर्बल सभी यात्री होते है अत अनेको मे अनेक प्रकार की कमिया हो सकती है दोप हो सकते हे। साधु से भी भूले हो सकती है श्रावक से भी होती है। यह कोई बडी बात नही है। बडी और महत्त्वपूर्ण बात तो यह है कि ऐसी स्थिति मे, ऐसी यात्रा मे व्यक्ति किस प्रकार चले ? चलने के भी तीन तरीके हैं।

प्रथम यह कि रास्ते मे किसी पतित व्यक्ति को गिरा हुआ देखकर स्वयं भी वही गिर पडे और वही पडा रहे यह सोचकर कि यह भी तो पडा हुआ है।

दूसरा तरीका यह है कि मार्ग मे गिरे हुए व्यक्ति को देखकर भी मनुष्य उसकी परवाह न करता हुआ अपने आप मे मस्त चलता रहे—

तेरे भावे कछु करो, भलो बुरो संसार।
नारायण तूं बैठि के, अपनो भवन बुहार॥

तीसरा तरीका यह है कि मनुष्य रास्ते में जो गिरे हुए हैं अथवा लड़खड़ा रहे हैं उन्हें उठाकर अपनी बाहों के सहारे से, धीरे धीरे ही सही, पर साथ ले चलने का प्रयत्न करे। इस मार्ग को संत अपनाते हैं। किसी भी पतित को देखकर उनका हृदय दयार्द्र हो जाता है और वे नाना प्रकार से उसे समझा कर, सिखाकर, सदुपदेश देकर उठाते हैं और मार्ग पर खड़ा कर देते हैं, संतों का सहारा पाए बिना मार्ग-दर्शन होना असंभव नहीं तो कठिन अवश्य होता है।

हां तो बंधुओ! ये जो तीन तरीके मैंने आपको मार्ग पर चलने के बताए हैं, उनमें से आप कौन सा ग्रहण करना चाहते हैं? तीसरा तरीका सर्वोत्तम है यह तो आप समझ ही गए होंगे, क्या उसे आप अपना सकेंगे? पर इसमें समय व प्रबल मानसिक शक्ति की आवश्यकता है। समय न होने की दुहाई तो आप लोग देते ही रहते हैं। अर्थ के उपार्जन से व गार्हस्थिक कार्यों में आपको इतनी फुरसत कहां है कि दूसरों के चरखे में तेल डालते फिरें! कहिये सच बात है न? यह तो हम जैसे फक्कड़ों का ही कार्य है जिन्हें न धन कमाने की फिक्र रहती है और न उसे संचय करने की ही। न परिवार के पोषण की चिन्ता है और न बाल बच्चों को पढ़ाने, लिखाने अथवा विवाह शादी करने की। गृहस्थ के यहां से जो कुछ मिल गया उसे उदर में डाल लिया, न मिला तो फाके ही सही। एक बार जब हम शिमला से तिलासपुर जा रहे थे तब अट्ठावन माईल के सफर में हमें एक बार थोड़ा सा खाना मिला और एक बार चाय तथा एक-एक टुकड़ा रोटी। इसके अलावा भी जब गाँवों में भ्रमण करते हैं तब अनेक बार भूखे या आधा पेट भी रहना पड़ता है। शहरों में तथा आप जैसे श्रीमंतों के नगरों में तो कोई ऐसे अवसर नहीं आते। पर संत तो एक जगह रहते नहीं।

"पानी बहता भला, संत रमता भला।"

मेरे कथन का तात्पर्य यही है कि संत किसी भी स्थिति में रहे, मस्त रहता है। उसे अपनी फिक्र नहीं रहती। रहती है सिर्फ दूसरों की। सच्चे संत की सदा यही भावना रहती है कि मनुष्य तो क्या, विश्व का कोई भी प्राणी दुखी न रहे। साथ ही प्रत्येक प्राणी ईश्वर में श्रद्धा रखता हुआ साधना के इस कंटकाकीर्ण पथ पर चल सके और अपनी आत्मा का कल्याण करके जन्म मरण के चक्कर से बच सके। ऐसी भावना विद्यमान रहने के कारण ही वह अपना सारा समय यहां तक कि अपना जीवन भी उत्सर्ग करने को

तैयार रहता है। भयकर विषधर सर्प चंड-कौशिक के त्रास से जनता को बचाने के लिये भगवान् महावीर स्वय उसकी बाँबी पर गए थे। अपनी जान जोखिम मे डालकर ही उन्होने नागराज को बोध दिया था। अगुलिमाल डाकू के आतक से त्राण दिलाने के लिये स्वय बुद्ध उसके पास जगल मे गए और उसे सदुपदेश देकर सत बना दिया।

मैं आपको बता यह रही थी कि साधना के इस राजपथ पर चलने के लिये तीसरे तरीके मे समय तथा मानसिक शक्ति की आवश्यकता है। समय के विषय मे तो मैंने आप लोगो से पूछ ही लिया है। अब शक्ति के विषय मे जानना चाहती हूँ कि क्या आप लोगो मे इतनी मानसिक शक्ति है कि आप दूसरो के सहायक बनने वाली हर कठिनाई का मुकाबला कर सके ? आप लोगो मे अनेक सेठ-साहुकार एव श्रीमत हैं। सहन शक्ति ऐसी है कि जरा भी कोई ऊँची नीची बात कहदे तो, हो सकता है अभी, यहा स्थानक मे ही, गाली-गलोज पर उतारु हो जाय। तनिक भी मन को ठेस पहुँचाने वाली बात आप बर्दाश्त नही कर सकते। ऐसा मान लेकर तो इस राजमार्ग पर नही चला जा सकता। अनेको बार तो होता है कि जिसकी भलाई व कल्याण करने का प्रयत्न किया जाता है वही अपने रक्षक को बुरा भला कहता है, मार-पीट करता है और कभी कभी तो प्राण भी ले लेता है।

नदिषेण मुनि महान् सेवाभावी थे। उनकी परीक्षा लेने के लिये दो देवता मुनि का रूप धारण करके आए। एक बीमार बनकर शहर के बाहर ठहर गया और दूसरे ने आकर नदिषेण मुनि को कहा - कैसे सेवाभावी हो तुम ? एक मुनि शहर के बाहर बीमार पडा है और तुम यहाँ आनन्द से गोचरी कर रहे हो। हाथ का कौर छोडकर नन्दिषेण लपके हुये वहाँ पहुँचे ओर बीमार मुनि को अपनी पीठ पर लादकर शहर की ओर चल दिये। तकलीफ होने के कारण रास्ते मे मुनि नदिषेण को हाथ पैरो की चोट पहुँचाते हुए तथा मुह से अनेकानेक दुर्वचन कहते हुए आये। यहाँ तक कि आधे रास्ते तक आने पर तो मुनि रूप देवता ने अत्यत दुर्गन्धयुक्त मल विसर्जन भी नदिषेण पर कर दिया पर नदिषेण ने उफ तक नही की और बडी शाति से अपने को तथा मुनि को स्वच्छ किया। उन्हे उठाकर शहर मे लाए।

दूसरो के कल्याण का प्रयत्न करते रहने पर भी ईसा को सूली दी गई। महात्मा सुकरात को जहर का प्याला पिलाया गया और हमारे समय मे भी गाँधीजी को गोली मार दी गई। सच्चा सन्त जो होता है उसके हृदय मे बदले की भावना कभी नही आती। अपने भक्षक को भी वह क्षमा करता है

क्योंकि उसकी ईश्वर मे श्रद्धा होती है तथा प्रत्येक कष्ट को वह अपने ही कर्म का फल मानता है। ऐसा व्यक्ति ही पतितों को उठा सकता है और अपना सहारा देकर उन्हे साधना पथ पर चलने के योग्य बना सकता है। इस सबके बदले मे वह कभी किसी तरह के प्रतिदान की आशा नही रखता। किसी ने कहा है —

साधु वाहि को जानियै जो भ्रम-तम दे मेट।
आँखि देई मग मेलि सुचि, चहै न पूजा भेंट।

आशा है आप समझ गए होगे कि साधना पथ पर चलने का तीसरा तरीका कितना धैर्य, त्याग तथा सहनशीलता की अपेक्षा रखता है। इस तरीके से चलना सुगम नही है, फिर भी अनेक महान् आत्माएं ऐसी होगी जो दूसरो की सहायक बनती हुई अनवरत चलती रहती हैं। साधु तथा श्रावक सभी एक ही पथ के पथिक होते है। यह सही है कि कोई दृढ कदमों से चलता है, कोई कमजोर तथा लडखडाते हुए। दोनो को एक को एक दूसरे का सहायक बने रहना आवश्यक है। श्रावकों का महत्त्व कम नही है। आगमो मे बताया है कि श्रावक साधु के लिये माता-पिता के समान होता है। "अम्मा पियरो ।"

मैं आशा करती हूँ कि आप लोग अपने को कमजोर न मानकर तीसरे तरीके से ही श्रद्धापूर्वक, भगवान् मे तथा धर्म मे विश्वास रखते हुये, एक दूसरे के सहायक बन कर इस मार्ग को तय करने का प्रयत्न करेगे। किन्तु अगर आप इतनी शक्ति तथा समय की दृष्टि से अपने को निर्बल समझे तो मेरा बताया हुआ दूसरा तरीका ही अपनावे। वह भी उत्तम है कि मनुष्य गिरते हुए दूसरे अधम प्राणियो का अनुकरण न करके अपने को दृढ तथा सही ढग से साधना के पथ पर अग्रसर करता रहे। अगर प्रत्येक व्यक्ति यही सोच लेगा तो भी व्यक्ति धीरे धीरे उन्नति, तथा विकास की ओर उन्मुख होते रहेगे।

मेरा अनुरोध तो सिर्फ इतना है कि आप कभी भी प्रथम तरीके को न अपनावे। दूसरो का पतन देखकर स्वय अपना अध पतन न करें अन्यथा हममे से कोई भी व्यक्ति अपना शुभ नही कर पायेगा और यह दुर्लभ नरभव व्यर्थ हो जाएगा। कवि रसखान ने कितना सुन्दर पद लिखा है कि मनुष्य को बिना किसी ओर देखे भगवान् का इस तरह ध्यान करना चाहिये जैसे कि पनिहारी अपनी गागर का ध्यान रखती है। गागर के अलावा किसी ओर उसका चित्त नही जाता। वे कहते है कि सबकी बात सुनकर भी

विना कुछ कहे जो सच्चाई अर्थात् श्रद्धापूर्वक अपना व्रत, नियम जो कुछ भी करना हो करता रहे, तभी वह भवसागर से पार ो सकेगा ।

सुनिये सबकी कहियै न कुछ, रहिये इमि या भव बागर मे,
करियै व्रत नेम सचाई लिये, जिन तें तरिये भव-सागर में ।
मिलिये सब सो दुरभाव बिना, रहिये सतसग उजागर मे,
रसखान गोन्विदहि यो भजिये, जिमि नागर को चित्त गागर मे ।

आज के समय मे मनुष्य मे सबमे बडी कमी है श्रद्धा की । श्रद्धा के विना मनुष्य अपने आपको भी नही पहचान सकता । श्रद्धा के बिना ज्ञान भी पगु के सहश हो जाता हे । मेधावी तथा महान् वही होता है जिसकी रग-रग मे श्रद्धा वसी हुई हो । तर्क उसे उलझा नही सकता, आशका उसे डिगा नही पाती ।

श्रद्धा और तर्क के पृथक्-पृथक् स्वभाव है । कोरा तर्क दिमागी द्वन्द्व है । उसमे सत्य तक नही पहुँचा जा सकता सिर्फ उलझा जा सकता हे । आचाराग सूत्र मे कहा है—

"तमेव सच्चं निस्सक ज जिणेंहि पवेइय"

जिनेन्द्र भगवान् ने जो वताया है, वही सत्य है शका रहित है ।

बुद्धि की अपेक्षा विश्वास श्रेष्ठ है । तर्क की अपेक्षा श्रद्धा श्रेष्ठ है । बुद्धि दिन के प्रकाश मे भी भटक जाती है पर विश्वास अधेरी और भयानक रातो मे भी निर्भय चलता है । तर्क भगवान् को भी पत्थर बना देता है और श्रद्धा पत्थर को भी भगवान् । तो वधुओ ! श्रद्धा जव पत्थर को भी भगवान् बना सकती है तो मनुष्य को भगवान् बना कर क्यो नही छोडेगी ? बस शर्त यही है कि उसे भी डगमगाने नही दिया जाय । जीवन मे आदि से अन्त तक वह एक सरीखी दृढ रहे । आचाराग सूत्र मे साधु के लिये कहा गया है—

'जाए सद्धाए निक्खंतो, तमेव अणुपालिया ।'

—आचाराग सूत्र

अर्थात् साधु जिस श्रद्धा से घर से निकले उसी ही श्रद्धापूर्वक सदा सयम का पालन करे । यह नही कि कुछ दिन, कुछ महीने, अथवा कुछ वर्षो मे ही वह लडखडा जाए, उसकी श्रद्धा डोल जाए और सिंह की तरह गया हुआ गीदड की तरह लौट आए ।

आज के वातावरण मे वहुत से पढे लिखे युवक ईश-भक्ति और धर्म-कर्म को ढकोसला समझते है । वे "खाना-पीना तथा मौज उडाना" इसी को

अपने जीवन का उद्देश्य मानते है। उनके लिये श्रद्धा एक ढोंग है, दिखावा है, मन की व्यर्थ की बीमारी है। उन्हे एक छोटे मे उदाहरण से समझना चाहिये कि श्रद्धा क्यो बनावटी नही है—

एक ब्राह्मण गंगास्नान करके सूर्य को जल दे रहा था। इतने मे एक ईसाई वहा आ गया और उसने ब्राह्मण से पूछा—"क्या यह जल सूर्य को पहुँच गया ?" यह प्रश्न सुनकर ब्राह्मण उस ईसाई के बाप दादो को गालिया देने लगा।

ईसाई नाराज होकर बोला—"तुम मेरे बाप दादो को गालियां क्यो देते हो ?"

ब्राह्मण ने कहा—"वे तो यहा नही है, न जाने कहा होगे। फिर उनको क्या ये गालिया पहुँच गई ?"

श्रद्धा का मूल तत्त्व है दूसरे का महत्त्व स्वीकार करना। माता-पिता, गुरु आचार्य धर्म तथा ईश्वर आदि के महत्त्व का आदर करना श्रद्धा है।

जिनके प्रतिश्रद्धा होती है, मनुष्य उनका स्मारक बनाते है, उनकी प्रतिमा स्थापित करते हैं तथा उस पर पुष्प चढाते हैं। इन सबके पीछे सिर्फ एक चाह तथा संकल्प होता है, अपने श्रद्धेय के प्रति श्रद्धा निवेदन करना। परमात्मा के प्रति श्रद्धा का अर्थ उसको सर्वस्व समर्पण करके कर्त्तव्यहीन बन जाना नही है। परमात्मा हमारे लिये आदर्श रूप हैं, हमे उनकी तरह सुपथ पर बढना और पूर्णता प्राप्त करना है। वैसे होता यह है कि लोग धर्म के नाम पर मर मिटते है पर धर्म पथ पर चलते नही। दार्शनिक 'कोल्टन' ने भी कहा है—"मनुष्य धर्म के लिये लडेंगे, झगड़ेंगे, धर्म पर लिखेंगे, भाषण देंगे ओर उसके लिये मर भी जायेंगे पर उसके अनुकूल रहेंगे नही।"

ऐसी श्रद्धा वास्तविक नही है। श्रद्धा अहिंसा, अभय और मैत्री मे होनी चाहिये। जिनकी श्रद्धा हिंसा, भय तथा शत्रुता मे है उनकी श्रद्धा को बदलते हुए उन्हे साधना पथ पर अग्रसर करने का प्रयत्न ही भगवान् की भक्ति व पूजा है। और यही साधना के राज-पथ पर चलने का तीसरा तरीका है।

शंका, श्रद्धा के लिये कुठार के सदृश है। यह मानव आत्मा मे नरक के समान होती है—

"Doubt is hell in the human soul." शंकाओ की समाप्ति ही शांति का आरम्भ है—The end of doubt is the begining of repose"

शका मनुष्य को कायर तथा निर्बल बना देती है तथा श्रद्धा उसे दृढ और सरल । आपको इन दोनो विरोधी बातो के बारे मे कुतूहल पैदा हुआ होगा कि एक साथ-ये दोनो कैसे रह सकती होगी ? यह मै एक उदाहरण द्वारा आपको बताती हूँ —

हमारे गुरुदेव विद्वद्वर्य श्री मिश्रीमलजी म सा 'मधुकर' ने सिर्फ नौ वर्ष की उम्र मे ही सयम अगीकार किया था । कई घरो के बहुत बड़े परिवार मे वे एक ही 'कुल-दीपक' पुत्र थे । अत किसी भी हालत मे उनके अभिभावक जन उन्हे दीक्षा की अनुमति नही देना चाहते थे । फलस्वरूप उन लोगो ने इन्हे घर ले जाने का अथक प्रयत्न किया । किन्तु गुरुदेव की धर्म के प्रति व सयम के प्रति इतनी प्रगाढ आस्था थी कि उन्होने एक खम्भे को अपनी बाह से पकड लिया और अनेको ने इन्हे खीच ले जाने के प्रयत्न करने पर भी नही छोडा । यहा तक कि उनकी बाह की हड्डी भी अपनी जगह से खिसक गई जिसके कारण काफी दिनो तक उन्हे कष्ट अनुभव करना पडा । यह है उनकी श्रद्धा की दृढता । साथ ही सरलता का उदाहरण देखिये !

एक बार कुचेरा गाव मे गुरुदेव स्वामी जी श्री हजारीमलजी महाराज ने आपको धोवन पानी लाने के लिये कहा । बतलाया कि अमुक के यहा मिल जाएगा, ले आओ । आप वहा गए पर सयोगवश उस व्यक्ति के यहा उस समय धोवन उपलब्ध नही हुआ । आपको खाली लौटते हुए किसी पडौसी ने देखा तथा कहा—महाराज, हमारे यहाँ जल है, आप लेकर पधारे । पर गुरुदेव यह कहकर लौट आए कि गुरु महाराज ने तो इन्ही के यहा से लाने को कहा था ।

बधुओ ! सयम मे अतीव दृढता होते हुए भी स्वभाव मे सहज सरलता का भी उदाहरण आपने समझ लिया न ! बस यही धर्म व गुरु के प्रति श्रद्धा का परिणाम है ।

श्रद्धाहीन व्यक्ति भगवान्, धर्म, लोक-परलोक किसी पर विश्वास नही करने और फल यह होता है कि उनका परलोक तो बनता ही नही । उलटे यह लोक भी बिगड जाता है । इहलोक तथा परलोक दोनो को बिगाडने वाले व्यक्ति अधे के सदृश होते है और जो अपने श्रद्धापूर्ण कर्त्तव्यो से दोनो लोक सुधार लेते है वे सुनयन, अर्थात् दोनो आखो वाले होते है ।

जिसके जीवन मे, भगवान् के प्रति आगमो के प्रति, गुरुओ के प्रति तथा सज्जनो के प्रति श्रद्धा नही है, उसके तथा पशुओ के जीवन मे कोई अन्तर नही है । अपना पेट तो पशु भी भर लेता है ।

अनेक ग्रथ पढ लिये जायँ और अनेक उपाधिया प्राप्त करली जाएँ फिर भी अगर जीवन मे श्रद्धा नही आए तो समझना चाहिये कि सारा ज्ञान गधे की पीठ पर लादे हुए पुस्तको के भार जैसा ही है ।

स्वाध्याय, ध्यान और मनन, नियम, ईश प्रार्थना, सामायिक, प्रतिक्रमण आदि मे हो सकता है कि आरम्भ मे रस न आये पर इसमे श्रद्धा खतम नही होनी चाहिये । रामकृष्ण परमहस ने कहा—'समुद्र मे एक गोता लगाने पर यदि मोती हाथ न लगे तो यह मत समझो कि समुद्र मे मोती है ही नही । बार बार गोते लगाकर ढूँढो तब सफलता मिलेगी ।'

बस इसी तरह यह जीवन भी समुद्र है । श्रद्धापूर्वक बार बार गोते लगाने पर ही आत्मानन्द रूपी चिन्तामणि प्राप्त हो सकेगा । अत श्रद्धा को विचलित न होने दो ।
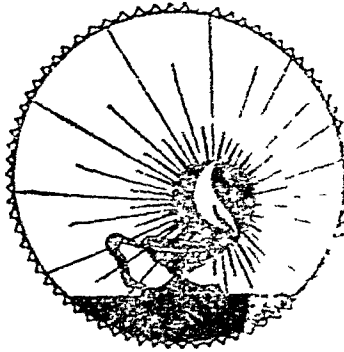
३ | ते गुरु मेरे मन बसो..!

ते गुरु मेरे मन बसो जे भव-जलधि जहाज।
आप तिरै पर तारही, ऐसे श्री ऋषिराज ॥

बधुओ ! इन दो पक्तियो के द्वारा आप कवि की भावनाओ को समझ गए होगे। वह अपने मन-मदिर मे ऐसे गुरु का आह्वान कर रहा है जो इस ससार-सागर मे डूबते व उतराते हुए प्राणियो के लिये जहाज के समान हो। ऐसे गुरु की अपने मन मे स्थापना करना चाहता है जो इस भव-समुद्र को स्वय पार करे तथा अपने साथ ही ससार के अज्ञानी प्राणियो को भी पार उतार दे।

सत्य ही मानव जीवन मे गुरु का स्थान सर्वोपरि है। अपने चर्म-चक्षुओ के द्वारा हम इस ससार को तो देख सकते है, किन्तु जिन ज्ञान-नेत्रो के द्वारा हम अपने भीतर विराजमान चिदानन्द का अवलोकन कर सकते है, उन्हे खोलने वाले गुरु ही होते है। किसी ने सत्य कहा है —

अज्ञानतिमिरान्धाना ज्ञानाञ्जनशलाकया।
चक्षुरुन्मीलित येन तस्मै श्री गुरवे नमः।

अर्थात् अज्ञान रूपी तिमिर से जो अधे हो गए है ऐसे चक्षुओ को ज्ञानाजन की शलाका से उन्मीलित कर देने वाले गुरु नमस्कार के योग्य है।

रोग से पीडित व्यक्ति डॉक्टर के पास जाता है और डॉक्टर उसके रोग का निदान करके औषधि द्वारा उसे रोग मुक्त करता है। उसी प्रकार गुरु हमारी आत्मा मे जो विषय-विकारो के रोग होते है उन्हे अपने ज्ञान तथा सदुपदेश रूपी औषधि के द्वारा नष्ट करते है। गुरु ही समीचीन ज्ञान देकर आध्यात्मिक,

आधिदैविक तथा आधिभौतिक तीनो प्रकार के कष्टो का नाश करके मनुष्य को वस्तुत मनुष्य बनाते है।

भारत एक अध्यात्म-प्रधान देश है। यहा महान् ज्ञानी, ध्यानी तथा ऋषि उत्पन्न होते रहे है। हमारी भारतीय सस्कृति का आदर्श गुरु को बडा ही महत्त्वपूर्ण स्थान देता आया है। गुरु को माता पिता से भी महान् समझा गया है। कबीर जैसे भक्तो ने तो गुरु को गोविन्द से भी उच्च माना है। उनका तो यह कथन है कि यदि गुरु तथा गोविन्द दोनो उपस्थित हो तो पहले गुरु को नमस्कार किया जाय, क्योकि गुरु की कृपा से ही गोविन्द के दर्शन होते है —

गुरु गोविन्द दोनो खड़े, का के लागू पाय ?
बलिहारी गुरु आपकी, गोविन्द दियो बताय।

मानव गुरु की कृपा से ही परमात्मा को पा सकता है। गुरु को कृपा से ही नर नारायण बन सकता है। ऐसे व्यक्ति तो ससार मे विरले ही मिलेगे जो अपने साधना-पथ पर चलने मे अपने अन्त करण के द्वारा ही मार्ग दर्शन पा लेते हो और उस पर चलकर अपने उद्देश्य मे सफल होते हो। जन साधारण की स्थिति ऐसी नही होती। साधारणतया तो प्रत्येक व्यक्ति को साधना-पथ की जानकारी करने के लिये तथा उसपर सही तरीके से अग्रसर होने के लिये गुरुओ की, अथवा ऐसे महात्माओ की आवश्यकता होती है जिनके व्यक्तित्व से और आदर्शो से अद्भुत प्रेरणा मिले।

गुरु के सिखाए बिना कोई भी विद्या नही आती। पुस्तको मे तैरने की विधि लिखी हुई है, किन्तु उसे सिर्फ पढकर कोई तैरना नही सीख सकता। पढ करके ग्रन्थो के रहस्य नही जाने जा सकते। वे सिर्फ गुरु के चरणो मे बैठ कर ही जाने जाते है।

भले ही व्यक्ति जीवन भर पुस्तको का पाठ करता रहे, चाहे जितना वह बुद्धिमान् हो जाए किन्तु बुद्धि का विकास होने पर भी आध्यात्मिकता का विकास नही होता। बाह्य ज्ञान प्राप्त हो जाता है किन्तु अतरात्मा को कोई लाभ नही होता। पुस्तको का भडार आध्यात्मिक जीवन के लिये पर्याप्त नही होता। जीवन की शक्ति को जगाने के लिये किसी दूसरी शक्ति की आवश्यकता होती है। और जिस शक्ति से जीवनी शक्ति का विकास होता है वह शक्ति गुरु मे होती है।

आज सर्वज्ञ हमारे सामने नही है किन्तु सर्वज्ञ के द्वारा प्ररूपित आगमो का सार गुरु हमारे मामने रखते है । उसे हृदयगम करके हम अपने जीवन को आध्यामकता से परिपूर्ण, नैतिक तथा व्यवस्थित बना सकते है ।

हमारे पौराणिक गुरुओ की दृष्टि मे विद्या वही रही है जो अज्ञान के बन्धन से विमुक्त कर दे । (इसी को ध्यान मे रखते हुये उन्होने, ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ तथा सन्यास इन चार आश्रमो की प्राचीन काल मे सुन्दर व्यवस्था की थी । उसके अनुसार) छात्र ब्रह्मचर्याश्रम के समय सयमपूर्वक तथा पारलौकिक कल्याणकारी विद्याओ का पूर्णतया अध्ययन करता था । वह शरीर,मन तथा वाणी से स्वच्छ तथा पवित्र होकर गृहस्थाश्रम मे प्रवेश करता था और उसका जीवन सेवामय, त्यागमय तथा सयममय बना रहता था ।

किन्तु आज जो शिक्षा गुरु शिष्य को देते है वह आदर्श तथा पूर्ण नही कही जा सकती । भारत के दासत्वकाल मे हमारे देश की शिक्षा नीति विदेशी शासको के द्वारा निर्धारित होती थी । भारतवर्ष मे अग्रेजी राज्य की जडो को मजबूत करने के लिए लार्ड मैकाले ने जिस शिक्षा-नीति का सूत्रपात किया था उसके जहरीले परिणाम हम आज भुगत रहे है । लार्ड मैकाले चाहते थे कि इस शिक्षा प्रणाली के द्वारा ऐसे व्यक्ति बने जो जन्म से तो भारतीय रहे पर हृदय तथा मस्तिष्क से अग्रेज हो । उनकी यह अभिलाषा पूर्ण हो गई है । हमारे यहाँ के बालक अग्रेजी भाषा सीखने मे अपना सारा समय लगा देते है और हमारे देश की प्राकृत, सस्कृत आदि भाषाओ से अपरिचित रह जाते है । जब कि हमारे आगम तथा अन्य आध्यात्मिक ग्रन्थ अधिकतया इन भाषाओ मे ही है ।

किसी तरह अपने विषय की पाठ्य-पुस्तको को रटकर परीक्षाए उत्तीर्ण कर लेना ही विद्यार्थियो का ध्येय रह गया है । और जैसे तैसे छात्रो को डिग्रियाँ दिलवा देना तथा अर्थ का उपार्जन कर लेना गुरुओ का ध्येय बन गया है । आज छात्रो को विनय, शिष्टता, अनुशासन, कर्तव्यपरायणता तथा सदाचार की शिक्षा नही दी जाती । उनके चरित्र-निर्माण पर विशेष बल नही दिया जाता । धार्मिक तथा नैतिक शिक्षा को उपेक्षा की दृष्टि से देखा जाता है । इसी का परिणाम है कि आज का शिष्य अत्यन्त अविनयी, उच्छृङ्खल और अनुशासनहीन बनता जा रहा है । अपने गुरु के प्रति उसके मन मे तनिक भी श्रद्धा, भक्ति व प्रेम नही रहा । प्राचीन समय मे ऐसी बात असम्भव थी । उस समय जिस प्रकार गुरु अपने शिष्य को वास्तव मे 'मनुष्य'

वना देने का ध्येय रखते थे उसीप्रकार शिष्य भी प्राण-पण से गुरु की सेवा करते हुए पूर्ण विनय पूर्वक गुरु के चरणो मे बैठ कर उनका दिया हुआ ज्ञान ग्रहण करते थे। गुरु के प्रति शिष्य को अथाह श्रद्धा तथा भक्ति होती थी, असीम स्नेह होता था।

श्री महावीर स्वामी के शिष्य गौतम स्वय श्रुतकेवली थे, फिर भी वे छोटे से छोटा तथा वडे से वडा प्रश्न अपने गुरु से पूछते थे तथा समुचित उत्तर प्राप्त करते थे।

एक वार उन्हे ध्यान आया कि मेरे वाद दीक्षा लेने वाले अनेक साधु केवलज्ञानी हो गए किन्तु मैं अभी वही का वही हूँ। गौतम ने महावीर स्वामी से इसका कारण पूछा। महावीर ने वताया —

गौतम! तुम सर्वगुण सम्पन्न हो, हर तरह से योग्य हो, तुम्हे केवलज्ञान प्राप्त होने मे किंचित् मात्र भी कठिनाई नही है, इसी क्षण हो सकता है। सिर्फ मेरे प्रति जो तुम्हारा मोह है उसे तुम दूर कर दो। यह मोह ही तुम्हारे केवलज्ञान की प्राप्ति मे वाधक है।

गौतम ने कहा—भगवन्! अगर ऐसा है तो मुझे केवलज्ञान की आवश्यकता नही है। आप पर स्नेह हटाकर मैं केवलज्ञान की आकाक्षा नही रखता। वह मुझे नही चाहिये।

गुरु-भक्ति का कैसा ज्वलत उदाहरण है? गुरु के प्रति शिष्यो की ऐसी दृढ भक्ति के उदाहरण सारे ससार का इतिहास छान डालने पर भी नही मिल सकते, जवकि भारत का इतिहास ऐसे विनयी तथा श्रेष्ठ शिष्यो के उदाहरणो से भरा पडा है।

भील वालक एकलव्य की गुरु भक्ति भी इतिहास मे मानो स्वर्णाक्षरो से लिखी है। महाभारत काल मे गुरु द्रोणाचार्य कौरव तथा पाडवो को धनुर्विद्या सिखाते थे। एक बार एकलव्य भी उनके पास इसी उद्देश्य से आया। पर क्षत्रिय न होने के कारण इसे निराश लौटना पड़ा।

किन्तु सच्ची लगन और श्रद्धा वाले मानव हिम्मत नही हारते। एकलव्य ने जगल मे लौटकर गुरु द्रोण की मिट्टी की मूर्ति वनाई और उसे ही गुरु मानकर, तथा रोज उसी के चरणो मे मस्तक झुकाकर धनुर्विद्या मे अत्यन्त पारगत हो गया।

एक वार गुरु द्रोण कौरव तथा पाडवो के साथ वन मे आए। वहा एकलव्य का अद्भुत कौशल देखकर दग रह गए। द्रोण के पूछने पर एकलव्य

ने वताया कि मै आपको ही गुरु मानकर आपकी मूर्ति के द्वारा विद्या सीखने की प्रेरणा पाता रहा हूँ। द्रोणाचार्य को चिन्ता हुई। वे अर्जुन को विश्व का अद्वितीय धनुर्धर वनाना चाहते थे किन्तु एकलव्य तो अर्जुन से भी वढ गया था। कुछ विचार कर इन्होने एकलव्य से गुरु दक्षिणा मे उसका दाहिने हाथ का अगूठा माग लिया, पर धन्य है एकलव्य ! उसने क्षण मात्र का भी विलम्व किये विना तत्क्षण अगूठा काट कर अपने गुरु के सामने रख दिया।

इससे प्रकट हो जाता है कि भारत के शिष्य अपने गुरु के प्रति कितनी भक्ति रखते थे। श्रीकृष्ण राजकुमार थे। फिर भी अपने गुरु सदीपनि ऋषि के लिये मित्र सुदामा के साथ समिधाये लाया करते थे। महर्पि दयानन्द के स्नानार्थ प्रतिदिन यमुना से जल लाया करते थे। गर्मी, सर्दी, आधी हो या वरसात उनके इस कार्य मे कभी भी व्याघात नही पहुँचा।

ऐसे शिष्यो को ही गुरु अपनी विद्या सवन्ति करण से देते है वल्कि कहना यो चाहिए कि ऐसे ही शिष्य गुरु से विद्या हासिल कर सकते है। यद्यपि गुरु अपनी ओर से अपने सभी शिष्यो को एक सा ज्ञान-दान करते है किन्तु उससे अधिक लाभ आज्ञाकारी, विनीत तथा श्रद्धावान् शिष्य ही उठा सकता है। अर्जुन तथा दुर्योधन एक ही गुरु के पास विद्याभ्यास करते थे किन्तु दुर्योधन, अर्जुन जैसा धनुर्धारी नही वन सका, क्योकि उसके हृदय मे गुरु के लिये वह आदर भावना नही थी जो अर्जुन मे थी। उत्तराध्ययन सूत्र मे वताया गया है —

पुज्जा जस्स पसीयन्ति, सम्वुद्धा पुव्व—सथुया।
पसण्णा लाभइस्सन्ति, विउल अट्ठियं सुय ॥

—उत्तराध्ययन सूत्र

सुशिष्य के विनय आदि गुणो से प्रसन्न तथा सतुष्ट होकर तत्त्वज्ञ व पूज्य गुरुदेव, उसको मोक्षार्थ वाले पवित्र तथा विस्तृत श्रुत ज्ञान का लाभ देते हैं।

अविनीत तथा उच्छृङ्खल शिष्य सौम्य व शात गुरु को भी अशात व क्रोधी वना देते है। इसलिये सुशिष्य को चाहिये कि वह कभी भी क्रोधित नही होवे और अपने आचार्य को भी कुपित न करे—

ण कोवए आयरियं, अप्पाण पि ण कोवए।
बुद्धोवघाई ण सिया, ण सिया तोत्तगवेसए ॥

—उत्तराध्ययन सूत्र

सुशिष्य को न स्वय क्रोध करना उचित है और न गुरु को ही क्रोधित करना। उसे आचार्य का उपघात नही करना चाहिये और न ही उनके दोप ढूढने चाहिए।

आज के शिष्य आए दिन हडतालें करते है। परीक्षाओ के समय नकल न करने देने पर चाकू व छुरी दिखाकर धमकाते है। कुछ समय पहले सुना था कि वरेली के छात्रो ने अपने प्रिंसिपल को ही १०-१५ घटे एक कमरे मे वद कर दिया था। पुलिस को वुलाने पर उनका छुटकारा हुआ। अलीगढ मे तो एक अध्यापक को मार ही डाला था। एक नही ऐसे अनेको उदाहरण अखवारो मे छपते रहते हैं। ऐसे छात्र क्या अपने जीवन मे किसी भी क्षेत्र मे कभी सफल हो सकते है? गुरुओ का शाप उन्हे सदा लगा रहता है और कभी भी उनका जीवन-निर्माण नही हो पाता।

वधुओ ! प्रसगवश यहा मैं एक वात आपसे अवश्य कहना चाहती हूँ। वह यही कि आज के छात्रो मे जो अनुशासनहीनता है, वडो के प्रति जो अविनय का भाव है, उसके उत्तरदायी वे छात्र अकेले ही नही है वरन् उनके माता-पिता अर्थात् आप लोग भी है।

मै आप लोगो से यह निवेदन करती हू कि आप अपने वच्चो मे वचपन से ही गुरुजनो के प्रति आदर व भक्ति के सस्कार डाले। हम देखते है, छोटे वच्चे कितने सरल व मासूम होते हैं। उनका हृदय तो कच्ची मिट्टी के सदृश होता है, उसे चाहे जिस आकार का वनाया जा सकता है। उनका मन सफेद कागज की तरह निर्मल तथा साफ होता है उस पर हम जो चाहे वही अकित कर सकते है। वालक पैदा होने के वाद माता-पिता की तथा कुछ वडा होने के वाद शिक्षक की प्रयोगशाला है। शिशु अवस्था मे माता-पिता तथा स्कूली अवस्था मे गुरु वच्चे मे जितने चाहे उतने सद्गुणो का विकास करते है।

शिशु अवस्था मे वालक सीखने की अपेक्षा नकल अधिक करते है। वे जैसा अपने पिता तथा माता आदि को करते देखते है वही करते है। वच्चो को डॉट फटकार तथा आलोचना करके कुछ सिखाया नही जा सकता। उनके सामने तो जो कुछ उन्हे सिखाना है उसका नमूना चाहिये। दार्शनिक जेवेरी ने कहा है —

"Children have more need of models than of critics"

यहा पिता भी है और माताएं भी, क्या आप लोग अपने वच्चो मे सुसस्कार डालने के लिये स्वय भी वैसे कार्य करते है? आप लोगो मे से

अनेको के माता-पिता होगे ? बताइये क्या प्रात काल उठकर आप अपने पिता अथवा माता को प्रणाम करते है ? क्या अपने पिता अथवा दादा के क्रोध करने पर आप शाँति तथा नम्रता पूर्वक बिना क्रोध किये जवाब देते है ? क्या आप कभी अपने बच्चो के समक्ष अपने गुरु का सम्मान व आदर करते है ? नही, मै स्वय सोचती हूँ ऐसे बिरले ही व्यक्ति होगे जो स्वय वैसा व्यवहार करते होगे जैसा कि अपने बच्चो से अपेक्षा रखते है ।

मेरे कहने का अभिप्राय यही है कि बालक की प्रथम पाठशाला उसके माता-पिता तथा उसका परिवार ही है। अत इस पाठशाला मे पूर्ण सावधानी, तथा मनोयोग पूर्वक बालको मे पवित्र तथा महान् गुणो की व शुद्ध सस्कारो की नीव डालनी चाहिये। अगर आप लोग सतर्कतापूर्वक शुभ सस्कारो का बीज बालक के हृदय मे बो देगे तो वैसा ही फल अवश्य आगे जाकर मिलेगा । आम का बीज बोने पर उसमे आम जरूर लगेगे । अगर सावधानी पूर्वक कुछ दिन उस पौधे की रक्षा की जाय और उसे अश्रद्धा, अविनय तथा उच्छृङ्खलता रूपी आधी पानी से नष्ट न होने दिया जाय । आपके द्वारा दृढ नीव डालने के पश्चात् सुयोग्य गुरु के पास भेजने पर वे बालक के मन-मदिर का इतना सुन्दर निर्माण कर देगे कि उसमे भगवान् की स्थापना हो सकेगी । जिसके मन मे ईश्वर के प्रति, आगम के प्रति तथा गुरुओ के प्रति आस्था होगी, वह कभी भी जीवन मे असफल नही होगा । इसके विपरीत गुरु से विमुख होने वाला शिष्य किसी भी क्षेत्र मे कभी भी प्राप्त नही कर सकता । किसी कवि ने तो यहा तक कहा है —

एकाक्षरप्रदातारं यो गुरु नाभिमन्यते ।
शुना योनि-शत गत्वा चाण्डालेष्वभिजायते ॥

अर्थात् एक अक्षर सिखाने वाले को भी जो गुरु नही मानता है वह सो बार श्वान फिर चाडाल के घर मे जन्म लेता है ।

महाकवि निराला ने कहा है—"जो मनुष्य परमात्मा का ज्ञान प्राप्त कर लेता है, वह परमात्मा का ही स्वरूप बन जाता है और इस तरह सिद्ध है कि गुरु के आसन पर मनुष्य नही, किन्तु परमात्मा स्वय आसीन रहते है ।" विनोबा भावे भी यही कहते है कि गुरु को अगर हमने देह रूप से माना तो हमने गुरु से ज्ञान नही, अज्ञान पाया, खैर .. .

सज्जनो ! अभी हमने विचार किया हे कि शिष्य कैसा होना चाहिये तथा गुरु के प्रति उसके मन मे कितनी श्रद्धा होनी चाहिये। अब हमारे

सामने यह प्रश्न आता है कि सच्चे गुरु कैसे होने चाहिये ? सच्चे गुरु की पहचान कैसे करनी चाहिये।

आज संसार में सभी गुरु बनना चाहते हैं। प्रत्येक व्यक्ति अपने आपको गुरु मानता है। क्या यह ठीक है ? नहीं—

अविद्यायामन्तरे विद्यमाना,
स्वयं धीराः पण्डितम्मन्यमानाः।
दंद्रम्यमाणाः परियन्ति मूढा,
अन्धेनैव नीयमाना यथान्धाः॥

मुण्डकोपनिषद

अज्ञान से आच्छादित तथा सम्पन्न निर्बुद्धि होने पर भी लोग अपने आप को प्रकाण्ड पंडित मानते हैं। अहंकारवश अपने को सर्वज्ञ समझते हैं और छात्रों को मार्ग-दर्शन करने का दावा करते हैं, किन्तु जिस तरह अंधा अंधे को मार्ग दिखाता है और दोनों ही कुएं में गिर पड़ते हैं उसी तरह ऐसे गुरु अपने शिष्य को भी अपने साथ ले डूबते हैं।

विभिन्न प्रकार की शब्द रचना, सुन्दर भाषा में बोलने की विभिन्न शैलियाँ और विविध विषय की अनेक प्रकार से व्याख्या करना ये सब पंडित बनने के लिये है और इनके द्वारा अपने को गुरु मानने वाले केवल अपने पांडित्य का प्रदर्शन करते हैं। वे चाहते है कि शिष्य उन्हें महा विद्वान् मानकर आदर करे। इन उपायों से जो शिष्यों को शिक्षा देते हैं, उससे अंतर्दृष्टि का विकास नहीं होता। शब्द जाल तो चित्त को भटकाने वाला एक महा वन है। विवेक चूडामणि में कहा गया है—शब्दजाल महा-रण्य चित्तभ्रमणकारणम्।"

सच्चे गुरु की पहचान करने के लिये यह जानना सर्व प्रथम आवश्यक है कि उन्हे शास्त्रों का मर्म ज्ञात हो। वैसे तो संसार में अनेकानेक मनुष्य आगम वेद, कुरान अथवा बाइबिल पढते हैं उनका पाठ करते हैं। आप लोगो में भी बहुत से भाई शास्त्रो का स्वाध्याय करते हैं। किन्तु पठन या वाचन मात्र से मनुष्य धर्मात्मा नही बनता।

इसी प्रकार जो गुरु शब्दाडम्बर के चक्कर मे पड जाते है वे ग्रन्थ का सार खो बैठते है। शिष्यों को श्लोक रटा देने से, महापुरुषों की कहानियाँ याद करा देने से तथा इतिहास की घटनाएँ सन् व तारीख सहित याद करा देने से शिष्य का कल्याण नही हो सकता। एक छोटे से उदाहरण पर ध्यान दीजिए—

एक बार दो व्यक्ति एक बगीचे मे घूमने गये। उसमे से एक कुशाग्रबुद्धि था। उसकी स्मरण शक्ति तेज थी। वह बगीचे मे घुसते ही यह ज्ञान करने मे लग गया कि—यहाँ आम के पेड कितने है ? किस पेड मे कितने आम है ? कौन कौन सी जाति के आम है तथा इस हिसाब से बगीचे की कीमत कितनी होगी आदि आदि।

किन्तु दूसरा व्यक्ति बगीचे के मालिक से भेट करके पेड के पास गया और उससे आम गिराकर मजे से खाने लग गया। अव वताइये कौन सा मनुष्य बुद्धिमान साबित हुआ ? आम खानेवाला ही न ? सत्य है। आम खाने से मतलब होना चाहिये न कि पेड गिनने से। वैसे किसी और दृष्टि से पेड गिनना लाभदायक हो सकता है पर क्षुधा शात करने की दृष्टि से नही।

इसीप्रकार जो गुरु छात्रो को सिर्फ ग्रन्थ ही रटा देते है, अच्छी अच्छी बाते याद करा देते है उससे आम के पेड गिननेवाले मनुष्य की तरह शिष्य को कोई लाभ नही होता। लाभ तो तब होगा जब कि आम का रसा-स्वादन करने वाले व्यक्ति की तरह गुरु छात्र को समस्त पठित विषय मे से रस लेना अर्थात् उसे जीवन मे उतारना सिखाएगा। सच्चे गुरु शास्त्रो की नानाविध व्याख्या के झमेले मे नही पडते तथा श्लोको के अर्थ मे खीचा तानी नही करते। वे श्रुत-ज्ञान के साथ साथ अपना जीवन भी शिष्य के सामने खुली पुस्तक की तरह रख देते है और उनमे शिष्य गुरु द्वारा प्रदत्त शिक्षा के साथ साथ गुरु से सदाचार की भी शिक्षा प्राप्त कर लेते है। सद्गुरु अपने शिष्यो के लिये अपने जीवन को ही त्यागमय बना लेते हे अपनी सुख सुवि-धाओ का उत्सर्ग कर देते है। 'रूकिनी' ने कहा हे—

"The teacher is like the candle which lights others in consuming it self"

शिक्षक मोमबत्ती के सदृश है जो स्वय जल कर दूसरे को प्रकाश देता है। महात्मा गाँधी ने भी कहा है —"शिक्षक का अपना चरित्र ऐसा होना चाहिये जो मूक शिक्षण का कार्य करे, जिसे देखकर ही विद्यार्थी की श्रद्धा जागृत हो जाय। शिक्षक अगर चरित्रहीन हो तो वह बिना खारेपन के नमक जैसा फीका रहेगा।"

सच्चे गुरु की दूसरी पहचान है उसका निष्पाप होना। प्राय व्यक्ति कहते हैं कि 'हम गुरु के चरित्र अथवा व्यक्तित्व की ओर ध्यान ही क्यो दे ? हमे तो वे जो कुछ सिखावे सीख लेना चाहिये।' पर यह गलत है। अगर शिष्य भौतिक-विज्ञान, रसायनशास्त्र अथवा ज्योतिष विद्या आदि का अध्ययन

करता हो तब तो उसे गुरु के चरित्र से विशेष मतलब नहीं रहेगा। परन्तु जब हमें गुरु से अध्यात्मविज्ञान सीखना हो तो उनका चित्त शुद्ध होना चाहिये। अशुद्ध चित्त वाले गुरु धर्म के विषय में क्या सिखा सकते हैं? चित्त शुद्धि के जो प्रकार हैं अहिंसा, सत्य, संयम आदि आदि वही तो धर्म हैं। हृदय और मन से पवित्र गुरु ही शिष्य की आत्मा को आध्यात्मिकता के रंग में रंग सकता हैं और वह रंग ऐसा चढ जाता है कि छुटाए नहीं छूटता, वरन् और निखरता जाता है। किसी कवि ने कितने मधुर शब्दों में गुरु को रंगरेज बताते हुए उनके लिये कहा है :—

> म्हारा सतगुरु भया रंगरेज चुनरिया म्हारी अजबरंगी ॥
> स्याही रंग छुडाय के जी दियो मजीठी रंग ।
> धोया से उतरे नहीं रे, दिन दिन होत सुरंग ॥ चुनरिया ॥
> नेह के कुंड भाव के जल मे प्रेम रंग दिया बोर,
> दुख के मैल छुड़ाय के रे, ऐसी रंगी है झक झोर ॥ चुनरिया ॥

कहते हैं कि मेरे सच्चे गुरु ने मेरी आत्मा रूपी चूंदडी बड़ी ही अजीब रंग दी है। विषय विकारों का स्याह (काला) रंग छुडा कर उस पर आध्यात्मिकता का तथा वैराग्य का ऐसा रंग चढा दिया है कि जो धोने से छूटता नहीं उलटा और चमकता जाता है।

सम्यक् दृष्टिकोण के शुभभाव रूपी जल मे भक्ति व श्रद्धा रूपी प्रेम का रंग घोलकर मेरी चूंदडी (आत्मा) को झकझोर कर रंग दिया है। जिससे दुख रूप मैल छूट गया है तथा सुखमय रंग चढ गया है। इस प्रकार मेरे 'सतगुरु' रंगरेज बन गए हैं।

बंधुओ! सच्चे गुरु के हृदय मे सत्य तथा ज्ञान सूर्य के समान प्रकाशित होने चाहिये। तभी उनके ज्ञान-दान का मूल्य होगा। अगर उनमे आध्यात्मिक शक्ति प्रबल नहीं होगी तो शिष्य की आत्मा मे आध्यात्मिकता का सचार नहीं हो सकेगा।

गुरु के लिये तीसरी बात है—उद्देश्य। गुरु को धन ख्याति अथवा अन्य किसी प्रकार की स्वार्थ सिद्धि के लिये धर्म-शिक्षा नहीं देनी चाहिये। उनका उद्देश्य तो सारी मानव जाति की कल्याण कामना के लिये प्रयत्न करना होता है। वे ज्ञान की ऐसी ज्योति जला देते हैं कि जो जन जन के हृदय को प्रकाशित कर देती है। दो लाइन के बडे ही भावपूर्ण पद के द्वारा इस विषय को समझिये —

सत गुरु ऐसा कीजिये रे, जैसी दिये की लोय ।
आई पडौसिन ले गई रे दिवला से दिवलो सजोय ।।
बलिहारी गुरुदेव की ।

कितना सुन्दर उदाहरण है । जैसे पडौसिन दूसरे के घर अपना दीपक लेकर जाती है और पडौसी के जलते हुए दीपक से अपना दीपक छुआ देती है । पल मात्र मे ही उसका दीपक भी उतना ही प्रकाशमान हो जाता है जितना कि पहले वाला होता है ।

मिट्टी के एक दीपक के द्वारा जिस प्रकार अनेक घरो मे प्रकाश हो जाता है, उसी तरह एक गुरु के द्वारा अनेक आत्माओ मे ज्ञान रूपी दीपक जल जाता है । इसीलिये मैंने सर्वप्रथम आज कहा है "ते गुरु मेरे मन वसो जे भव जलधि जहाज !" एक ही सच्चा गुरु अनेक भटकती हुई आत्माओ को जहाज की तरह ससार सागर से पार उतार सकता है ।

सज्जनो ! अव हमारे सामने यह सवाल उठ खडा होता है कि ऐसे गुरु कौन होते है ? आध्यात्मिक शक्ति का दूसरे मे सचार केवल शुद्ध प्रेम के माध्यम से ही हो सकता है । किसी प्रकार का स्वार्थ पूर्ण भाव जैसे अर्थ-लाभ अथवा यश की इच्छा तुरत ही इस प्रेम रूपी मान्यता को नष्ट कर देती है । तो नि स्वार्थ हृदय से ज्ञान-दान देने वाले गुरु आज के समय मे कहाँ मिल सकते है, यह जानना वडा मुश्किल है ।

आज प्रत्येक स्कूल मे, कॉलेज मे, यूनिवर्सिटी मे तथा विश्व-विद्यालय मे शिक्षक अथवा प्रोफेसर आदि होते हैं । वे अनेक विपयो का ज्ञान छात्रो को कराते है । अनेक परीक्षाए पास करा देते है और डिग्रिया दिलवा देते है । वर्पो प्राप्त किया हुआ वह ज्ञान निरर्थक नही है, ससार मे जीने के लिये वह भी आवश्यक है । उसके द्वारा मनुष्य सुशिक्षित, सुसस्कृत तथा व्यवहार कुशल वनकर अपना जीवन व्यतीत करता है । किन्तु वह ज्ञान आत्मा के लिये लाभकारी कहाँ बनता है ?

आज हम देखते हैं कि वडे वडे विद्वान जो देश के कर्णधार है, तथा अपने को सत मानने वाले पुरुष भी राजनीति के चक्कर मे पडे हुए अहर्निश साम्राज्यवाद, जातिवाद अथवा भाषा-वाद, का पोपण करते है । सत फतहसिह का उदाहरण आपके सामने ही है, जो सपूर्ण भारत को अपनी जन्मभूमि न मानकर सिर्फ भापा के आधार पर पजाब को अलग कर लेने के प्रयत्न के कारण देश के अनेक लोगो के हृदय मे दुख तथा क्रोध का कारण वने हुए

है। अनेको विद्वानो के होते हुए भी कोई भी देश आज अपनी स्थिति से संतुष्ट नहीं है। एक देश दूसरे देश को नीचा दिखाना चाहता है और इसी प्रयत्न मे रहता है। अमेरिका तथा रूस मे तो सदा होड लगी रहती है।

बंधुओ! ऐसे ज्ञान से क्या लाभ हासिल होता है? क्या यह सम्यग् ज्ञान है? नही! आज का ज्ञान इस एक जन्म मे भी तो मनुष्य को अपनी स्थिति से संतुष्ट नही रख सकता तो फिर वह चौरासी लाख योनियो मे से आत्मा का क्या उद्धार करेगा?

आज पढाए जाने वाले अनेक विज्ञानो मे मेरा विरोध कतई नही है। उन्हे हासिल करना आज के समय मे आवश्यक भी है किन्तु मेरा तो सिर्फ यह अभिप्राय तथा आग्रह भी है कि उनके साथ साथ ऐसा ज्ञान भी किया जाय जो आत्मा का इस लोक के बाद भी सहायक बन सके। वह ज्ञान है आध्यात्मिक ज्ञान, धर्म का ज्ञान। अध्यात्मज्ञान ही सर्वोच्च ज्ञान है -- वही सर्वोच्च विद्या है। वह न पैसे से पूरी मिल सकती और न पुस्तको से। भले ही मनुष्य विश्व के कोने कोने मे घूम आए। काकेशश आल्प्स और हिमालय के शिखर पर चढ जाए, तिब्बत तथा गोबी मरुभूमि की रेत छान डाले तथा चन्द्रलोक मे जाकर निवास करले, किन्तु अगर उसने धर्म का ज्ञान हासिल नही किया तो समझ लीजिये कि जीवन मे ज्ञान का करोडवाँ अंश भी प्राप्त नही किया।

धर्म किसी स्थान, परम्परा या पंथ का नही है। पंथ या परम्परा के साथ धर्म को जोड देना अज्ञान एवं सत्य पर आवरण डालना है। धर्म ध्रुव-सत्य और त्रिकाल-शाश्वत है। यह तीनो लोको मे दीपक के समान प्रकाश करने वाला है—"त्रैलोक्ये दीपको धर्म.।" साथ ही धर्म मृत्यु के पश्चात् भी मित्र की तरह साथ देने वाला है—"धर्मो मित्रं मृतस्य च।" मनुस्मृति मे भी कहा गया है कि धर्म ही ऐसा सच्चा तथा निष्कपट मित्र है जो मरने पर भी आत्मा के साथ साथ जाता है।

'एक एव सुहृद् धर्मो निधनेऽप्यनुयाति य।

अधिक क्या कहूँ, बंधुओ! जैन तत्वज्ञान का, जैन दर्शन का अध्ययन, मनन और चिन्तन करने से जन्म, मरण, और बुढापे का बार बार चक्कर सदा के लिये मिट जाया करता है। सत्य ही कहा गया है —

'जन्म-मृत्यु-जरा योग हन्यते जिनदर्शनात्।"

इसलिये धर्म का ज्ञान आवश्यक ही नही वरन् अनिवार्य है। पर इस धर्म का ज्ञान किसमे प्राप्त होगा हम इसी बात पर विचार कर रहे थे। मैंने अभी अभी कहा था कि अर्थ से अथवा पुस्तको से यह ज्ञान सम्यग्रूप से प्राप्त नही होता। और विना कुछ लिये, निस्वार्थ भाव से सिर्फ प्राणियो की कल्याण कामना को लेकर अगर इस युग मे कोई ज्ञान देने वाले है तो वे है उच्च कोटि के सत। सतो को न वेतन चाहिये और न गुरु दक्षिणा ही। उनका तो सारा जीवन ही दीन, दुखी तथा अज्ञानी प्राणियो के कल्याण के लिये मर्मपित होता है। सत-गुरु के द्वारा ही प्राणी भगवान को पा सकता है, मुक्ति के मार्ग की जानकारी कर सकता है। सत ही मनुष्य के हृदय मे धर्म को रमा सकते है। स्कूल मे छात्र शिक्षको के द्वारा मौखिक ज्ञान प्राप्त करते है, किन्तु सतो की प्रत्येक क्रिया मनुष्य को धर्म का पाठ पढाती है। सन्तो का, उपदेश, बोली, व्यवहार, चलना-फिरना आदि सभी कुछ धर्ममय होता है। इसीलिये उनका दर्शन भी पुण्य माना जाता है। कूटनीतिज्ञ चाणक्य ने कहा है—

साधूनां दर्शनं पुण्य, तीर्थभूता हि साधव ।
कालेन फलते तीर्थ सद्य साधु-समागमः ।

साधुओ का दर्शन ही पुण्य है क्योकि साधु तीर्थ रूप है तीर्थ तो वल्कि देर से फल देता है किन्तु साधुओ की सगति शीघ्र फल देती है।

मनुष्य सतो के जीवन से जो शिक्षा प्राप्त करता है वह पुस्तके रट-रट कर प्राप्त नही कर सकता, क्योकि सच्चे सत पूर्ण रूप से अहिसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य तथा अपरिग्रह रूप पाच महाव्रतो का पालन करते है। भिक्षोपजीवी होते है। निष्काम भाव से तपस्या, ज्ञान, ध्यान आदि पवित्र अनुष्ठानो मे दिन-रात मलग्न रहते है। अनगार होते है। नगे मिर नगे पैर पैदल चलते है। सर्वदा साम्यभाव रखते हुए सासारिक झझटो से दूर रहते हैं।

प्रत्येक ज्ञानपिपासु को ऐसे ही सद्गुरु पर श्रद्धा रखते हुए अत्यन्त विनय पूर्वक उनसे अध्यातम शिक्षा ग्रहण करना चाहिये। दशवैकालिक सूत्र मे कहा गया है कि जो शिष्य आचार्य तथा उपाध्याय की सेवाशुश्रूपा करते है और उनकी आज्ञा का सम्यक्पालन करते है, उनकी शिक्षा, जल से सीचे हुए वृक्ष की तरह दिन-प्रतिदिन बढती रहती है —

जे आयरिय-उवज्झायाण, सुस्सूसावयणकरा ।
तेसिं सिक्खा पवड्ढति, जल सित्ता इव पायवा ॥

गुरु की आज्ञा के प्रति तर्क-वितर्क, शंका संशय और वाद विवाद जैसी अविनीत भावनाएं उत्पन्न ही नहीं होने देना चाहिये। ""आज्ञा गुरुणां ह्यविचारणीया।" शिष्य को पूर्ण विश्वास होना चाहिये कि धर्म क्या है ? इस तत्त्व को समझाने मे गुरु के सिवाय दूसरा कोई भी समर्थ नही है —

"गुरोर्धर्माधर्म-प्रकटनपरात् कोऽपि न परः।"

वधओ ! गुरु के प्रति अश्रद्धा रखने वाला तथा गुरु की आलोचना करने वाला व्यक्ति पाप कर्मो का वन्ध करके नरकगामी होता है। गुरु से विमुख होकर भगवान् का भजन करना भी फलप्रद नही है—

फल टूटी जल मे पडे मिटे न तन की त्रास।
गुरु छोड़ी गोविन्द भजे, निश्चय नरकावास ॥

गुरु की कृपा होने पर ही मनुष्य भगवान को पा सकता है, अन्यथा इम भवसमुद्र से पार होकर मुक्ति पाना असभव है। किसी पजावी कवि ने भी कहा है—

नेहो लाइये सतगुरु नाल जिन्होने पार ले जाना एँ।
क्यो फिरनाएं मारा मारा, तेरा कौन करे निस्तारा,
इक लै लै गुरांदा सहारा, जिन्होने भरम मिटानाऐं।
हट जाए माया दा परदा, फिर दर्श होवे उस घरदा,
जित्थे वास तेरे दिलवर दा, नहि फिर भटके खानाऐं।

सव को छोडकर सिर्फ सद्गुरु से ही प्रेम कर, जो तुझे पार ले जाएंगे। और कोई भी तुझे छुटकारा दिलाने वाला नही है, अत व्यर्थ मारा-मारा मत फिर। अपने गुरु का ही सहारा ले वही तेरे अज्ञान को दूर करेंगे। गुरु के द्वारा जव माया का परदा आखो के आगे से हट जायगा तव उस मोक्ष रूपी घर का दर्शन होगा जहाँ कि भगवान् का निवास है —

वन्धुओ ! ऐसे सद्गुणो का समागम वहुत ही दुर्लभ होता है। प्रथम तो उन्हे खोजना ही वडा दुष्कर होता है। कवीर ने कहा है—

सव वन तो चंदन नहीं, सूरा का दल नाहिं।
सव समुद्र मोती नहीं, यो साधु जग माँहि ॥

जिस प्रकार सव वनो मे चन्दन नही मिलता, समुद्र मे सव जगह मोती नही मिलते और शूरवीरो का दल नही होता उसी तरह सच्चे साधु भी सर्वत्र नही मिल सकते।

संक्षेप मे यही कि उनका समागम बडी कठिनाई से होता है। और होने पर भी वे अधिक समय तक एक स्थान पर ठहरते नही, सिवाय चार महीने वर्षाकाल के। अत आप लोगो को चाहिये कि जब भी ऐसे सुअवसर मिले आप गुरुओ से अधिक से अधिक लाभ उठावे अन्यथा चार महीने तो बात करते बीत जाते है और साधु सत अविलम्ब मोह की जजीर तोडकर चल देते है। सिर्फ ऐसे गीतो की ध्वनि ही कर्ण कुहरो मे गूंजती रहती है —

दरशन करलो भागा वालयो अज टुर चले फकीर ने।
चार महीने कीता वासा, दिता सानू धर्म दिलासा,
हुण तो खतम होया चौमासा, तोड के चले जजीर ने।
कीता सत्य, दया, प्रचार, अस्तेय ब्रह्मचर्य विस्तार,
होया साडा वेडा पार, बख्शी धर्म जगीर ने।
टुकड़ा घर घर मग के खाना लेना नहि कोइ नजराना,
सिरफ भुलयां राहे पाना, एता सच्चे फकीर ने।

अर्थात् हे भाग्यवानो ! आज फकीर लौट चले है अत दर्शन कर लो। चार महीने के वास मे सबको धर्म पर विश्वास दिलाकर अब चातुर्मास्य समाप्त होते ही हमारे स्नेह बन्धन को तोडकर रवाना हो रहे है।

सत्य, दया, अस्तेय तथा ब्रह्मचर्य आदि का विस्तार पूर्वक प्रचार करके मानो हमे धैर्य की जागीर बख्श दी है, क्योकि उसके द्वारा ही हमारा वेडा पार होगा।

इसके लिये ये कोई नजराना नही लेते, वल्कि अपने खाने के लिये भी रूखा-सूखा घर घर से ले आते हैं। इन सच्चे फकीरो का उद्देश्य तो सिर्फ भूले भटको को राह दिखाना ही है। ऐसे सन्तो का आज जाने के दिन दर्शन करलो। अन्यथा फिर दर्शन होना कठिन है।

भाईयो ! पच महाव्रत धारी, अनेकानेक परीपहो को समभाव से सहन करने वाले तथा पर-दुख-कातर ऐसे सन्तो के समागम से आपको इह लोक के अलावा परलोक मे भी साथ जाने वाले 'धर्म' की शिक्षा तो ग्रहण करनी ही चाहिए पर साथ ही यह स्वप्न मे नही भूलना चाहिये कि धर्म-गुरुओ के अलावा भी जिससे एक अक्षर का भी ज्ञान आपने प्राप्त किया हो वे भी आपके लिये पूज्य श्रद्धास्पद तथा आदरणीय है। चाहे वे कोई भी हो, किसी भी जाति के हो अथवा किसी भी कुल के हो।

एक बार नारदजी को श्रीकृष्ण ने अभिशाप दिया कि तुम चौरासी

लाख योनियो मे भ्रमण करोगे। बेचारे नारद ६८ हजार विद्याएँ जानते थे पर एक भी उन्हे श्रीकृष्ण के शाप से मुक्त करने मे समर्थ नही थी। वे बहुत घबराए और दुखी होकर अरण्य मे जाकर एक सरोवर के किनारे बैठ गये। गहरे दुख के कारण उनकी आँखो मे आँसू आ गए।

एक धीवर अचानक ही उस जगह आ पहुँचा। नारद को रोते देख पूछने लगा—महात्मन्! क्या कारण है आपके रुदन करने का? आप सरीखे पुरुष भी इस प्रकार विह्वल होंगे तो फिर हम लोगो का क्या होगा!

नारद ने धीवर को बताया कि श्रीकृष्ण के अन्त पुर मे वे गए थे। वहाँ कृष्ण ने नाराज होकर उन्हे इस प्रकार शाप दिया है।

धीवर बडा बुद्धिमान् था बोला—बस, इतनी सी बात है? मैं आपको शाप से छूटने का एक सुन्दर उपाय बता देता हूँ। नारदजी को और चाहिये ही क्या था? बोले भाई, शीघ्र बताओ। मैं तो घबराहट के कारण अधमरा हुआ जा रहा हूँ।

धीवर बोला—आप श्रीकृष्ण के पास जाकर कहिए कि "मुझे आप ८४ लाख योनियो का चित्र खीचकर बताइये, अन्यथा मुझे विश्वास कैसे होगा? और जब कृष्ण चित्र खीच दे तब आप अविलम्ब उस पर लोट जाइयेगा। बस आप चौरासी लाख योनियो के भुगतान से बच जाएँगे।

नारद जी ने धीवर को अपना गुरु मानकर उसके चरणो मे मस्तक झुकाया और कृष्ण जी से मिलने चल दिये। राजमहल मे जाकर श्रीकृष्ण से बोले—

चौरासी तो मै नहिं देखी, बिन देख्या डर लागे,
एक अर्ज मानो कमलापति, आप लिखो मुझ आगे।

कृष्ण महाराज धीवर की सिखाई चाल को नही समझ सके और चित्र बनाकर उन्होंने नारद के सामने रख दिया। पर हुआ क्या —

लिख पट हरिजी आगे धरियो, लोट गये ऋषि राइ,
नारद से नारायण पूछे, या विधि कौन बताई?

बात तो बन ही गई थी। अब नारद को बताने मे क्या एतराज था? वे बडे आदर से बोले-मेरे गुरुजी ने। कृष्ण नारद के गुरु धीवर की बुद्धि का चमत्कार जान कर चकित हुये और उसकी सराहना करने लगे।

तो बन्धुओ! एक धीवर की शिक्षा को शिरोधार्य करके नारद चौरासी लाख योनियो के चक्कर से बच गए तो आप तो अनेक विद्वानो के द्वारा

वहुत कुछ ज्ञान प्राप्त करते है। क्या वह आपके आत्मकल्याण मे सहायक नही होगा ? अवश्य होगा, किन्तु जब आप उसे नियम तथा श्रद्धापूर्वक ग्रहण करेगे। अनादर व उछृङ्खलता पूर्वक ली हुई शिक्षा कभी भी सफल नही होती। गुरु की अवहेलना करने से सारा अभ्युदय नष्ट हो जाता है।

श्री उत्तराध्ययन सूत्र मे बताया गया है –

विवत्ती अविणीयस्स, संपत्ती विणीयस्स य ।
जस्सेय दुहओ नायं, सिक्ख से अभिगच्छइ ॥

अविनीत पुरुप के सभी सद्‌गुण नष्ट हो जाते हैं और विनीत पुरुप को सद्‌गुणो की प्राप्ति होती है। जो ये दोनो वाते अच्छी तरह जान लेता है वही ज्ञान प्राप्त कर सकता है। विना गुरु के मनुष्य कितना भी कुशाग्रवुद्धि हो, कभी भी सम्यक् ज्ञान प्राप्त नही कर सकता। कहा भी है —

विना गुरुभ्यो गुणनीरधिभ्यो,
जानाति तत्त्व न विचक्षणोऽपि ।
आकर्णदीर्घायितलोचनोऽपि,
दीपं विना पश्यति नाधकारे ॥

अर्थात् गुणसागर गुरु के विना विचक्षण वुद्धि वाला व्यक्ति भी तत्त्व को नही समझ सकता। जिस प्रकार कि कोई व्यक्ति कितने भी विशाल नेत्रो वाला होकर अधकार मे नही देख पाता, विना दीपक की सहायता लिये। तभी तो गुरु के लिये कहा गया है—"**गुरुस्तु दीपवत् मार्गदर्शकः।**" गुरु दीपक की तरह मार्गप्रदर्शन करते हैं। अत उनका भी दीपवत् महत्त्व मानना चाहिए।

सज्जनो ! आज रविवार का अवकाश होने के कारण अनेक वालक भी यहाँ विद्यमान है अत विशेष तौर पर आज गुरु के विपय मे मैंने कुछ कहा है। आशा है मेरी कुछ बाते समझ कर ये वच्चे अपने गुरुओ का सम्मान करना सीखेगे। पर क्योकि ये वालक है, अत: कोई भी वात अधिक समय तक याद नही रख पायेगे। आप लोगो से पुन निवेदन है कि आप इन्हे वार-वार यह प्रेरणा देते रहे। ताकि ये कभी भी जीवन मे अपने गुरुओ को भूले नही और मेरा यह कथन सार्थक हो कि "**ते गुरु तेरे मन वसो** ।

* *

मानव और मानवता | ४

आज का विषय है—मानवता कैसे प्राप्त करे ? मानव पर्याय पाना मुश्किल नही है, मुश्किल तो है मानवता प्राप्त करना। आज के युग मे मानव सुलभ हैं पर मानवता दुर्लभ है। अगर आपको किसी ऑफिस, स्कूल, दुकान या मजदूरी के लिये मानव चाहिये तो आप आवश्यकता का विज्ञापन करवा दीजिये। दूसरे दिन ही एक सौ आदमी उपस्थित हो जाएँगे। इस वेकारी के युग मे मैट्रिक पास क्लर्क की जगह आपको एम ए पास मानव भी मिल जाएँगे।

आज वस्तुओ की कीमत दुगुनी, चौगुनी और आठगुनी हो गई है, पर मनुष्यो की कीमत घट गई है। अनाज महगा हो गया है पर मनुष्य सस्ता होता जा रहा है। मेरे कहने का अभिप्राय यही है कि मानव तो आपको कदम-कदम पर मिलेगे पर मानवता कितनो मे मिलेगी, यह जानना वडा मुश्किल है।

आप सोचेंगे—मानव तथा मानवता मे क्या अन्तर है ? मेरी दृष्टि मे मानव तथा मानवता मे उतना ही अतर है जितना पिसे हुए आटे मे तथा वनी हुई रोटी मे। पिसा हुआ आटा मनुष्य के खाने के काम मे नही आता जव तक कि उसे पानी मे गूदकर, वेलकर तथा सेककर खाने योग्य नही वनाया जाता। जव तक आटा अग्नि पर तपाया नही जाता वह किसी के उपयोग मे नही आ सकता।

ठीक इसी प्रकार मानव-शरीर है। मानव शरीर होने पर भी अगर उसमे मानवोचित गुण नही है तो वह मानव किसी का सहायक हितैषी अथवा किसी को भी सुख का प्रदाता नही वन सकता। ऐसा मानव सिर्फ

अपना पेट भर लेता है और जीवन यापन करता चला जाता है। पर अपना तो पशु-पक्षी सभी पेट भरते है। इसके लिये मनुष्य की तारीफ करना या उसे ससार के पशु-पक्षियो से उच्च स्तर का समझना उचित नही।

वैसे आज हम किसी मनुष्य को बैल अथवा गधा कह दे तो वह कुपित हो जाता है। मानव के लिये पशुत्व का प्रयोग हो तो उसे शर्मनाक लगता है। किन्तु आज हम ऐसे मानवो को भी पाते है जिन्हे पशु कहना पशुओ का भी अपमान करना है। पशु बिचारे अपनी भूख प्यास मिटाते है और मस्त रहते है। उनके मन मे किसी अन्य के प्रति ईर्ष्या नही होती। वे किसी का बुरा नही सोचते तथा बिना वजह किसी को कष्ट नही पहुँचाते उलटे अनेक पशु तो मनुष्य के लिये अपने प्राणो का उत्सर्ग कर देते है।

महाराणा प्रताप के घोडे 'चेतक' ने अपने स्वामी के प्राणो की रक्षा अपने प्राणो की बाजी लगाकर की। अमरसिह राठौड के घोडे ने किले के विशाल फाटक को लाघकर उसे बाल-बाल बचाया। कुत्तो की नमकहलाली तो हम प्राय सुना ही करते है। उनका स्नेह अपने मालिक के प्रति कितना गहरा होता है। गृहस्थावस्था मे यहा हमारे एक कुत्ता था। बडा समझदार और बडा ही स्वामिभक्त। वह मेरे पास ही अधिक रहता था। मेरे हाथ से दिया हुआ ही खाया करता था। जब मैंने दीक्षा ग्रहण कर ली तो उसने बिलकुल खाना-पीना बद कर दिया और कुछ दिनो मे ही इस लोक से प्रयाण कर दिया। परिवार वालो ने हजार प्रयत्न उसे खिलाने के लिये किये पर उसने अपनी जिद नही छोडी।

दीक्षा के अवसर पर मै सिर्फ पन्द्रह वर्ष की थी। और उस बात को आज करीब उन्तीस वर्ष होने जा रहे है, फिर भी जब जब मुझे उस स्नेह-सिक्त मूक पशु का ध्यान आता है तो मेरा मन द्रवित हो उठता है।

हा तो मै बता यह रही थी कि अनेक पशु मानवो से श्रेष्ठ होते है। जो मानव बिना वजह अन्य प्राणियो को दुख पहुँचाते है। उनसे द्वेष रखते है तथा दीन-दुखियो की सहायता के लिये कभी भी तत्पर नही रहते, उन्हे पशु के बराबर भी किस तरह कहा जाय?

आज विश्व मे समाजवाद, साम्यवाद, पूजीवाद, गाधीवाद आदि अनेको वाद प्रचलित है। पर मानवतावाद कहा है? मानवतावाद की जगह तो साम्राज्यवाद ने ले ली है। उसी का विकास हो रहा है। बिना वजह एक

प्राणी दूसरे का, एक समाज दूसरे समाज का और एक देश दूसरे देश का सहार कर अपने साम्राज्य को वढाने की कोशिश मे है।

आज का मानव मानवता छोडकर दानवता का सेवक वन गया है। एक के वाद एक होने वाले विश्वयुद्ध उसकी दानवता का प्रमाण पत्र देते है। विश्व मे आज जो अनेको दुख व्याप्त है उनका मूल कारण मानव की पाशविक प्रवृत्तिया ही है। विज्ञान ने मनुष्य को स्टीमर, रेले व मोटर तथा वायुयान आदि देकर जलचर, स्थलचर तथा नभचर वना दिया है पर उसकी मानवता छीनकर उसे पिशाच भी वना दिया है।

शरीर तो सभी मनुष्यो को एक सरीखा ही मिलता है, फिर भी उनमे से कुछ नर-देव कुछ नर-पिशाच तथा कुछ नर-पशु भी होते हैं। दूसरे जो मनुष्य अपनी शक्ति को सहार की तरफ तथा दूसरो की सपत्ति को हडपने की ओर मोड देते है,अपनी बुद्धि को दूसरो के विनाश तथा शोपण मे लगाते है वे नर-पिशाच होते है। तीसरी कोटि के वे मनुष्य है जो सिर्फ अपने लिये ही जीते है। दूसरो के सुख-दुख से कोई वास्ता नही रखते। उन्हे हम नर-पशु कह सकते है। मनुष्य की वृत्तियाँ ही उन्हे देव, दानव, अथवा पशु वना देती है। दैविक तथा मानुपिक वृत्तिया तो क्वचित् ही दृष्टिगोचर होती है किन्तु पाशविक वृत्तिया यत्र-तत्र-सर्वत्र पाई जाती है। आज का मनुष्य आकृति से अवश्य ही मनुष्य है किन्तु प्रकृति से वह पशु वन गया है। उसके कार्यो के पीछे विवेकशक्ति का अभाव है, इसलिये वह नर-पशु है। सत्ता और स्वार्थ की भूख के कारण वह मानवता की हत्या कर चुका है। दूसरो को कुचलकर वह मुस्कराता है। इसीलिये पिशाच है।

पशु असभ्य वातावरण मे रहता है। उसको ज्ञान का प्रकाश नही मिलता। इस कारण हम उसे असभ्य कहते है, फिर भी वह मेरी दृष्टि मे असभ्य नही है। मनुष्य अपनी जाति के मनुष्य का शिकार करता है, पर पशु नही। सिंह इतना शक्तिशाली होता है, फिर भी वह अपनी जाति के सिंहो का शिकार नही करता किन्तु विश्व का इतिहास जव हम उठाकर देखते है तो पता चलता है कि मानव ने मानवता खोकर मानव पर अत्याचार किये है। क्रूरता व हिंसापूर्ण कृत्यो से दुनिया को कितना वर्वाद किया है। एक पजावी ने मानवता को ललकारते हुए सुन्दर चेतावनी दी है—

> अग्गे हिंदिया वथेरा नुकसान हो गया, वेहुण होश कर।
> वदा वदे नाल खहके शैतान न्हे गया वे हुण होश कर।

फुट्ट चन्दरी ने अग्गे सानू पट्टया ।
जेहड़ा बूटा हत्थ आया सोई पुट्टया ।
देश वसदा उजाड़ बियाबान हो गया वे हुण होश कर ।

कवि कहता है—अरे मानव ! हिन्दुस्तान का पहले ही बहुत नुकसान हो गया है, अब तो तू होश मे आ । इन्सान के साथ लड भिड कर शैतान बन गया है । जिस मनुष्य मे नर से नारायण बनने की शक्ति थी वह यम का दूत बन चुका है । हमारी इस आपसी फूट ने हमे बर्बाद कर दिया । प्रेम का, सत्यका, अहिंसा का जो भी पौधा हमारे हाथ मे आया उसे ही हमने उखाड फैंक दिया । पिता का पुत्र के प्रति, पडौसी का पडौसी के प्रति, भाई का भाई प्रति, जो निर्मल सबध था सब खत्म हो गया । और यह सुन्दर हरा भरा देश बियाबान जगल हो गया । गगनचुम्बी भवनो की जगह मकबरे बन गए और—

होइयां इज्जत दियां भी बरबादिया ।
लाशां कावां कुत्तया ने भी न खादिया ।
लहू नाल लाल जमीं आसमान हो गया—
वे ! हुण होश कर !

हमारे जिस भारत मे जन-जन के हृदय मे नारियो के प्रति सदा सम्मान की भावना रही है,जो सदा कहते रहे है "**यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवता**" उन्ही के द्वारा लाखो नारियो की व बालाओ की इज्जत लुटी गई है । अनेको ललनाओ के प्राण गए है । आपसी घमासान मे लाशो के इतने ढेर लगे कि कौए और कुत्ते भी उन्हे खा नही सके । सारी जमीन और आसमान भी मानो उनके खून से लाल हो गई ।

एक दूसरे का खून पीने के लिये मनुष्य चाडाल बन गया । पजाब व बगाल के भयानक हत्याकाड को देख देख कर तो भगवान् भी हैरान व किंकर्त्तव्य विमूढ हो गया—

खूनी बंदया ते खून दे चडाल नू ।
वेख वेख के पंजाब ते बगाल नू ।
सच्ची रब भी हैरान परेशान वे गया—
हुण होश कर ।

बधुओ ! मानवता खोकर मानव ने जैसा कि मैंने अभी अभी बताया है, अपनी बाह्य हानि तो की ही है, साथ ही अपनी आतरिक हानि भी कम

नही की है। मानवता खोकर वह नैतिक दृष्टि से गिर गया है। उसका आतरिक पतन हो गया है।

१९४३ मे जब बगाल मे भुखमरी फैली थी उस समय को ही लीजिये। एक तरफ तो भूख प्यास मे तडफते हुए भिखारियो की कतारे लगी हुई थी और दूसरी तरफ स्वार्थी व्यापारियो ने अपने गोदाम अनाज से ठसाठस भर रखे थे। वस्तुओ की कीमते इतनी बढा दी थी कि जैसे वह अवसर ही लूटने के लिये Golden time था। सकट के समय मनुष्य की सहायता करना चाहिये पर उस समय मनुष्य अपनी स्वार्थ साधना कर रहे थे। मानव ने किस प्रकार मानवता का त्याग कर दिया, इसके सैकडो उदाहरण दिये जा सकते हैं।

मानवता नही थी तभी भगवान् महावीर के कानो मे कीले ठोके गए। ईसामसीह को सूली पर लटकाया गया। सुकरात को जहर पिलाया गया। धर्म के नाम पर अनेको निरपराध प्राणियो को मौत के घाट उतारा गया। यह सब करने वाले मानव ही थे पर मानव के चोले मे मानवता नही थी। आकृति मानव की थी पर वृत्ति दानव की। उनके अन्त करण दूषित हो गए थे और विकारो ने उन पर आधिपत्य जमा लिया था। एक कवि ने कहा है—

"तेऽमी मानुष-राक्षसाः परहित स्वार्थाय निघ्नन्ति ये।"

जो अपनी हित-साधना के लिये पर के हित का विनाश करते हैं, वे मनुष्य होते हुए भी राक्षस है।

आज हम देखते है कि भिन्न भिन्न विश्वविद्यालयो से लाखो युवक भिन्न भिन्न परीक्षाऐ पास करते हैं। प्रतिवर्ष एम ए पी-एच. डी, वकील, डॉक्टर तथा बैरिस्टर, इजीनियर आदि आदि को उत्तीर्ण होने पर प्रमाण पत्र दिये जाते हैं। किन्तु मानवता की परीक्षा लेने वाले विद्यालय कहा है? इस परीक्षा मे बैठने के इच्छुक विद्यार्थी कितने है? अनेको उपाधियां प्राप्त कर लेने पर भी मानवता की उपाधि अगर न मिली तो जीवन मे मिला ही क्या? जिस प्रकार दूध मे बादाम, पिस्ते तथा केसर डालने पर भी अगर शक्कर न डाली जाए तो वह फीका लगता है, ठीक उसी तरह अनेक डिग्रियाँ हासिल कर लेने पर भी मानवता हासिल न की तो जीवन फीका रहता है।

अब हमारे सामने यह प्रश्न उठ खडा होता है कि मानवता किस प्रकार प्राप्त की जाए?

सर्वप्रथम मानवता प्राप्ति के लिये मानव को मानव के प्रति जो भेदभाव है वह दूर करना होगा। हमारे देश मे अनेकानेक नेता है, आचार्य हैं, गुरु है व महान् संत है। फिर भी समाजवाद, पथवाद तथा जातिवाद मनुष्यो के हृदयो मे घर बनाए हुए है। इनकी आड मे खून की होली खूब खेली जा चुकी, पर अब हमे आपसी स्नेह-सवध स्थापित करने का मार्ग अपनाना पडेगा। जैन, हिन्दू, मुसलमान, सिक्ख, ईसाई, पारसी-सब कुछ होने के बावजूद भी यह मानना होगा कि सब मानव होने के नाते भाई-भाई है। माता के उदर मे आने वाला बच्चा निशान लेकर पैदा नही होता। बताइये क्या कोई भी इन्सान अथवा इन्सान के द्वारा बनाई हुई मशीन यह बता सकती है कि नवजात शिशु हिन्दू है अथवा मुसलमान ?

प्रकृति के लिये मानव मात्र मे भेद नही है। यह मानव के दिमाग की करामात है कि उसने इस पृथ्वी को पहले तो एशिया और यूरोप आदि टुकडो मे बाटा। उसके बाद उनमे से भारत, जर्मनी, जापान, इगलैड, अमेरिका, अफ्रीका आदि आदि टुकडे किये। उसके बाद एक-एक देश के भी टुकडे कर डाले, भारत मे भी पजाब, गुजरात, महाराष्ट्र, बगाल, बिहार आदि बना लिये, तब भी जब चैन नही पाई तो अपने को हिन्दू, मुसलमान जैन, सिक्ख आदि आदि घोषित किया। क्या तारीफ करे मनुष्य के दिमाग की ? इसी मथन मे आपसी फूट को तो अमृत समझकर मनुष्य के बच्चे पी गए परन्तु मानवता को विष समझकर कोई पीने वाला नही मिला तो रसातल की ओर भेज दिया। पर अब, जब कि फूट रूपी अमृत हजम नही हुआ और ईर्ष्या, द्वेष, क्रोध, कषाय, हिंसा आदि अनेक रूपो मे अपना कुप्रभाव दिखाने लगा है तो मनुष्य फिर मानवता को रसातल से खोजकर निकाल लाने का प्रयत्न करने लगे है। और फिर से सम्प्रदायवाद की प्रान्तवाद की, भाषावाद की तथा राष्ट्रवाद की दीवारे गिराकर एक दूसरे को छुप-छुपकर थोडा थोडा झाँककर देखने लगे है। कमजोर आवाज मे विश्वमैत्री का नारा लगाने लगे है। हालाँकि अभी उसका कोई सुखद परिणाम सामने नही आया है। आज भी चीन तथा पाकिस्तान भारत की ओर तथा अन्य देश दूसरे देशो के लिये ताक लगाए बैठे है और प्रयत्न कर रहे है दूसरे की अधिकृत जमीन हडपने की। फिर भी मानव अगर प्रयत्न इस दिशा मे करता जाएगा तो सफलता प्राप्त होगी ही इसमे शक नही है। अगर प्रत्येक मानव दूसरे को भाई समझेगा तो वह सच्चा मानव बन सकेगा।

मानवता प्राप्त करने के लिये दूसरी आवश्यकता है पूँजीवाद की समाप्ति करना। दूसरे के धन की आकाक्षा करना महान् मानसिक पाप है। आज प्रत्येक व्यक्ति बिना परिश्रम किये ही धनवान् बनने की इच्छा रखता है। वह यह नही सोचता कि जो धन उसके पास आता है वह दीन दुखी तथा गरीबो के हक का होता है। फ्रेंकलिन ने कहा है -

"Wealth is not his that has it but his that enjoys it."

धन उसका नही है, जिसके पास है बल्कि उसका है जो उसका उपयोग करता है।

जो मनुष्य आवश्यकता से अत्यधिक पूजी सचित करता है और किये ही जाता है, उसका उपयोग नही कर सकता, वह धन उसके हक का कैसे माना जाय ?

आज का मनुष्य जब किसी दूसरे को देखता है तो तुरन्त उससे कुछ फायदा उठाने की इच्छा करने लगता है। धन से धन की भूख बढती है। उससे तृप्ति नही होती। धन के लिये एक व्यक्ति दूसरे का पेट काटता है। धन के लिये ही एक राष्ट्र दूसरे राष्ट्र को निगल जाना चाहता है धन के लिये ही मनुष्य क्रूर से क्रूर कर्म करता है। कहा गया है—

अर्थार्थी जीवलोकोऽयं श्मशानमपि सेवते।
जनितारमपि त्यक्त्वा निःस्वं गच्छति दूरतः॥

अर्थात् इस ससार मे धन की कामना करने वाला मनुष्य श्मशान का भी सेवन करता है, और धन से हीन होने पर अपने जन्म देने वाले पिता को भी छोडकर चला जाता है। किसी ने ठीक ही कहा है "अर्थातुराणा न सुहृन्न बन्धु।" अर्थलोलुप का कोई भी सुहृद या बन्धु नही रहता, न कोई उसका कभी विश्वास ही करता है।

धनी की जो श्रद्धा धन मे होती है वह कर्म मे नही होती। वह मानवता को तिलाञ्जलि दे देता है। सदा यही सोचता है कि धन से ही हम सुखी बन सकेंगे। इस मान्यता को लेकर बस धन इकट्ठा करने के प्रयत्न मे रात दिन लगा रहता है। वह भूल जाता है कि मेरे खजाने की अपेक्षा भी बडा एक और धन है—सतोष।

गो धन, गजधन, वाजि धन और रतन-धन खान।
जब आवे सतोष धन, सब धन धूरि समान॥

— कबीर

लौकिक धन को धन नही कहा जा सकता। जिस काम को करने से मनुष्य के अन्तकरण को सतोप होता है वही वास्तविक धन है। धन का लोभ समग्र सद्‌गुणो का विनाश कर देता है—"**लोहो सव्वविणासणो**"। लोभी के अन्त करण से दया, क्षमा तथा ममता-सब सद्‌गुण विलीन हो जाते हैं। इसीलिये सत 'तिलुवल्लुवर' ने कहा है कि "जो धन दया और ममता से रहित है, उसकी तुम कभी भी इच्छा मत करो।" धनवानो का हृदय धन के भार मे दब कर सिकुड जाता है। उसमे उदारता के लिये स्थान नही रहता। फिर धर्म के रहने का तो सवाल ही नही आता। इसलिये ईसा ने कहा था कि सुई के छेद से ऊट का निकल जाना सभव है किन्तु धनी मनुष्यो का स्वर्ग मे पहुँचना असभव है।

बाइबिल मे कहा गया है "कोई भी व्यक्ति दोनो की सेवा एक साथ नही कर सकता। चाहे ईश्वर की उपासना कर लो चाहे कुबेर की" धनी व्यक्ति के हृदय मे क्रूरता का साम्राज्य हो जाता है। मृदुता तथा मानवता उसमे नही रह पाती।

मानवता प्राप्त करने के लिये तीसरी आवश्यकता अहिंसा को अपनाने की है। दूसरो का नाश अथवा घात करने की भावना जिसके हृदय मे है वह व्यक्ति मानवता से कोसो दूर चला जाता है। हिंसा से किसी पर विजय मिल सकती है पर उससे शाति प्राप्त नही हो सकती। हिसा पशुता की प्रवृत्ति है, मानवता की नही। जो व्यक्ति हिसा को प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष मे बढावा देते है वे मनुष्य के रूप मे राक्षस होते है।

प्रत्यक्ष मे प्राणी का घात न करने पर भी हिसा से निर्मित वस्तुओ का उपयोग करने पर भी हिंसा होती है। एक लाख रुपया देने पर भी अपने को अहिंसक मानने वाला किसी प्राणी का कत्ल नही करता। पर वही व्यक्ति चर्बी लगे मील के कपडो को धारण करके परोक्ष मे छ काय के जीवो की हिंसा का भागीदार बनता है। आप मे से ही अनेको फैशनेबिल वस्तुओ का उपयोग करते है। उनके पीछे कितनी हिंसा होती है कितना महारम्भ होता है, क्या आपने कभी इसके बारे मे सोचा है ?

सन् १९४८ के नवम्बर मे "हरिजन" मे लिखा है कि कोमल चमडे की वस्तुओ के लिये गर्भवती गायो के गर्भस्थ बछडो का चमडा निकाल कर उनसे सुन्दर-सुन्दर पर्स आदि चीजे बनाई जाती है। दिल्ली मे कई जैन व्यापारी भी ऐसे चमडे का व्यापार करते है और बहुत नफा कमाते है। बताइये ऐसी वस्तुओ का उपयोग करने वाले क्या अहिंसक कहलाऐंगे ?

एक बार हम अम्बाला से शिमला की ओर जा रहे थे। रास्ते में कसौली की महाकठिन किन्तु प्राकृतिक सौन्दर्य से भरपूर चढ़ाई पार कर हम कसौली पहुँचे। वहां कुछ समय गुरुद्वारा में ठहरे। पता चला कि वहां एक जैन साहब भी रहते हैं। जानकर प्रसन्नता हुई कि यहां भी जैन परिवार है। हम लोगों ने उनका मकान तलाश किया और ठहरने के लिये उनसे स्थान पूछा। जैन साहब ने अपने यहाँ ऊपर की मंजिल में एक कमरा खोल दिया। कमरे के सामने बड़ी गन्दगी थी और उसके अलावा भी दुर्गन्ध से सारा वातावरण भरा हुआ था। कसौली की चढ़ाई के समय हमारे मस्तिष्क सुवास से भर गए थे, पर इस घर की दुर्गन्ध के कारण दिमाग चकराने लगे। कारण कुछ समझ में नहीं आया पर थोड़ी ही देर बाद हमने देखा कि मुर्गे मुर्गियों के झुंड के झुंड मकान की ओर आ रहे हैं। हम चकराए पर सोचा किसी पड़ौसी के होंगे। शाम को दो बहनें दर्शनार्थ आईं। वे बोलीं—आप यहाँ कैसे ठहर गए ? यह तो सिर्फ नाम के ही जैन हैं। इनका कार्य तो अनार्यों का है, इनके यहां मांस का ठेका लिया जाता है।

दुर्गन्ध व मुर्गे मुर्गियों का रहस्य हमारी समझ में आया। मन बड़ा ही बैचेन रहा। वैसे दो-तीन दिन ठहरने का विचार था, किन्तु वहां एक क्षण काटना भी भारी हो गया। सूर्य निकलते ही भगवान् का नाम लेकर हमने वहाँ से प्रस्थान किया। रास्ते में 'धर्मपुरा' होकर 'सोलन' आए। वहाँ भी एक ब्राह्मण परिवार के यहाँ बर्तनों में अंडे भरे हुए दिखाई दिये।

काश्मीर में भी जिसे भारत का स्वर्ग कहते हैं, हमने सारे बाजारों में जगह जगह मांस बिकते देखा, दूध चाय की दुकानों पर भी अंडों के लटकते हुए टोकरे तथा मांस मछलियों के ढेर के ढेर होते थे। उधर मांस पर कोई प्रतिबंध नहीं था।

कहने का तात्पर्य यही है कि राजस्थान की अपेक्षा पंजाब व काश्मीर की तरफ मांस मदिरा का सेवन अनेक गुना अधिक है। इसीलिये वहां अनैतिकता का साम्राज्य है। ऊंची जाति के कहलाने वाले अनेक जैन व ब्राह्मण भी मांस से परहेज नहीं करते व्यापार तो करते ही हैं। मन्दिरों में भी देवी देवताओं को मांस मछली का भोग लगाया जाता है। काश्मीर से जब हम हरिपर्वत, विचारनाग तथा वैष्णवों के प्रसिद्ध तीर्थ वीर भवानी को देखते हुए लौट रहे थे तो रास्ते में सारिका देवी का मन्दिर भी देखा।

वहा भक्त लोग अपनी मनोकामना पूरी करने के लिये देवी के सामने मास तथा मदिरा की भेट चढाते है। मास मछलियो के वहा ढेर लग जाते है।

इसका अर्थ यह नही कि वहा के सभी लोग मासभक्षी है। जिन्हे सत्सग मिला है और जो विवेकशील है, वे उससे बचे हुए है।

बधुओ! जब मानव का यह हाल है तो वह मानवता कैसे पाएगा। कई व्यक्ति कहते है—हम तो चीजे बनी-बनाई लेते है, फिर हिसा मे हमारा हाथ कैसे हुआ? बौद्धधर्मी मास का सेवन करते है तथा कहते है कि हम प्राणियो को मारते कहा है?

इन कुतर्कों मे कोई तथ्य नही है। प्रत्यक्ष मे हिंसा न करने पर भी जानबूझ कर हिसा से निर्मित वस्तुओ को खरीदने वाला भी हिसा का भागीदार बनेगा ही। जो वस्तुऐ बनाई जाती है वे उपयोग मे लेने वालो के लिये ही बनाई जाती है। खरीददार न होगा तो बनाने वाला वस्तुए बनाएगा ही क्यो?

हमारी बहने, एक चीटी भी उनके द्वारा मर जाए तो व्याकुल हो उठती है। किन्तु इनके शरीर पर जो रेशमी वस्त्र है उन वस्त्रो को बनाने के लिये लाखो कीडो को गरम पानी की कढाइयो में उबाला जाता है। मैसूर की मिलो मे जाकर कोई भी इसे सहज ही देख सकता है। क्या इस पर इनका ध्यान जाता हैं? साराश यही है कि प्रत्यक्ष रूप से प्राणिघात न करने पर भी हिंसक वस्तुओ का त्याग करके अहिसा को अपनाना चाहिये।

अहिंसाप्रेमियो को युद्धो का विरोध तो करना ही चाहिये, साथ ही उसके लिये कुछ सहना पडे तो उसके लिये भी तैयार रहना चाहिये। रूस मे क्वेकर नामक एक धर्म सम्प्रदाय है। रूस व जापान मे जब १९४० मे युद्ध हुआ, उस समय इस धर्म के व्यक्तियो को सेना मे भरती किया जाने लगा। पर उन्होने इकार कर दिया। फलस्वरूप अनेको को मृत्युदड सहना पडा, जो बच सके वे खेती करके निर्वाह करने लगे। मेघरथ राजा का उदाहरण आपको सभवत मालूम होगा जिन्होने एक कबूतर की रक्षा के लिये अपने शरीर का मास, काट-काट कर कबूतर के बदले तौल दिया था।

ऐसी धर्म-प्रियता क्या जन जन के हृदय मे मिल सकेगी? धर्म के लिये जब तक त्याग न किया जाय तब तक क्या धर्म चमक सकता है? एक सच्चे

अहिंसक को हिंसा का त्याग करना चाहिए। चाहे उसे अपना सर्वस्व भी त्यागना पड़े। शास्त्रों में कहा है—

एवं खु नाणिणो सारं, जं न हिंसइ किंच णं।
अहिंसा समयं चेव, एतावंत वियाणिया ॥

ज्ञान का सार अहिंसा में है। अहिंसा से ही शान्ति प्राप्त हो सकती है।

अभी मैंने कहा था कि हिंसा से विजय मिल सकती है पर शांति नहीं। पांडवों को विजय मिली पर शांति नहीं मिल सकी। हिंसापूर्ण महाभारत का अन्त बड़ा ही दुखद रहा था। इसी तरह हिरोशिमा का नाश हो जाने पर परिणाम सामने आया। जिस अणुबम ने हिरोशिमा का नाश किया, उसका निर्माणकर्ता डॉ० चार्ल्स निकोलस था। उसकी पत्नी मेरी कोमलहृदया तथा अहिंसक विचारों वाली थी। मेरी ने निकोलस से आग्रह किया कि इस भयंकर शोध को वह प्रकाश में न लाए और न ही सरकार को सौंपे। निकोलस माना नहीं, फलस्वरूप मेरी उससे अलग हो गई।

एक दिन ऐसा आया कि हिरोशिमा पर अणुबम गिरा और सारा शहर खंडहर जैसा सुनसान हो गया। महाविनाश हो गया और जो मनुष्य जैसे थे वैसे ही भूगर्भ में समा गए।

रेडियो पर यह सुनते ही निकोलस महान् पश्चात्ताप से पागल हो गया और वहाँ से भागकर हिरोशिमा की धधकती आग में फिरने लगा। पागलों की तरह वह जगह-जगह लिखता फिर रहा था।

"He shell go to hell, he shell go to hell"

गरम गरम राख के ढेर में पड़ कर उसके पांव जल रहे थे। कपड़े जल रहे थे। शरीर की चमड़ी काली पड़ने लग गई थी। पर जैसे कुछ खोज रहा हो इस तरह वह राख के ढेरों को बिखेर रहा था। एक जगह वह एक खंभे पर चढ़ गया और वहाँ भी लिख दिया—"He shell go to hell, who made hell of this beloved town of japan

महानुभावो! आप भली भांति समझ गए होंगे कि हिंसा का प्रत्याघात मानव पर कैसा होता है। निकोलस ने बम तो बना दिया पर लाखों मनुष्यों की मौत ने उसे पागल बना दिया। इसीलिये हमको प्रत्येक कार्य सोच विचार कर करना चाहिये।

बिना विचारे जो करे, सो पाछे पछताय ।
काम बिगारे आपनो, जग में होत हंसाय ॥
जग मे होत हसाय चित्त मे चैन न पावे ।
खान-पान सनमान, राग रंग मनहिं न भावे ॥
कह गिरधर कविराय, दुःख कछु टरत न हारे ।
खटकत है जिय माझ, कियो जो बिना विचारे ॥

हमे खाने मे, पहनने मे, बोलने मे, चलने मे, सभी कार्यो मे पहले ही सोच विचार कर कदम रखना चाहिये। हिसा प्रत्येक कार्य मे हो सकती है अत उसका बचाव करते रहने का ध्यान रखना आवश्यक है, अन्यथा कार्य हो जाने के बाद पश्चात्ताप के सिवाय कुछ भी हाथ नही आता। बाइबिल मे हिसा का निषेध किया गया है "thou shall not kill" तुम किसी की हत्या मत करो। ईसा ने तो यह भी कहा है कि अगर कोई तुम्हारे एक गाल पर चाँटा मार दे तब भी उसका बदला मत लो, बल्कि दूसरा गाल उसके सामने कर दो।

दुनिया के समस्त धर्मो ने अहिंसा को महत्व दिया है। हिसा को धर्म तो मानव ने स्वय मान लिया है। इस्लाम धर्म के उपासक मौलाना रूमी कहते है —

हजार कुजे इबादत, हजार गजे करम ।
हजार ताइद शबह हजार बेदारी ॥
हजार सिजदावहर सिजदा हजार नमाज ।
कबूल नेस्त गर ताइद व्याजारी ॥

अर्थात् मानव ! भले ही तू हजार लोगो मे बैठकर प्रार्थना करता हे, हजारो रुपये दान मे दे देता है, भक्ति तथा साधना करने मे हजारो राते पूरी कर देता है, और खुदा का गुण गाते-गाते भी हजारो राते व्यतीत करता है, हजारो सिजदे करता है और हर सिजदे के साथ भक्ति सहित नमाज भी पढता है, किन्तु इस सब के बाद भी अगर तू किसी प्राणी का घात करता है तो खुदा के दरबार मे तेरी एक भी इबादत स्वीकार नही होगी।

बधुओ ! कितने सुन्दर विचार है। हमे एक दूसरे को जीतने के लिये

हथियारो की आवश्यकता नही है। विश्वास तथा प्रेम की आवश्यकता है। अगर हमे मानवता प्राप्त करना है तो महान् आत्माओ का गुण-गान करने से काम नही चलेगा वरन् उनके गुणो को अपनाना पडेगा। रोटी की प्रशमा से पेट नही भरता, उसे खाने से भरता है। मिस्री की तारीफ करने से क्या किमी का मुह मीठा हो सकता है ? नही। इसी तरह मानवता की अच्छाइया वताने से वह नही मिलती। वह विश्वमैत्री, निस्वार्थता, तथा अहिंसा आदि गुणो को अपनाने से प्राप्त हो सकती है।

५ | मानवता तथा महानता

वन्धुओ ! पिछली बार बातचीत मे हमने विचार किया था कि मानव तथा मानवता मे क्या अन्तर है तथा मानवता किसप्रकार प्राप्त की जा सकती है ? आज हम इस विषय पर विचार करेंगे कि मानवता तथा महानता मे क्या अतर है तथा महानता मानव मे कैसे आती है ?

मनुष्य का जीवन दो भागो मे विभक्त होता है अन्तरग तथा बहिरग । वैसे अन्तरग जीवन का प्रभाव बहिरग जीवन पर पडता है । दोनो ही एक दूसरे के सहायक व पूरक होते है वैसा ही हमारा आचरण बन जाता है और जैसा आचरण होता है उसी के अनुसार विचार भी बनते है ।

फिर भी दोनो मे अन्तर है । मनुष्य के वहिरग जीवन का मानवता से सम्बन्ध होता है तथा अन्तरग जीवन से महानता का । हिंसा न करना, दान देना, परोपकार करना, अथवा विश्व के प्राणियो से मैत्रीभाव रखना आदि जो जो कार्य है मानवता का परिणाम होते है । तथा प्रार्थना, भक्ति. ईश्वर मे आस्था अतर्ज्ञान, आत्म-शुद्धि, इन्द्रिय-दमन आदि आदि जो गुण होते है वे महानता के मूल होते है । सद्गुणो को अपनाने से मानवता प्राप्त की जाती है और आन्तरिक गुण हृदय मे विद्यमान होने से महानता स्वय प्राप्त हो जाती है । इसे प्राप्त करने के लिये प्रयत्न नही करना पडता । प्रयत्न करने पर महानता मिलती भी नही है । मनुष्य स्वय महान् वन जाएगा अगर उसमे त्याग, दया, भक्ति, आस्था आदि का आविर्भाव होगा । आत्मा की सर्वोत्कृष्ट शक्तियो का विकास होने पर मनुष्य महान वन जाता है और ससार उसे खोज लेता है ।

वेदव्यास जी ने महाभारत के वनपर्व मे कहा है "जैसे सूर्य आकाश मे छिपकर नही रह सकता उसी प्रकार महापुरुष भी संसार मे छिपकर नही रह सकते।"

महान आत्माओ के दर्शन के लिए तो देवता भी तरसते है। भगवान् के बाद अगर दूसरा स्थान किसी को दिया जा सकता है तो सिर्फ महामानव को ही। क्योकि जैन धर्म के अनुसार देवभूमि की अपेक्षा मानवभूमि अत्यधिक महत्वपूर्ण है। यद्यपि ऐश्वर्य तथा भोगविलास आदि की दृष्टि से देवता मनुष्यो की अपेक्षा अधिक सुखी होते है फिर भी मानव उनसे महान है। यही बात मैं आपको समझाने जा रही हूँ।

अभी मैने बताया था देव भूमि की अपेक्षा मानव भूमि श्रेष्ठ है। देवभूमि यद्यपि अधिक मूल्यवान है सुन्दर चादी की तरह उज्ज्वल सगमरमर से बनी हुई है, रत्नमयी है। और मानवभूमि काली मिट्टी का खेत है, फिर भी दोनो मे जो अन्तर है, वह आपको बडा प्रभावित करेगा।

सगमरमर के फर्श पर आप चाहे कि कोई फसल बो दे तो क्या बो सकेंगे? उस फर्श पर बोरी भर गेहू डालकर छ महीने भी आप प्रतीक्षा करेंगे तो एक दाने मे भी अकुर नही आएगा, वे वैसे ही पडे रहेगे। किन्तु खेत की काली मिट्टी मे अगर आप फसल बोऐंगे तो वह कुछ समय मे ही लहलहा उठेगी, क्योकि वह भूमि उपजाऊ होती है।

देवताओ का जीवन सुखी व सुन्दर होता है किन्तु उपजाऊ नही होता। आत्मसिद्धि के बीज उनके हृदय मे अकुरित नही होते। इसके विपरीत मानव हृदय उपजाऊ होता है। आत्मसिद्धि के बीज उसमे ही उगते है। मानव, धर्म की उत्कृष्ट आराधना करके स्वर्गो की ऊँचाइयो को भी पार कर जाता है। किन्तु उन ऊँचाइयो को पार करने के लिये मानव को अपना मृत्यु लोक का जीवन भी महानता के शिखर तक पहुँचाना होगा। उन्नति के शिखर पर पहुँचने के लिए मानव को प्रत्येक कदम अत्यन्त विचारपूर्वक रखना पडेगा। तथा जीवन के प्रत्येक क्षण का सदुपयोग करना होगा। "सुवर्ण का प्रत्येक तार जिस तरह मूल्यवान् होता है उसी प्रकार समय का प्रत्येक क्षण कीमती होता है"—**मेसन**। समय पर थोडा सा प्रयत्न भी आगे की बहुत सी परेशानियो को बचा देता है—A stich in time save nine फ्रेकलिन ने भी कहा है—Do not squander time for that is the stuff life is made of अर्थात् वक्त को बरबाद मत करो क्योकि जीवन इसी से बना है।

मनुष्य की विचारधारायें दो प्रकार की होती है। कुछ तो यह सोचते है कि जीवन क्षण-भगुर है, न जाने कब प्राणपखेरु प्रयाण कर जाये, इसलिये जो कुछ भी करना हे प्रतिपल करते चलना चाहिये —

काल करे सो आज कर, आज करे सो अब।
पल मे परले होयगी, बहुरी करेगा कब ?

लेकिन कुछ ऐसे होते है जो सोचते है कि जिन्दगी तो अभी बहुत बाकी है। वृद्धावस्था मे कर लेगे, जो कुछ करना है। जल्दी क्या हे, अभी तो जीवन का आनन्द भोग ले। वे कहते भी है—

आज करे सो काल कर, काल करे सो परसो।
इतनी जल्दी क्यो करता रे ! अभी तो जीना बरसो।

कितनी गलत विचारधारा है। जिस समय को मनुष्य जीवन का आनन्द लेने का तथा अर्थ के उपार्जन का समय समझता हे,वह कितना क्षणभगुर है, यह वह नही समझ पाता। मानव आत्मसिद्धि को वृद्धावस्था का कार्य समझ कर बाद के लिए रख लेता है और वर्तमान मे अपने ऐश्वर्य का उपभोग कर फूला नही समाता। काल उसको कैसे कैसे शिक्षा देता है —

अमर मानकर निज जीवन को परभव हाय भुलाया।
चाँदी सोने के टुकडो मे फूला नहीं समाया।
देख मूढता यह मानव की उधर काल मुस्काया,
अगले पल ले चला यहाँ पर नाम निशान न पाया।

यह परम सत्य है कि जो समय का सदुपयोग करेगा व समय की इज्जत करेगा महान् बनेगा और ससार उसकी इज्जत करेगा। समय तो सभी का बीतता है किन्तु किसी का शुभ कृत्यो मे और किसी का अशुभ कृत्यो मे। मेरे कहने का अभिप्राय यही है कि महानता एक-एक क्षण को महान् समझने पर आती है।

बन्धुओ ! अब हमे यह देखना है कि महानता के उत्तु ग शिखर पर चढने के लिये कौन-कौन से सोपान है जिन पर चरण रखते हुए मानव महान बनता है ?

महानता के शिखर का सर्वप्रथम सोपान है सत्सगति। जीवन का निर्माण सत्सगति से होता है तथा पतन होता है कुसगति से। समाजशास्त्र हमे बताता है कि एक मनुष्य भेडियो की सगति से भेडिया बन जाता है और एक कुत्ता मानव की सगति से मानव जैसा समझदार।

सज्जनो की सगति से कोई महान बन जाए, इसमे आश्चर्य की कोई बात नही है। गदी नालियो का पानी गगा मे मिलने से पवित्र बन जाता है और पारस पत्थर की सगत से लोहा स्वर्ण। तुलसीदास ने कहा है—

सठ सुधरहिं सत सगति पाई।
पारस परस कुधातु सुहाई॥

महावीर भगवान के समागम मे अर्जुनमाली, गौतम बुद्ध की सगति से डाकू अगुलीमाल तथा श्रमण केशीकुमार की सगति से राजा प्रदेशी सुधर गए थे। चाणक्य ने भी कहा है—

सत्संगाद्भवति हि साधुता खलानाम्
—चाणक्य नीति १२/७

सत्सग से दुर्जन एव दुष्ट पुरुषो मे भी सज्जनता आ जाती है।

कोई भी व्यक्ति पडित कुल मे जन्म लेने से पडित नही बनता और क्षत्रिय कुल मे जन्म लेने से ही वीर नही बन जाता। यह सगति से ही होता है। मनुष्य जन्म से ही किसी गुण को साथ मे नहीं लाता। सगति के द्वारा ही उसमे सभी गुणो का समावेश होता है। श्री भर्तृहरि ने बहुत सुन्दर कहा है —

जाड्यंधियो हरति सिञ्चति वाचि सत्यम्,
मानोन्नतिं दिशति पापमपाकरोति।
चेत. प्रसादयति दिक्षु तनोति कीर्तिम्,
सत्संगतिः कथय किं न करोति पुंसाम्॥
—नीतिशतक २२

सत्सग बुद्धि की जडता को हरता है, वाणी मे सत्य का सचार करता है, सम्मान बढाता है, पाप को दूर करता है, चित्त को आनन्दित करता है, सदाचारी पुरुषो की सङ्गति मनुष्य का कौनसा उपकार नही करती ? व्यासदेव ने तो यहा तक कहा है—

तुलयामो लवेनापि न स्वर्गं नापुनर्भवम्।
भगवत्संगिसंगस्य मर्त्यानां किमु नाशिषः॥

यदि भगवान् मे आसक्त रहने वालो का क्षण भर भी सग प्राप्त हो तो उससे स्वर्ग तथा मोक्ष की तुलना ही नही कर सकते, फिर अन्य अन्य अभिलषित पदार्थों की तो बात ही क्या है ?

सज्जनो के साथ तो नरक भी स्वर्ग के सदृश लगता है। कहते

विष्णु ने महाराज बलि से प्रश्न किया। "तुम सज्जनो के साथ नरक मे जाना पसद करोगे या दुष्ट और मूर्खों के साथ स्वर्ग मे ?"

बलि ने जवाब दिया—मुझे तो सज्जनो के साथ नरक मे जाना ही पसद है।

विष्णु ने पूछा—क्यो।

बलि ने कहा—"जहा सज्जन है वही स्वर्ग है और जहा दुर्जन है वहा नरक है। दुर्जनो का निवास होने पर स्वर्ग, नरक बन जाता है तथा सज्जन नरक मे रहकर उसे ही स्वर्ग बना लेते है।" कौटिल्य ने भी कहा है—**"सत्सग स्वर्गवास."**। महापडित कौटिल्य ने यह भी कहा है कि सज्जन असज्जनो के साथ नही रहते तथा हस श्मशान मे नही रहता—

"सन्तोऽसत्सु न रमन्ते, हस प्रेतवने न रमते।"

सत्सगति को इतना महत्त्व क्यो दिया गया है ? इसके कई कारण है।

प्रथम तो यह कि सत जन शत्रु तथा मित्र दोनो के प्रति कृपालु रहते है। सत्पुरुष सदा दूसरो का हित ही करते है। कारणवश अगर हित न कर पाए तो अहित भी नही करते। उनसे यह भय नही रहता कि वे जब तक अनुकूल है तब तक तो शुभचिन्तक बने रहेगे और प्रतिकूल होते ही हानि पहुँचाएगे। सज्जन एक बार जिसे अपनाते है फिर यथासम्भव उसे त्यागते नही।

सत्सगति से दूसरा लाभ बौद्धिक विकास का होता है। श्रेष्ठ पुरुषो की सगति से अज्ञान तथा अहकार तो मिटते ही है, साथ ही कितनी अनुभव की बाते मालूम होती है। अनुभवी होने के कारण वे सच्चे मार्गदर्शक होते है। जीवन का निर्माण तथा महान बनाने का मूल सच्चा मार्ग-दर्शन ही होता है। उसके द्वारा बिगडता हुआ काम भी बन जाता है। कबीर के एक दोहे मे यही भाव है—

बहे-बहाये जात थे लोक वेद के साथ।
रास्ता मे सतगुरु मिले, दीपक दीन्हा हाथ॥

महापुरुष भले ही शिक्षा न दे, किन्तु उनके आचरण से ही महानता का सन्मार्ग दृष्टिगत हो जाता है। उनसे वार्तालाप भी उपदेश प्राप्त करना हो जाता है। महात्मा गाधी की सगति तथा उनके प्रभाव से ही अनेको की विचारधाराए बदल गई। महापुरुष भवसागर के प्रकाश-स्तभ होते है।

सत्सगति से तीसरा लाभ है मनुष्य के स्वभाव का सरकार। अनेक मनोव्याधिया सत्सग मे नष्ट हो जाती है। कहा भी है—'सता संगो हि भैषजम्'। सत्सगति से स्वभाव की मलिनता, कर्कशता, तथा उच्छृङ्खलता मिट जाती है तथा सरसता, उदारता, एव सहिष्णुता आदि सद्वृत्तियो का आविर्भाव होता है। साधु-सगति से मानस-मल नष्ट हो जाता है अत उन्हे तीर्थ कहते है 'तीर्थभूता हि साधवः'। तुलसीदासजी ने सत्सगति की महिमा वताते हुए कहा है—

मुद मंगलमय सन्त समाजू।
जिमि जग जगम तीरथ राजू॥

चौथी वात यह है कि सतसमागम के द्वारा निर्गुण भी गुणी वन जाता है। मैंने पहले वताया था वुद्धि का विकास होने से ही मनुष्य महान नही वनता। शिक्षा प्राप्त करने पर मनुष्य की तर्क शक्ति वढ जाती है पर आत्म-शक्ति नही वढती। अधिक से अधिक शिक्षित व्यक्ति भी नास्तिक देखे जाते है और जो आस्तिक होते हैं उन्हे ईश्वर मे आस्था नही रहती। फलस्वरूप उन्हे पापो से भय नही रहता, क्योकि वे पूर्वजन्म अथवा पुनर्जन्म को ही नही मानते। दूसरी ओर शिक्षा से रहित व्यक्ति भी हृदय से तथा भावो से महान वन जाते हैं। सत-समागम से उनकी ईश्वर व धर्म के प्रति आस्था रहती है। धर्म को वह अपने जीवन का दीपक मानते है, जिसके विना इस ससार रूपी अंधेरे मे प्रकाश नही हो सकता।

सत्सगति से पाचवा लाभ है, मन की असीम शाति। सत्पुरुष के प्रति भक्ति रखने से मन को वडा सतोष व आनन्द प्राप्त होता है। वडो की सगति मे रहने से लोक मे प्रतिष्ठा होती है। सवका विश्वास प्राप्त होता है। गिरधर कवि ने कहा है—

कह गिरधर कविराय, छांह मोटे की गहिये।
पत्ते सब झरि जांय, तऊ छाँहमाँ रहिये॥

कहावत है—"**हाथी मरे भी तो नौ लाख का**"। सज्जनो के साथ रहकर अधिक ग्रहण न भी करे तो भी उनके आचरण को अपना कर भी मनुष्य महान वन जाता है।

दूसरी ओर कुसग से लोक मे प्रतिष्ठा की हानि होती है, भले ही दुर्गुणो को न अपनाया जाय—

असत् संग के वास सो, गुन अवगुन है जात।
दूध पिवे कलवार घर, मदिरा सर्वहि वुझात।

इसके अलावा सदा दुर्जनो की सगति मे रहने से धीरे धीरे आत्मा पतित व वुद्धि भ्रष्ट हो ही जाती है। कहा जाता है—**"रसरी आवत जात तें सिल पर परत निशान"**। मनुष्य हृदय तो पत्थर की अपेक्षा वहुत कोमल होता है, अत उसपर असर होना स्वाभाविक ही है। तुलसीदासजी ने कहा है **"कौन कुसंगति पाय नसाई"**।

वहुत से दुर्जन मिलकर भी—आत्मोद्धार का पथ प्राप्त नही कर सकते। जैसे सौ अधे मिलकर भी देखने मे समर्थ नही हो सकते—**"शतमप्यन्धाना न पश्यति"**। इसलिये कहा जाता है कि दुष्टो के साथ रहने की अपेक्षा अकेला रहना अधिक उत्तम है —

It is bettei to be alone then in a bad Company

— **इमरसन**

इसी कारण कहा है कि मनुष्य को महानता प्राप्त करने के लिये जो वाते आवश्यक है उनमे सर्वप्रथम सत्सगति आवश्यक है। उसके बाद श्रद्धा आती है। जवतक मनुष्य के हृदय मे से ईश्वर तथा धर्म के प्रति श्रद्धा नही होगी उसके हृदय से हिसा, द्वेप, असत्य, छल अथवा कपट आदि दुर्गुण नष्ट नही होगे। ज्यो ही धर्म रूपी दीपक मनुष्य के हृदय मे प्रज्वलित होगा तभी ये सारे दोप तुरन्त ही लुप्त हो जाएंगे।

हृदय मे धर्म की ज्योति प्रकटाने के लिये श्रद्धा रूपी तेल का होना आवश्यक है। श्रद्धा जगत् की सारी शक्तियो मे सर्वश्रेष्ठ शक्ति है। श्रद्धा के समक्ष सारी सिद्धिया आकर नतमस्तक होती है। किसी ने श्रद्धा के विपय मे वडा सुन्दर कहा है—

Faith laughs at the shaking of the spear, unbelief trambles at shaking of leef

अर्थात् श्रद्धावान् पुरुप अपने सामने शेर होने पर भी निर्भयतापूर्वक मुस्कराता रहता है। इसके विपरीत, श्रद्धा हीन व्यक्ति सामने वृक्ष का एक पत्ता हिल जाने पर भी डर के मारे कॉपने लग जाता है।

शास्त्रो मे कहा गया है—**"सद्धा परम दुल्लहा"** श्रद्धा वहुत दुर्लभ हे। फिर भी हमे जगत् मे महान वनना है तो श्रद्धा प्राप्त करनी ही पडेगी।

मैने अभी अभी वताया था कि श्रद्धावान् पुरुप को ससार मे किसी से भी भय नही लगता। भगवान् महावीर को भयकर विपधर चडकौशिक सर्प ने डस लिया था। वह इतना विपैला था कि उसकी फूँक से खडे के खडे

वृक्ष भी जल जाते थे। फिर भी भगवान् महावीर की प्रगाढ श्रद्धा के कारण चण्डकौशिक का जहर दूध बन कर निकल गया। मीरावाई ने भगवान् मे विश्वास तथा श्रद्धा के वल पर ही हलाहल विष को पी लिया था। प्रह्लाद की श्रद्धा क्या साधारण थी? वैदिक साहित्य वतलाता है कि उस मासूम वालक को तो उसके पिता हिरण्यकश्यप ने अनेक वार मारने की कोशिश की। पर्वतपर से गिराया, आग मे जलाया और खभे से वाँधकर स्वय तलवार से उसे मारने भेजा। किन्तु प्रह्लाद का श्रद्धा पूरित हृदय डिगा नही और स्वय विष्णु ने नृसिह अवतार धारण कर उसकी रक्षा की। सेठ सुदर्शन को शूली पर चढाया गया, पर श्रद्धा के कारण ही सूली सिहासन वन गई। सती सुभद्रा श्रद्धा के कारण ही कुए से चलनी द्वारा पानी खीच सकी। क्या आज इन वहिनो मे से किसी मे मन वचन तथा काय से धर्म पर ऐसी श्रद्धा है कि वह सुभद्रा सती की तरह निर्विकल्प होकर अपनी परीक्षा दे सके? क्या कोई वहिन ऐसी है जो सती सीता की तरह अपने को अग्नि मे झौक सके?

वहिनो! यह मत सोचो कि वह जमाना चला गया। जवकि आग के पानी वन जाने का, चलनी मे पानी मे पानी खिच जाने का, जहर का अमृत वन जाने का तथा दैवी सहायता प्राप्त होने का चमत्कार हुआ करता था। आज भी ऐसे चमत्कार होते है, मैने स्वय अनुभव किया है।

दीक्षा से पूर्व, गृहस्थ जीवन मे मेरे माता पिता का परिवार कट्टर सनातन धर्मी था। जैनधर्म से उनका परिचय ही नही था। किन्तु एक वार एक जैन मुनि हमारे घर पर आहार के लिये पधारे, उस दिन उनका चार महीने की तपस्या के वाद पारणा का दिन था। मेरे पिताजी वडे श्रद्धालु व्यक्ति थे, उन्होने पूर्ण आनन्दातिरेक से मुनि को आहार दिया और मुनि लेकर वापिस लौटे, पर उसी समय घर भर चमत्कृत हो गया। यह देखकर कि मुनि श्री के आहार लेते ही रसोई घर मे केसर ही केसर वरस गई। उसी दिन से मेरे वडे पिताजी जैन धर्म के अनुयायी वन गए। दूसरा उदाहरण देखिए।

जिस समय वडे पिताजी जैन वने, मेरे पिताजी (**श्री मांगीलालजी म०**) उस समय किशनगढ रहते थे। जब वे इन्दौर मे वडे पिताजी से मिलने आए तो उनके धर्म परिवर्तन कर लेने की वात सुनकर आगवबूला हो गए। किन्तु वडे पिताजी ने वडे ही प्रयत्न तथा शाति से उन्हे जैन धर्म की तथा जैन सतो की विशेषताएं वताई। पर मेरे पिताजी को पूरा सन्तोष नही हुआ। वे

स्वय कुछ चमत्कार देखना चाहते थे, अत सन्तो के सम्पर्क मे आते रहे तथा नवकार मन्त्र की साधना करते रहे ! श्रद्धा उनकी अपने ध्येय पर अटूट होती थी। साधना के समय अपने शरीर की भी सुधि नही रखते थे।

एक दिन उन्होने अपने रुई के गोदाम मे आग लगाली और स्वय गोदाम के बीच मे बैठकर ध्यान मग्न हो गए। गाव मे हो-हल्ला मच गया। लोग दौडे पर देखते क्या है रुई का गोदाम जल रहा है पर पिताजी से पाँच-पाँच गज तक की दूरी तक रुई सुरक्षित है। उसमे आग की चिनगारी भी नही प्रवेश करती। ध्यान समाप्त होने पर पिताजी भी प्रभावित हुए और चमत्कृत हुए और उसी दिन से उनका जैन-धर्म पर पूरा विश्वास होगया।

हम लोग जब काश्मीर की यात्रा मे थे, एक बार रामवन से मगरकोट जा रहे थे। मुझे बडा तेज बुखार था। रास्ता पहाडी तथा चक्करदार होने के कारण काफी कठिन था। थोडी थोडी देर मे ही मोड आ रहे थे। उसी समय एक मौड पर हम लोग चल रहे थे कि सामने से आती हुई बस अचानक मुझसे करीब दो इच की दूरी पर रुक गई। अत्यन्त तेज बुखार व कडी चढाई के कारण मेरे मन मे व जबान पर नमस्कार मत्र का उच्चारण था ही।

मोटर का ड्राइवर उतर कर बडे हैरत से अपनी बस को और हमे देखने लगा। मैंने पूछा—भाई बात क्या है ? वह बोला—महाराजजी ! रास्ते मे रोडा नही है और मेरी बस मे भी कोई खराबी नही हुई है। फिर ब्रेक लगाए बिना ही मोटर आपके पास आकर कैसे रुक गई ? महान् आश्चर्य की बात है कि मोटर बिना ब्रेक के ही खडी हो गई है ! यह क्या चमत्कार है ?

सिर्फ यह कहकर कि –"भगवान् का प्रताप है' हम लोग वहाँ से चल दिये। ड्राइवर ने भी अपनी बस हवा की तरह चला दी।

तो बहनो ! ऐसी और भी घटनाओ का मैने अनुभव किया है। अभी तो मैं सिर्फ यही बता रही हूँ कि दृढ श्रद्धा से असभव भी सभव हो जाता है और अपने जमाने मे भी ऐसा होता है। चाहिये दृढ तथा उत्कट श्रद्धा। श्रद्धा का आविर्भाव ही महानता का मार्ग है। महात्मा गाधी ने कहा है "श्रद्धा का अर्थ है आत्म-विश्वास और आत्म-विश्वास का अर्थ है ईश्वर पर विश्वास"। स्वेट मार्डेन ने भी कहा है 'मनोवाछित पदार्थ का मूल श्रद्धा ही हो सकती है"। महाभारत मे कहा गया है—

'जहाति पाप श्रद्धावान् सर्पो जीर्णमिव त्वचम्'

श्रद्धाशील व्यक्ति पाप का इस प्रकार त्याग कर देता है, जैसे कि सर्प अपनी जीर्ण शीर्ण केचुली का परित्याग कर देता है। पापो का त्याग ही महानता को ग्रहण करने का मार्ग है।

महानता का चौथा लक्षण है अनासक्त रहना। वही व्यक्ति महान् बन सकता है, जो ससार मे रहकर भी ससार से अलिप्त रहे। जिस प्रकार कमल तालाव मे रहकर भी कीचड मे अलिप्त रहता है, इसी प्रकार मानव को समस्त सासारिक वैभव से अन्तस से दूर रहना चाहिये। किसी शायर ने कितना सुन्दर कहा है—

दुनिया मे हूँ, दुनिया का तलबगार नहीं हूँ।
बाजार मे गुजरा हूँ, खरीददार नहीं हूं॥

अनासक्त व्यक्ति ससार को रगमच समझता है तथा अपने आपको अभिनय करने वाला एक अभिनेता। किसी अभिनेता को चाहे राजा का पार्ट दिया जाय अथवा भिखारी का। दोनो पार्टो के करते समय न उसे दुख होता है और न सुख। सिर्फ अभिनय समझ कर वह अपना कार्य सुन्दर ढग से करता जाता है। अभिनय किसी का भी हो, करते समय वह अपने असली स्वरूप को नही भूलता।

श्री कृष्ण ने गीता मे अर्जुन से यही कहा है— हे अर्जुन! तू चित्त को मुझ मे रखकर युद्ध के लिये तत्पर हो। युद्ध का खेल मेरी साक्षी मे हो रहा है। निष्काम होकर अपने आपको सिर्फ निमित्त मान।

इस प्रकार अनासक्ति को समझकर जो मानव अपने प्रत्येक पार्ट को अदा कर सकता है वही जीवन के लक्ष्य को समझ सकता है। ससार मे उसे दुख का अनुभव हो या सुख का, चाहे गरीब हो, चाहे अमीर हो, सर्व परिस्थितियो मे वह यह मानता रहे कि सासारिक वस्तुओ से मुझे दुख अथवा सुख नही होता। मेरी आत्मा अलग है, भौतिक दुख अथवा सुख इसका कुछ भी नही बिगाड सकते। ऐसा व्यक्ति ही आत्मानद का अनुभव करता है। आनन्द बाहर से नही आता, वह अन्दर मे प्राप्त होता है। महान व्यक्ति कभी भी प्रतिकूल परिस्थिति मे दुख नही मानता और न ही सासारिक ऐश्वर्य पाकर गर्व करता है। अपने मन के लिए वह यही कामना सदा करता है —

होकर सुख मे मग्न न फूले, दुख मे कभी न घबरावे।
इष्ट वियोग अनिष्ट योग मे, सहनशीलता दिखलावे॥

मानव प्रवृत्ति करता हुआ भी अपने स्वरूप को न भूले। न वह सुखो का दास बने, न दुखो से भयभीत हो। तभी वह ससार मे निर्लिप्त रह सकता है। जीवन मे तो प्रत्येक सयोग के अन्दर वियोग की पीडा छिपी होती है और हर हसी का परिणाम अन्त मे रोना ही होता है। इसलिये कहा भी है—

Life is a pendulum between tears and smiles

यह वास्तविकता नही है कि सुखो की घटी बजी तो हसने लगे और दुखो का भोपू बजा तो रोने लग गए। जब मनुष्य यह जान ले कि "मै क्या हूँ" तो फिर यह सासारिक सुख-दुख उसे प्रभावित नही करेगे। और वह दुनियाँ को चित्रपट समझ कर उसमे आने वाले दृश्यो को निर्विकल्प भाव से देखेगा। एक शायर ने कहा है कि इस दुनिया को बस तमाशा समझ कर देखते जाओ—

ये दुनिया इक तमाशा है, समझकर देखते जाओ।
जमाना रग बदलता है, मगर क्यो कर बदलना है।
सुलझकर तजुर्बे का, नतीजा देखते जाओ।
बनाने पर बिगडती है, बिगड कर फिर सुधरती है।
ये बनने और बिगडने का नतीजा देखते जाओ।

जब तक मनुष्य को ससार से अपने को अलग समझने का ज्ञान नही है, तब तक उसकी ससार मे आसक्ति रहती है। वह स्वजन-परिजन वैभव आदि को अपना समझता है और अन्त तक यह मोह छूटता नही। इस विषय मे एक बडा शिक्षाप्रद उदाहरण है।

एक राजा को शिकार खेलते हुए जगल मे रात हो गई। रात व्यतीत करने के लिये राजा ने एक महात्मा का आश्रय लिया। महात्मा ने स्वयं भूखा रह कर राजा को खिलाया तथा स्वय ठिठुरकर अपने बिस्तर पर उसे सुलाया।

राजा ने कृतज्ञतावश सुबह महात्माजी को अपने राज्य मे चलने के लिये कहा। महात्मा जी ने सोचा कि सयोग से राजा को सत्सग का लाभ व शिक्षा देने का अवसर मिला है तो क्यो खोया जाय। वे राजा के साथ चल दिए।

राजा ने अपना आधा राज्य महात्मा जी को दे दिया। समय बीतने लगा। चार-पाच वर्ष बाद एक दिन, जब दोनो साथ ही भोजन कर रहे थे,

राजा ने अभिमानवश कह दिया—महाराज ! एक दिन आप फकीर थे। मैंने ही आपको अपने जैसा राजा वना लिया है। अव मुझमे तथा आपमे कोई अन्तर नही रहा न ?

महात्माजी ने कहा—राजन् ! आपने मेरे लिये वहुत अच्छा किया है। पर यह मत कहो कि आपमे और मुझमे कोई अतर नही है।

राजा ने आश्चर्य से कहा—वाह ! अन्तर क्या है ! मैंने तो पूरी ईमानदारी से आपको अपना जितना ही राज्य का हिस्सा दिया है। क्या आपको कोई सदेह है ?

महात्माजी ने कुछ उत्तर नही दिया और उमी वक्त अन्दर जाकर अपनी पुरानी गुदडी और कमडल लेकर आ गए और राजा से वोले—

राजन् ! चलो इन सांसारिक पदार्थों मे क्या रखा है। हम दोनो जंगल मे झोपडी मे चल कर रहें और आत्मानन्द प्राप्त करे।

"राजा ने कहा—महाराज ! यह कैसे हो सकता है ? अभी राजकुमार वच्चा है। राज्य सभाल नही सकता। मैं इस समय राज्य छोड कर कैसे जा सकता हू ?"

फकीर ने कहा—"राजन् ! तो फिर मैं जाता हू। तुम छोड नही सकते और मै इसी क्षण सव राज-पाट छोडे जा रहा हू। तुममे और मुझमे यही अन्तर है। तुम ऐश्वर्य व सासारिक सुख मे आसक्त हो, मै नही हू।

तसव्वुर सारे आलम को, जा तेरा आसना करलूँ।
मेरा हक है, मै दो सिजदे जहा चाहूँ वहा कर लूँ॥

वधुओ ! आपने समझ लिया होगा कि महात्मा जी मे क्या महानता थी ? यही कि उनमे आसक्ति नही थी।

महान वनने के लिये चौथी आवश्यकता है लक्ष्य प्राप्ति के लिये तन्मयता। मन की एकाग्रता होने पर ही किमी लक्ष्य को प्राप्त किया जा सकता है।

जो मनुष्य यह समझ लेगा कि मैं ससार से भिन्न हूँ, मेरी आत्मा अजर, अमर है, वही अजर अमर आत्मा को इन भव-वधनो से मुक्त करने का सही मार्ग खोजेगा और सही मार्ग पा लेने पर उसपर तन्मयता से चलने का प्रयत्न करेगा।

अगर मनुष्य अपना लक्ष्य तो वनाए कुछ और प्रयत्न करे कुछ तो वह

कभी भी सिद्धि की प्राप्ति नही कर सकता। आम खाना है तो आम की गुठली ही जमीन मे उगानी होगी। ससार से आत्मा को मुक्त करना है तो ससार से आसक्ति हटा कर तन्मयतापूर्वक धर्म की आराधना करनी होगी। अपने साध्य के अनुसार साधन जुटाने पडेगे। ऐसा महान व्यक्ति ही अपने लक्ष्य को पा सकेगा।

जब हम इस ससार की वास्तविकता पर विचार करते है तो हमारा मन यही निर्णय देता है कि जीवन का लक्ष्य सदा के लिए जीवन से मुक्ति पा लेना ही है। इस निर्णय के बाद हमारा सारा प्रयत्न, सारी साधना इसी तरह की होनी चाहिये कि हम इस जन्म-मरण के चक्र से स्वय को बचाले तथा मोक्ष की प्राप्ति करे। क्योकि उस अवस्था के अलावा शाश्वत शाति और कही नही है। मोक्ष मार्ग के साधन है सम्यग्दर्शन, सम्यकज्ञान तथा सम्यक्चारित्र। तत्वार्थ सूत्र मे कहा है—

"सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः"

साधक को मिथ्या वातावरण से अपने को बचाकर सम्यग्दर्शन, ज्ञान तथा चारित्र की प्राप्ति करनी चाहिये।

मुक्ति रूपी कभी समाप्त न होने वाली शाँति को पाने के लिए ही मानव-शरीर मिला है। अगर मनुष्य, यह शरीर पाकर भी उस ओर नही चला तो जीवन व्यर्थ चला जाएगा। आज का मनुष्य कहता है कुछ, और करता है कुछ। एक विद्यार्थी परीक्षा मे पास होना चाहता है पर अध्ययन करने के समय जासूसी उपन्यास पढता है। वह कैसे उत्तीर्ण होगा ?

हम सभी मोक्ष पाना चाहते है किन्तु उसके अनुसार एकाग्र होकर प्रयत्न नही कर सकते तो मोक्ष कैसे प्राप्त होगा ? सामायिक करने बैठते है पर मन दुकान पर रहता है। सुबह-सुबह प्रार्थना जबान से करते है पर मन रसोई मे बनती हुई चाय पर टिका रहता है। उपवास करते है पर किसी ने जरा सा कुछ कह दिया तो आगबबूला हो उठते है। अनेक व्यक्ति साधना पथ पर तनिक सी विपरीत स्थिति आई, किसी प्रकार का सकट आया कि तुरन्त सब छोड छाड कर चल देते है। फिर बताइये सिद्धि कैसे प्राप्त होगी। निश्चय जरा सा टूटा कि फिर टूट ही जाता है। यह मन रूपी घोडा भी जो छूटा तो बस छूट ही जाता है, थमता नही।

हम प्राय देखते है कि पूर्ण ज्ञान प्राप्त होने पर भी, तथा सर्व साधन सुलभ होने पर भी मनुष्य अपनी इच्छानुसार कार्य नही कर पाता। उत्तम

साधनो के होते हुए भी वह अध पतन की ओर बढता चला जाता है। शरीर तन्दुरुस्त है, आँखो मे ज्योति है, फिर भी व्यक्ति कूए मे जाकर गिर पड़े तो किसको दोप दिया जायगा। उसकी एक कमी को। वह कमी होती है, एकाग्रता अथवा तन्मयता का न होना।

अनेक 'जिन के उपासक, जीवन व जगत् के रहस्य को समझने वाले तथा पौद्गलिक सबधो की नश्वरता को जानने वाले भी मोह गर्त से गिर जाते है। उनकी आत्मा विकारो के दलदल मे धस ही जाती है। वह क्यो बन्धुओ ? सिर्फ मन की कमजोरी व एकाग्रता के अभाव के कारण है। मन की एकाग्रता के विना सफलता सभव ही नही है मन की एकाग्रता वह शक्ति हे, जो कि मनुष्य की सारी शक्तियो को समेटकर उनसे कार्य लेती हे। एकाग्रता न होने पर शक्तियाँ विखर जाती है। विद्वान् 'मार्ले' ने कहा है—

"ससार के प्रत्येक कार्य मे विजय पाने के लिये एकाग्रचित्त होना आवश्यक है। जो लोग चित्त को चारो ओर विखेरकर काम करते हे उन्हे सैकडो वर्षों तक भी सफलता नही प्राप्त हो सकती है।"

एक व्यक्ति विद्वान् वनना चाहता हे किन्तु थोडे दिन हिन्दी पढकर छोड देता है, थोडे दिन अग्रेजी, थोडे दिन सस्कृत, थोडे दिन प्राकृत। फिर आप वताइये कि वह किस विषय मे पडित वनेगा ? किसी मे भी नही। अस्थिर-चित्त वाला व्यक्ति कोई काम तन्मयतापूर्वक नही कर सकता और महान् वनने की उसकी कामना अतल के गर्त मे समा जाती है—

एकै साधै सब सधै, सब साधे सब जाय।
जो गहि लेवै मूल को, फूले फले अघाय॥

एक भक्त तन्मयता पूर्वक ही उपासना करके भगवत्स्वरूप को प्राप्त कर सकता हे। यदि हृदय मे तन्मयता है तो साधना मे स्थान आदि भी वाधक नही वन सकते। एक वार पजावकेशरी श्री रणजीतसिंहजी अन्दर बैठे हुए जप कर रहे थे और उनके मित्र अमुद्दीन वाहर वैठकर माला फेर रहे थे। रणजीतसिंहजी ने मित्र से पूछा—वन्धु, वाहर वैठकर माला फेरना उत्तम हे या अन्दर बैठकर ?

अमउद्दीन ने कहा - माला फेरने के दो उद्देश्य होते है - सद्‌गुणो को ग्रहण करना तथा दुर्गुणो को छोडना। आप अन्दर वैठकर सद्‌गुणो को ग्रहण

कर रहे है तो मै बाहर बैठकर दुर्गुणो को छोड रहा हूँ। मेरा मन यहाँ भी एकाग्र है।

भाइयो! कहा जाता है कि रेडियम विश्व की सबसे कीमती धातु है। उसके एक तोले का मूल्य चार करोड रुपये तक आँका जाता है। अगर वह असली होता है तो उसका एक कण भी चमकता है पर असली न हो तो कई तोले इकट्ठा करने पर भी चमक नही आती।

बस यही बात तन्मयता पूर्वक की गई सच्ची साधना अथवा भक्ति मे होती है। अन्यथा सिर्फ दिखावा होता है। महान व्यक्ति अन्दर तथा बाहर दोनो तरफ एक सरीखा होता है। महान् आत्माएं अपने शुभ लक्ष्य को ही एकाग्रता पूर्वक पाने का प्रयत्न करती हे। उनका मन यत्र-तत्र नही जाता। इसके विपरीत जिसका मन इधर-उधर भटकता रहता हे, वह व्यक्ति कभी अपने जीवन को उन्नति के शिखर पर नही ले जा सकता और महान नही बना सकता।

महान् व्यक्ति ही साधना कर सकता है। उसके सामने हजार व्यक्ति हजार तरह के प्रलोभन लेकर आ जाय, तब भी वह विचलित नही होता। उसका मन एकाग्रता पूर्वक अपने एक ही लक्ष्य पर टिका रहता है। वह सोचता है कि सागर मे तो हजार किश्तिया है किन्तु पार उतरने के लिये तो एक ही काम आयगी, जिसमे वह बैठेगा।

ऐसे व्यक्ति, जिनसे साधना अथवा भक्ति तो होती नही किन्तु वे कभी मदिर मे, कभी उपासरे मे, कभी गुरुद्वारे मे कभी मठ मे तथा कभी मस्जिद मे जाते है तथा ढूढते है कि किस धर्म मे चमत्कार है। अथवा बहाना बनाते हैं कि हमारे लिये सब धर्म समान है। वे किसी धर्म मे पूरा विश्वास नही करते और किसी को भी हृदय मे पूर्ण निष्ठापूर्वक स्थापित नही करते। उनकी दशा ऐसे यात्री की तरह होती है जो समुद्र मे पडी हुई प्रत्येक किश्ती मे बैठता है फिर उतरता है। परिणाम यह होता है कि वह कभी सागर पार नही कर पाता।

हमे सभी धर्मों का आदर करना चाहिये। सभी महापुरुषो का सम्मान करना चाहिये। किन्तु आलम्बन का जहाँ सवाल आता है वहा तो एक ही आश्रय लेना चाहिये। यही महान पुरुष का कर्त्तव्य है। सज्जनो! समय काफी हो चुका है। आप सभी ने समझ लिया होगा कि मानवता तथा महानता मे क्या अतर है तथा महानता के लिये कौन-कौन सी बाते अपेक्षित है।

● ●

६ | भक्ति का माहात्म्य

भक्ति के माधुर्य को सिर्फ भक्त ही जान सकता है। वही उस परम अमृत का आस्वादन कर सकता है। उससे मन कितने आनन्द का अनुभव करता है तथा कितना संतोष प्राप्त करता है, यह बोलकर अथवा लिखकर किसी भी प्रकार समझाया नही जा सकता।

हम प्रकृति मे सर्वत्र प्रेम का विकास देखते है। मानव समाज मे कुछ भी सुन्दर तथा महान् है, वह प्रेम का वास्तविक रूप है और जो कुछ अरुचिकर तथा त्याज्य है वह प्रेम के विकृत रूप का परिचायक है। आग वही होती है पर उसका सही उपयोग होने पर वह हमारे लिये जीवन-दायिनी होती है तथा दुरुपयोग होने पर जीवन का नाश करने वाली। भोजन मे सहायक होकर वह शरीर का रक्षण करती है, तथा आत्महत्या के लिये प्रयोग करने पर शरीर को भस्म कर देती है।

ठीक यही कार्य प्रेम का भी है। धन, सम्पत्ति, मित्र परिवार आदि सासारिक वस्तुओ तथा प्राणियो से अत्यन्त प्रेम होना और उनमे आसक्त रहना भवभ्रमण को बढाना है और भगवान् के प्रति प्रेम होना मुक्ति के मार्ग पर बढना है। भावनाओ के अनुसार ही प्रेम का नामकरण भी हो गया है। सासारिक वस्तुओ मे जो प्रेम तथा आसक्ति होती है उसे राग कहते हैं तथा भगवान् के प्रति जो प्रेम होता है उसे भक्ति।

जब तक आत्मा का ससार के पदार्थों से रागात्मक संबंध रहता है, वह पतन की ओर उन्मुख होती जाती है। राग, अर्थात् मोह स्वय एक बधन है। जब तक इस बधन से आत्मा का छुटकारा नही होता, तब तक मन वीतरागता की ओर आकर्षित नही होता। भौतिक पदार्थों का आकर्षण

जब तक मन को खीचता रहता है तब तक मन मे भक्ति के अकुर नही फूट सकते।

भक्ति का अर्थ है भाव की विशुद्धि से युक्त प्रेम। जब तक प्रेम मे भावो की निर्मलता नही आ जाती तब तक वह अनुराग (प्रेम) भक्ति नही कहला सकता। परमात्मा, सत तथा शास्त्र आदि मे जो विशुद्ध प्रेम होता है, वही भक्ति कहलाने का अधिकारी होता है।

जैन भक्ति का लक्ष्य ऐहिक नही है, किन्तु आत्मशुद्धि है। आत्मा जब परमात्मा बनना चाहता है तो उसका प्रथम सोपान भक्ति होता है। भक्ति आत्मा को परमात्मा बनाने के लिये एक सरल मार्ग है, साधन है। आचार्य मानतुग ने भक्तामर स्तोत्र मे कहा है—

नात्यद्भुत भुवनभूषण ! भूतनाथ !
भूतैर्गुणैर्भुवि भवन्तमभिष्टुवन्तः।
तुल्या भवन्ति भवतो ननु तेन किं वा,
भूत्याश्रितं य इह नात्मसमं करोति।

अर्थात् हे जगत् के भूषण ! जगत् के जीवो के नाथ ! आपके गुणो के द्वारा आपका स्तवन करते हुए भक्त यदि आपके समान हो जाय तो कोई आश्चर्य नही है। ऐसा तो होना ही चाहिये, क्योकि स्वामी का यह कर्त्तव्य है कि वह अपने आश्रित को अपने समान बना ले।

बधुओ ! आपके मन मे सभवत प्रश्न उठ खडा होगा कि परमात्मा तो वीतराग है, उसके आत्मा मे राग द्वेष नही है, तब वह किस प्रकार भक्तो पर अनुग्रह तथा दुष्टो का निग्रह करेगा ?

हमारे जैन शास्त्रो मे ही इस प्रश्न का बडे सुन्दर ढग से उत्तर दिया गया है। आचार्य समन्तभद्र ने कहा है —

न पूजयार्थस्त्वयि वीतरागे, न निन्दया नाथ विवान्तवैरे,
तथापि ते पुण्यगुणस्मृतिर्न पुनातु चेतो दुरिताजनेभ्यः।

अर्थात् हे नाथ ! आप तो वीतराग है। आपको अपनी पूजा से कोई प्रयोजन नही है। और न आप निन्दा करने वालो से नाराज। वैर को तो आप त्याग चुके है। तो भी यह निश्चित है कि आपके पवित्र गुणो का स्मरण ही हमारे हृदय को पाप रूपी कलको से हटाकर पवित्र बनाता है।

तात्पर्य इसका यही है कि परमात्मा की भक्ति के निमित्त से आत्मा मे जो शुभोपयोग उत्पन्न होता है, उसी से भक्त के पाप का क्षय तथा पुण्य

का आविर्भाव होता है। इसे एकलव्य के उदाहरण से आप स्पष्ट समझ जाएँगे।

एकलव्य द्रोणाचार्य की मूर्ति से सीखकर धनुर्विद्या में अजोड़ बन गया। क्या उस मूर्ति ने एकलव्य को स्वयं कुछ सिखाया था? नहीं, सिर्फ प्रगाढ़ श्रद्धा अथवा भक्ति पूर्वक उनकी महान् धनुर्विद्या के स्मरण मात्र से ही वह अभ्यास करता रहा तथा सफलता प्राप्त कर सका।

भक्ति करने वाला अपने आराध्य से अगर फल की याचना करे तो उसकी भक्ति भी यथार्थ भक्ति नहीं कहलाती। जैनाचार्यों ने भक्ति को एक निष्काम कर्म माना है। अगर उसके बदले में मनुष्य में फलासक्ति उत्पन्न हो जाए तो भक्ति कलुषित हो जाती है। सच्चा भक्त अपनी भक्ति के प्रतिफल में सिर्फ यह कामना करता है कि जब तक उसे मुक्ति की प्राप्ति न हो तब तक प्रत्येक मानव-जन्म में उसे भगवद् भक्ति मिलती रहे। भक्त ने कहा है —

जाचूँ नहीं सुर-वास पुनि नरराज,
परिजन साथ जी।
'बुध' जाचहूँ तुम भक्ति भव भव,
दीजिये शिवनाथजी।

अर्थात् हे मुक्ति के स्वामी! मुझे न तो स्वर्ग में निवास करने की चाह है और न ही मृत्यु लोक का राज्य प्राप्त करने की आकांक्षा। मुझे तो आप सिर्फ इतना दीजिये कि जब तक जन्म-मरण का चक्र चलता रहे मेरे हृदय में बस आपकी भक्ति रहे।

सच्चा भक्त भगवान् के सिवाय और किसी से भी अपना संबन्ध रखना नहीं चाहता। वह तो अपने मन को, इन्द्रियों को और शरीर के अन्य सभी अंगों को भगवद्भक्ति में ही लगाए रखना चाहता है और इसी में अपने शरीर की सार्थकता मानता है। भक्त सूरदास ने बड़े मार्मिक शब्दों में कहा है :—

सोइ रसना जो हरि गुण गावै।
नैनन की छवि जहै चतुरता ज्यों मकरंद मुकुन्दहि ध्यावै।
निर्मल चित तौ सोइ साचौ कृष्ण बिना जिय और न भावै।
स्रवननि की जु यहि अधिकाई सुनि रस कथा सुधारस प्यावै।
कर तेई जे स्यामहिं सेवैं चरननि चलि वृन्दावन जावैं।
सूरदास जैये बलि ताके जो जो हरि जू सौं प्रीति बढावैं।

यानी जिह्वा वही है जो हरि के गुणो का गान करे, और नयन वे है जो भ्रमर की तरह अपने आराध्य के दर्शन के लिए प्यासे रहे। निर्मल हृदय वही कहलाएगा जिसमे प्रभु के अलावा और कोई न बसा हुआ हो। कर्ण वही जो भगवान् की कथा के अलावा और कुछ भी सुनने की अकाक्षा न रखते हो। इसी प्रकार जो हाथ कृष्ण की सेवा करे और पैर चलकर उनके दर्शन करने जावे बस वे ही सच्चे अङ्ग कहलाने योग्य है।

वास्तव मे इतने सरल तथा सहज रूप से भक्ति करने वाले भक्तो को ही भगवान् मिल सकते है। भौतिक पदार्थों मे जब तक मन तथा इन्द्रियाँ आसक्त रहेगी तब तक सच्ची भक्ति हृदय मे आ नही सकती। देहासक्ति जिसके हृदय मे है वह देहातीत की उपासना नही कर सकता।

साधना और भक्ति मे जप, तप पूजा, ध्यान तथा गुणगान आदि अनेक क्रियाएँ होती हैं पर जब तक अतर की तन्मयता नही होती सब निरर्थक हो जाता है। वस्त्र, मालाएँ तथा अन्य चिह्न भी उतना गहरा असर नही कर सकते जितना हृदय की तन्मयता। भक्ति अन्त प्रेरित होनी चाहिये। उसमे अन्तर की ध्वनि मुखरित होना आवश्यक है। अन्यथा भक्ति कोरा दिखावा रह जाएगा। जिस प्रकार कि एक दूकान जिसमे माल नही हो। एक सैनिक जिसके हृदय मे वीरता नही हो, वेपभूपा पहन लेने मात्र से ही सैनिक नही कहलाता। इसी प्रकार विभिन्न प्रकार की क्रियाएँ करना भक्ति के बाहरी वस्त्र है, अतरग व सच्ची भक्ति से उनका कोई सम्बन्ध नही है।

सच्ची भक्ति, जैसा कि अभी मैंने बताया है, जप, तप ध्यान आदि से सम्बन्ध नही रखती। हाँ अगर ये क्रियाये अन्तरात्मा के अनुसार है तो सार्थक है, अन्यथा निरर्थक है। भक्ति इन सबके बिना भी रह सकती है। नरसी भगत ने कहा है —

शू थयूं स्नान पूजा ने सेवा थकी
  शूं थयूं घेर रही दान दीधे ?
शूं थयू धरी जटा भस्म लेपन कर्ये,
  शू थयूं बाल लोचन कीधे ?
शू थयू तप ने तीरथ कीधा थकी,
  शूं थयूं माल ग्रही नाम लीधे ?
शूं थयूं तिलक ने तुलसी धार्या थकी,
  शू थयूं गगजल पान कीधे ?

शूं थयू वेद व्याकरण वाणी वद्ये,
शूं थयूं राग ने रंग जाण्ये,
शूं थयू खट दरशन सेव्या थकी,
शूं थयूं वरणना भेद आण्ये ?
ज्या लगी आतमा तत्व चीन्यो नही
त्यां लगी साधना सर्व जूठी ।
मानुषा देह तगो एम एले गयो
मावठानी जेम वृष्टि वूठी ।

स्नान और पूजा से, दान देने से, जटा धारण करने से, भस्म रमाने से, बाल मुँडाने से, तपस्या करने से क्या होता है ?

तीर्थ कर आने से, माला जपने से, तिलक लगाने से, तुलसी या रुद्राक्ष की माला पहन लेने से, गगाजल पीने से, वेद-पुराण पढ लेने से, व्याकरण रट लेने से, भी क्या होता है ?

न्याय, वैशेषिक, सांख्य, योग, पूर्वमीमासा, उत्तर मीमांसा, आदि दर्शनो का ज्ञान प्राप्त कर लेने से भी क्या होता है ?

जब तक मनुष्य आत्मतत्त्व को नही समझता, तब तक उसकी सारी साधना तथा भक्ति झूठी है। उसका मनुष्य जन्म व्यर्थ है। सच्चे भक्तो को अनेक आडवर करने की आवश्यकता नही होती। कवि रसखान ने कहा है—

सेस गनेस महेस दिनेस, सुरेस हु जाहि निरन्तर गावैं।
जाहि अनादि अनंत अखंड, अछेद अभेद सु-वेद बतावैं ।।
नारद से सुक व्यास रटैं पचि हारैं तऊ पुनि पार न पावैं।
ताहि अहीर की छोकरियां छछियां भरि छाछ पै नाच नचावैं।।

अर्थात् शेषनाग, गणेश, शकर, सूर्यदेव, तथा इन्द्र आदि सदा जिसका गुणगान करते हैं। 'वेद' जिसको अनादि, अनत, अखड तथा अभेद बताते हैं और नारद, शुक तथा व्यास आदि ऋषि पच-पच कर थक जाते है फिर भी जिसको समझ नही पाते हैं ऐसे श्रीकृष्ण को गोकुल की छोकरिया जरा सी छाछ के लिये नचाती हैं। ऐसा क्यो ? क्योकि वे ग्वाल बालाएँ कृष्ण को सम्पूर्ण अन्तःकरण से चाहती है, उनके हृदय मे कृष्ण के अलावा और किसी की मूर्ति स्थापित नही होती और मस्तक मे किसी दूसरे का विचार नही टिकता। स्वप्न मे भी किसी दूसरे की उपासना करना उनके लिये सभव नही होता।

यहा तक कि एक बार जब ऊधो मथुरा से आते है और कृष्ण के

वियोग से गोपियो को ज्ञान के द्वारा कृष्ण के निराकार स्वरूप की आराधना करने के लिये समझाते हे तो वे ऊधो को फटकारती है और कहती है— 'अपनी यह ज्ञान-गाथा तो तुम वापिस मथुरा ही ले जाओ। हम तो अपढ और गाव की बालाएं है। हमारी समझ मे यह नही आता। इनसे तो तुम मथुरा की चतुरनारियो को ही रिझाना। हमे तो तुम कृष्ण की कथा सुनाओ और हो सके तो एक बार हमारे आतुर नयनो को उन्ही के दर्शन करा दो—

हमको हरि की कथा सुनाउ।
ए आपनी ग्यान-गथा अलि मथुरा ही ले जाउ।
नगर नारि नीके समुझेगी तेरो बचन बनाउ॥
पा लागौं ऐसी इन बातनि उनही जाइ रिझाउ।
बारक इक, आतुर इन नैनन वह मुख आनि देखाउ॥

वधुओ! कितनी प्रगाढ मार्मिक तथा तन्मय भक्ति थी उनकी। ऐसी भक्ति के प्रवाह मे बहने वाली आत्मा ही प्रभुमय हो सकती है। सच्ची तन्मयता ही आत्म-मल को धो सकती है। इसी को हम भक्ति तथा साधना कह सकते है। अगर इसमे हृदय का रस तथा सच्चाई की चमक नही है तो उसका कोई मूल्य नही है।

वर्षो जप करने पर, साधना के लिये मालाओ के मन के घिस देने पर भी अगर मन मे पवित्रता नही आई तो वह भक्ति कैसी? वर्षो तक अरिहत की उपासना करने पर भी कषायो पर विजय प्राप्त नही कर सके तथा वीतराग को रटते रहने पर भी ससार के प्रति राग मे तनिक भी कमी न कर सके तो वह साधना किस काम की?

जब तक देव, शास्त्र तथा गुरु पर हमको श्रद्धा विश्वास तथा भक्ति न हो, जब तक हमारे हृदय मे सम्यक्त्व न हो, तब तक इस भवसागर से पार उतरने की कामना करना मृग-मरीचिका का जलपान करने की कामना के सदृश है। किसी भक्त के कितने सुन्दर उद्गार है —

जिनन्द मै जग किम तरसूं हो?
साधु पणा को सांग ले, घर घर में फिरसू हो।
भव जल तिरवारी भली किरिया नहि करसूं हो।
पर निन्दा पर ईरषा, नहि छोड़ी जिगरसूं हो।
तो किम मरणो मेटसू अघ से नहि डरसूं हो।

जब तक हृदय मे विकृति होती है तब तक वीतरागता का असर नहीं हो सकता। जब तक अनतानुबधी कषाय है तब तक सम्यक्त्व का प्रकाश होना सभव नही है। तथा सम्यक्त्व के अभाव मे साधना तथा भक्ति के द्वारा भी हम कुछ नही पा सकते। जैसे कि औषधि कितनी भी कीमती लो जाय पर अगर रोगी कुपथ्य का सेवन कर ले तो उस औषधि मे कोई लाभ नही होगा।

साधना या भक्ति महामूल्यवान् औषधि है किन्तु उनके लेने पर भी अगर कषाय रूप कुपथ्य का सेवन मनुष्य करता रहे तो बताइये वह औषधि कैसे रोग दूर करेगी ?

सूफी फकीर इब्राहीम बिन अहमद से लोगो ने पूछा—"हजरत, जरा यह तो बताइये कि हमारी दुआ कबूल क्यो नही होती ?"

हजरत ने कहा—भैया! तुम जानते हो कि खुदा है, मगर तुम उसकी बन्दगी नही करते। बहिश्त (स्वर्ग) और दोजख (नरक) है, यह तो मानते हो मगर एक से मिलने का और दूसरे से बचने का सामान नही करते। जानते हो कि मौत आएगी मगर उसकी तैयारी नही करते। तुम जानते हो कि मुझमे ऐब है बुराई है, फिर भी दूसरो के ऐब निकाला करते हो, भला ऐसे आदमी की दुआ कैसे कबूल हो ?

मनुष्य को बाहर और भीतर, मन और कर्म से एक सा होना चाहिये। यही साधना का मर्म है। आत्मशुद्धि के लिए जो जो भी क्रियाऐ की जाती है वह साधना है। और भक्ति साधना का सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण अग होता है। सच्ची भक्ति के बिना साधना सभव नहीं होती। भक्ति कई प्रकार की होती है, पर मुख्य रूप से उसे हम चार प्रकार से समझ सकते हैं:—

प्रथम है आर्त्त भक्ति—जब मानव किसी प्रकार के सकट मे होता है, उसके सामने शारीरिक अथवा मानसिक चिन्ताऐ होती है और उनसे छुटकारा पाना जब उसकी शक्ति से बाहर हो जाता है, तब वह भगवान् को याद करता है।

ऐसी भक्ति सच्ची भक्ति नही कहलाती क्योकि वह श्रद्धा, विवेक तथा ज्ञान से शून्य होती है। सुख मे व्यक्ति भगवान् को कभी भी याद न करे और दुख आ पडने पर चिल्ला चिल्ला कर उन्हे पुकारे तो वह भक्ति का उदय बाहरी दुखो से नहीं होता। वह तो अन्तर की उपज होती है।

दूसरे प्रकार की भक्ति है अर्थार्थ-भक्ति। इसमे भक्त स्वार्थ से प्रेरित होकर उपासना करता है। दीवाली के अवसर पर लक्ष्मी की पूजा ऐसी ही भक्ति का उदाहरण है। सामायिक, पूजा, जप तप व्रत आदि जो धन-सम्पत्ति के लिये किये जाते है, सब अर्थार्थि भक्ति मे आ जाते है। बहने आठ दिन की तपस्या करती है और गाती है– "अठाई कर्या को कोई फल होसी ? "अन्न होसी, धन होसी पूता रा परवार होसी।"

कई व्यक्ति तो बडे भक्तिभाव से आकर हमसे पूछते है—"महाराज! बताइये आज सट्टे मे हम कौनसा अक लगाएं ?" हमारे द्वारा तो उनकी यह इच्छा पूरी होती नही। अगर व्याख्यान मे किसी प्रकरण मे कोई अक मुह से निकल जाता है तो उसी पर दाव लगा देते है। बताइये क्या यह भक्ति है ?

एक बार गाँधीजी सूरत गए। वहा उनके प्रवचनो का वोहरा समाज पर बडा प्रभाव पडा। एक दिन उनके प्रवचन के बाद एक मुस्लिम वोहरा उनके पास पहुँचा और उसने गाँधीजी को ५०) रु० भेट किये। बोला–आप सचमुच पैगम्बर है। कल मुझे ज्वर आया था। मेरे मन ने कहा कि यदि आज ज्वर उतर गया तो गाँधीजी को ५०) रुपये भेट करूगा। सचमुच ही ज्वर रात को ही उतर गया, जब कि हमेशा तो वह आने पर कई कई दिन तक नही उतरता था। इसीलिए मैं आपको यह भेट देने आया हू।

गाँधीजी ने कहा—भाई! यह ठीक है कि आपने मुझे याद किया और आपका ज्वर उतर गया। पर यदि ज्वर नही उतरता तो फिर आप गाधी को गालियाँ देते न ? अत ऐसी भेट मुझे नही चाहिए। तुम्हे भी ऐसी अध-भक्ति करना उचित नही है। भक्ति स्वार्थ सिद्ध करने के लिये नही होनी चाहिये।

तीसरे प्रकार की भक्ति 'जिज्ञासा भक्ति' कहलाती है। ऐसी भक्ति रखने वाला भक्त दुख, अभाव अथवा कष्टो से पीडित होकर भक्ति नही करता। उसके मन मे किसी प्रकार का प्रलोभन भी नही होता। उसकी भक्ति अथवा उपासना का लक्ष्य होता है ईश्वरीय स्वरूप का ज्ञान। वह भक्त आत्मा तथा परमात्मा मे भेद समझने की जिज्ञासा रखता है।

एक बार एक भक्त ने किसी सत से पूछा, जब मेरी तथा सर्वज्ञ की आत्मा मे कोई भेद नही है तो फिर मैं भी सर्वज्ञ क्यो नही हूँ ? परमात्मा ब्रह्मज्ञानी तथा केवली है तो मै केवलज्ञानी क्यो नही हूँ ?

संत ने उस भगत को एक लोटा दिया और कहा—"इसमे गंगाजल भर लाओ।" व्यक्ति लोटा भर लाया तथा उसे संत के सामने रख दिया।

संत बोले— गंगाजल मे तो नावें चलती हैं इसमे भी तुम नाव चलाओ। भगत चकराया। बोला—इस छोटे से लोटे मे नाव कैसे चल सकती है? इसमे तो बहुत ही थोडा जल है।

संत ने तुरन्त कहा—बस, परमात्मा मे और तुम मे यही अन्तर है। भगवान् की आत्मा मे ज्ञान विशाल हो गया है, उसमे विराटता आ गई है और तुम्हारा ज्ञान अभी अत्यंत सीमित है, अल्प है। भक्त समझ गया। उसने श्रद्धापूर्वक संत को नमस्कार किया और चला गया। इस प्रकार जिज्ञासा पूर्वक भक्ति की जाती है। जिज्ञासा-पूर्ण होने पर मन शांत हो जाता है।

चौथे प्रकार की भक्ति है "तन्मय भक्ति" इसमे भक्त या साधक भगवान मे लीन हो जाना चाहता है। ऋग्वेद मे कहा गया गया है—

यद् अग्ने स्यामहं त्वं त्वं वा घा स्या अहम्। स्युष्टे सत्या इहाशिषः।

अर्थात् हे प्रकाश-स्वरूप! जब मैं तू हो जाऊं या तू मैं हो जाय तो जीवन भर के तेरे वे सब आशीर्वाद सत्य सफल हो जायें।

कबीरदासजी ने भी यही कहा है—

मेरा मुझ मे कुछ नहीं, जो कुछ है सो तोर।
तेरा तुझको सौंपते क्या लागै है मोर॥

ऐसा तन्मय भक्त, भौतिक संपत्ति, शारीरिक सुख आदि सब कुछ पाकर भी संतुष्ट नही होता। उसके मन की प्यास परमात्मा मे लीन होकर ही बुझती है। वह सोपाधिक अर्थात् स्वार्थ से प्रेरित भक्ति मे विश्वास नही करता। वह तो निरुपाधिक भक्ति, जिसमे कि स्वार्थ का अधकार नही, वरन् पवित्रता का प्रकाश होता है, उसे महत्त्वपूर्ण मानता है।

बंधुओ! आशा है आप भक्ति के विषय मे समझ गए होंगे। भक्ति का फल है तृष्णा का नाश, वासना का क्षय तथा इच्छाओ की निवृत्ति।

जाति-कुल तथा धन का अहंकार रखने वाले सच्चे भक्त नही बन सकते—

कामी, क्रोधी, लालची इनतें भक्ति न होय।
भक्ति करे कोई सूरमा, जाति बरन कुल खोय॥

सूरदास, तुलसीदास, मीरा व प्रह्लाद आदि अपना सब कुछ त्याग कर भगवान् के सच्चे भक्त कहलाए है। निस्वार्थ भाव से तथा सच्चे हृदय से की जाने वाली भक्ति निरर्थक नही जाती।

जैन कथानको मे भी अनेक ज्वलत उदाहरण हमे भक्ति के चमत्कार को बताते है। सेठ सुदर्शन की भक्ति ने सूली को भी सिंहासन बना दिया। सती सुभद्रा की भक्ति ने चलनी मे भी कुए से पानी ला दिया। सती चन्दनबाला की भक्ति के कारण ही उसकी हथकडियाँ स्वय टूटकर बिखर गई।

इनकी भक्ति मे श्रद्धा, विवेक तथा ज्ञान की शक्ति थी। ज्ञान पर भक्ति की छाप लगती है तभी उसकी शक्ति बढती है। जिस प्रकार कागज पर जब सरकारी मुद्रा लगती है तब वह नोट कहलाता है। अन्यथा कोरा कागज रहता है, उसका कोई अधिक मूल्य नही होता। गदे बर्तन मे अगर दूध रखा जाएगा तो वह फट जाएगा, उसी प्रकार अगर भक्ति के बिना चित्त मे ज्ञान रहेगा तो वह भी विकृत हो जाएगा। परिणामस्वरूप वह जितनी भी मोक्ष प्राप्ति के लिये क्रियाए करेगा, निरर्थक हो जाएगी। कहा भी गया है—

"मोक्षकारण-सामग्र्या भक्तिरेव गरीयसी।

— विवेक चूडामणि

मोक्ष प्राप्ति के साधनो मे भक्ति ही सबसे बडा साधन है। तथा असाधारण भक्ति के द्वारा प्रत्येक प्रकार की साधना सफल की जा सकती है।

कल्पना कीजिए, दो व्यक्ति है। एक समभावपूर्वक तथा अखड श्रद्धा व भक्ति के साथ अधिक न करके सिर्फ एक नमोकारसी का तप करता है। दूसरा व्यक्ति, जिसके हृदय मे कषाय व अहकार का साम्राज्य है, एक करोड पूर्व (८४ लाख वर्षो का एक पूर्वांग तथा ८४ लाख पूर्वांगो का एक पूर्व) तक तप—एक-एक महीने की तपस्या करता है। पारणा के दिन भी एक कुश की नोक के बराबर ही आहार लेता है।

मासे मासे उ जो बालो कुसग्गेणं तु भुजई।

न सो सुयक्खाय-धम्मस्स, कलं अग्घई सोलसि॥

— उत्तराध्ययन अ० ९

बताइये दोनो मे से किसको अधिक लाभ प्राप्त होगा? एक करोड पूर्व का तप करने वाले को? नही, वरन् कषाय हीन भाव से सिर्फ एक नमोकारसी का तप करने वाले को। आपको आश्चर्य हो सकता है पर यह दृढ

सत्य है। जब तक जीवन मे सम-भाव नही आता तब तक त्याग अथवा तपस्या का कोई मूल्य नही है। भगवान् महावीर ने कहा है—

"सोही उज्जुयभूअस्स, धम्मो सुद्धस्स चिट्ठइ।"

सरल हृदय मे ही धर्म टिकता है। इसी प्रकार सरल हृदय मे ही भक्ति रह सकती है। जब मनुष्य अपना पन छोड़कर अपने को भगवान् के चरणो मे डाल देता है तभी भक्त कहलाने का अधिकारी होता है। यही भक्ति की पूर्णता है। भक्ति के प्रवाह मे बहने वाली आत्मा प्रभुमय हो जाती है। भक्ति मे भक्त अपने अन्तर मे भगवान् को खोजता है।

जिस भक्ति मे अन्तरात्मा का स्वर नही है, वह भक्ति केवल दिखावा है। ऐसी भक्ति साधना से आत्मकल्याण की कामना करना, लोहे की नाव मे बैठकर समुद्र पार कर लेने की कामना करने के सदृश है, जो पार पहुँचाने के बजाय उलटे समुद्रतल मे पहुँचा देती है।

आज के कुछ नवयुवक कहते है कि सामाजिक वातावरण देखते हुए अब तो मन मे श्रद्धा अथवा भक्ति रही नही। मैं पूछती हूं कि उनमे श्रद्धा अथवा भक्ति थी ही कब ? कभी किसी महापुरुष के उपदेश सुनकर अथवा किसी दुखद घटना के घट जाने पर कुछ समय के लिये भक्ति का रग चढ गया और थोडा समय बीतते ही उतर गया। क्या वह भक्ति थी ? कभी नही ! वह सिर्फ उफान था जो आया और खत्म हो गया। भक्ति तो वह चिन्तामणि रत्न है कि जिसे पाकर मनुष्य इस जन्म में ही नही वरन् जन्म-जन्म मे भी नही खो सकता। जब तक कि भगवान मय न हो जाय।

७ | वाणी का वैभव

सृष्टि का सबसे बडा चमत्कार वाणी है। शब्दो के व्यवस्थित समूह, जिनसे कि कुछ न कुछ अर्थ निकलता है, वाणी कहलाते है। वैसे ध्वनि तो झाझ-मृदग से भी निकलती है, मगर वह सार्थक नही है। पशु तथा पक्षियो के मुँह से निकलने वाली आवाजे भी शब्द कहलाती हैं किन्तु उसके द्वारा वे अपने विचार दूसरो पर व्यक्त नही कर सकते। सिर्फ मनुष्य की वाणी मे यह शक्ति है कि वह उसके माध्यम से अपने हृदयगत भावो को दूसरो पर व्यक्त करता है और दूसरो की भावनाओ को समझ सकता है। वाणी के द्वारा ही भक्त भगवान् की भक्ति व स्तुति करता है तथा वाणी की मधुरता व कर्कशता के द्वारा ही मनुष्य शत्रु को मित्र अथवा मित्र को शत्रु बनाता है। सक्षेप मे वाणी रूपी धुरी पर विश्व का समग्र लोक-व्यवहार घूमता है। वाक् शक्ति मे अद्भुत आकर्पण है।

वाणी दो प्रकार की होती है—मधुर व कर्कश। सिर्फ मधुरता अगर देखी जाय तो वह तो मनुष्य के अलावा अन्य प्राणियो मे भी कही-कही पाई जाती है यथा—कोयल मे। कोयल की कुहुक मे इतनी मिठास होती है कि उसकी समानता मधुर से मधुर सगीत लहरी भी नही कर पाती। उसकी मधुरता कवियो की काव्यभूमि मे आकर तो अमर हो गई है। कोकिल का वर्ण काला होता है। शरीर का सौन्दर्य उसे नही मिला, किन्तु वाणी माधुर्य का जादू उसे मिला है। कौआ उसी के वर्ण का तथा उसी की आकृति का होने पर भी वाणी का मिठास नही पा सका। इसी अभिप्राय से कहा है—

काक कृष्ण' पिक कृष्ण, को भेद, पिककाकयोः।
प्राप्ते वसंतसमये तु, काक काक पिकः पिकः॥

कौआ तथा कोयल दोनो ही श्यामवर्ण होते हैं किन्तु वसन्त आने पर वाणी की मिठास से ज्ञात होता है कि कौआ कौन सा है और कोयल कौनसी है।

मेरे इस कथन का तात्पर्य यही है कि जब पक्षी होने पर भी कोकिल की वाणी सबको मंत्र-मुग्ध कर देती है तो फिर मनुष्य की वाणी में भी मधुरता हो तो उसके प्रभाव की तो बात ही क्या है?

मिष्टभाषी का लोक पर क्या प्रभाव पड़ता है, यह तो आप सब जानते ही होंगे। एक गुणी व्यक्ति को कर्कश स्वर में बोलते देखकर लोग उसे उजड्ड समझने लगते हैं और इसके विपरीत एक निर्गुण को भी मधुर स्वर में भाषण करते देखकर श्रोता उसकी ओर आकर्षित हो जाते हैं। घोर कलह के समय भी एक मधुरभाषी का वचन अग्नि पर शीतल जल के छींटे का काम करता देखा जाता है। तारीफ की बात तो यह है कि उन शीतल वचनों को बोलने में कोई हानि भी नहीं होती। किसी तरह का त्याग नहीं करना पड़ता। तो फिर क्यों न मिष्ट वचनों का प्रयोग किया जाय। कवि ने कितना सुन्दर लिखा है —

प्रियवाक्यप्रदानेन सर्वे तुष्यन्ति जन्तव.।
तस्मात्तदेव वक्तव्य, वचने का दरिद्रता?॥

प्रिय वचन बोलने से सभी प्राणी प्रसन्न हो जाते हैं। इसलिए सदा प्रिय वचन ही बोलना चाहिये, बोलने में क्या दरिद्रता! प्रिय वचनों के प्रयोग में कुछ खर्च तो होता नहीं।

मधुर भाषा के प्रभाव से बिगड़ते हुए कार्य भी सुधर जाया करते हैं। कहते हैं एक बार बादशाह अकबर ने एक ज्योतिषी को बुलाकर पूछा— "मेरी उम्र कितनी है? बेचारे ज्योतिषी को वाणी चातुर्य का ज्ञान नहीं था। उसने कहा — शाहंशाह! आपकी उम्र का क्या पूछना? इतनी बड़ी है कि आपके सारे परिवार के सदस्य खत्म हो जाएँगे। उसके बाद तब भी आप सकुशल शासन करते रहेंगे। सुनकर बादशाह को बड़ा क्रोध आया। वे ज्योतिषीजी को दंड घोषित करने वाले ही थे कि बीरबल, जो उसी समय वहीं मौजूद थे, बोले—"हुजूर! ज्योतिषीजी का कथन है कि "हमारे आलमपनाह की उम्र समस्त कुटुम्बी जनों से अधिक है।"

ज्योतिषी के कथन को ही बीरबल द्वारा चतुराई मधुरतापूर्वक कहे जाने के कारण अकबर का क्रोध शात हो गया और उन्होंने ज्योतिषी को समुचित दक्षिणा देकर विदा किया।

कहने का तात्पर्य यह है बन्धुओ ! कि सत्य बोला जाय किन्तु उसमे मधुरता अवश्य होनी चाहिये, जिससे किसी के मन मे उस सत्य को सुनकर भी उद्वेग न हो। उसे किसी तरह की चोट न पहुँचे। एक अधे व्यक्ति को रास्ते के बीच मे देखकर हम कहे-ओ अधे ! एक तरफ हो जा, तो उसे कितना दुख होगा अपने अधेपन का ? किन्तु अगर उसे यह कहा जाय—भाई सूरदास ! जरा परे हो जाओ, कही लग न जाय, तो उसकी आत्मा को कितना प्रिय लगेगा। अधता के मार्मिक घाव पर ये मीठे शब्द मरहम का कार्य करेंगे।

इसलिए मानव को चाहिये कि वह अत्यन्त विवेक पूर्वक बोले। कटु वाणी मे जो अनेक दुर्गुण पाए जाते है उनको त्याग कर अपनी भाषा को पवित्र बनाए और उसका उपयोग करे। अप्रिय तथा दोषपूर्ण भाषा की सभी धर्मशास्त्रो ने निंदा की है। श्री उत्तराध्ययन सूत्र मे कहा गया है —

कोहे माणे य माया य, लोभे य उवउत्तया।
हासे भय मोहरिए, विकहासु तहेव य॥
एयाइं अट्ठ ठाणाइं, परिवज्जित्तु सजओ।
असावज्ज मियं काले, भास भासिज्ज पन्नव॥ अ० २४॥

क्रोध, मन, माया, लोभ, हास्य, भय, वाचालता और विकथा को छोडकर, बुद्धिमान् को समय पर थोडी और निर्दोष ऐसी वाणी का प्रयोग करना चाहिये जिससे किसी को कष्ट न हो।

गीता मे भी कहा गया है —

अनुद्वेगकर वाक्यं, सत्यं प्रिय-हितं च यत्।
स्वाध्यायाभ्यसन चैव, वाङ्मय तप उच्यते॥

—गीता अ० १७

जो सुननेवाले के मन मे उद्वेग करनेवाला न हो, सत्य प्रिय और हितकर हो, स्वाध्याय का अभ्यासी हो, "ऐसा भाषण वाणी का तप है"। मनु ने भी अपनी स्मृति मे यही व्यक्त किया है—

सत्य ब्रूयात् प्रिय ब्रूयान्न ब्रूयात सत्यमप्रियम्॥

सत्य कहो और प्रिय कहो, मगर अप्रिय सत्य कभी मत कहो।

इस प्रकार सभी शास्त्र किसी की अन्तरात्मा को चोट पहुचाने वाले वचनो का निषेध करते है। ऐसे वचनो का प्रयोग करने वालो को नराधम तक मानते हैं। आचार्य चाणक्य ने स्पष्ट कहा है :—

परस्पर-मर्माणि, ये भाषन्ते नराधमाः।

परस्पर मर्मभेदी वचन कहने वाले नराधम होते है।

शरीर का सौन्दर्य प्राणियो के लिये बडा महत्त्व रखता है, किन्तु वाणी का सौन्दर्य उससे भी अधिक मूल्यवान होता है। चेहरे पर कितना भी सौंदर्य हो, पर अगर वचनो मे सौन्दर्य नही है तो चेहरे का सौन्दर्य फीका लगेगा। इसके विपरीत, चेहरा कुरूप होने पर भी अगर किसी व्यक्ति की वाणी मे माधुर्य है तो वह सबके मन मे स्थान बना लेगा।

सज्जनो! एक बात और भी ध्यान देने योग्य है। वह यही कि शरीर की कुरूपता को बदलना मनुष्य के वश की बात नही है किन्तु वाणी की कुरूपता को मनुष्य चाहे तो सहज ही बदल सकता है। चमडी के श्याम रग को अच्छे से अच्छे साबुन की सौ बट्टियो के द्वारा भी गौर वर्ण मे परिवर्तित नही किया जा सकता। सुगन्धित पाउडर क्रीम लगा लगाकर भी चमकाया नही जा सकता। परन्तु वचनो की कलुपता की इच्छा करते ही सुन्दर, पवित्र एव चमत्कार पूर्ण बनाया जा सकता हैं।

वाणी के द्वारा ही मनुष्य के हृदय की पहचान होती है। मिट्टी के घडे को बजाकर उसकी आवाज से मालूम किया जाता है कि वह फूटा हैं अथवा साबित है। फूटे हुए ढोल की आवाज बेसुरी होती है। इसी तरह मनुष्य की जिह्वा से उसके हृदय का बडप्पन अथवा ओछापन मालूम होता है। जीभ के द्वारा मनुष्य की शारीरिक अथवा मानसिक दोनो तरह की खराबियो का पता चल जाता है। आप किसी डाक्टर के पास जाएँगे तो वह जीभ देख कर बता देगा कि आपका पेट साफ है अथवा नही? इसी प्रकार जिह्वा से कटु शब्द निकलेगे तो सुनने वाला समझ जाएगा कि आपका हृदय साफ है अथवा नही? जिह्वा के द्वारा बोले हुए मर्मघाती वाक्य सुनने वाले हृदय को विदीर्ण कर देते है। पाइथोगोरस ने कहा है—

"जिह्वा का घाव तलवार के घाव से भी अधिक बुरा होता है, क्योकि तलवार शरीर पर आघात करती है और जिह्वा आत्मा पर।" पी० सिडनी ने भी कहा है—

"No sword bites so fiercely as an evil tongue"

कोई तलवार इतना भयानक घाव नही करती, जितना कि एक बुरी जिह्वा।

एक जापानी कहावत है "जिह्वा केवल तीन इंच लम्बी होती है किन्तु वह छ फुट लम्बे आदमी को कत्ल कर सकती है। शास्त्र मे भी कहा है—बधुओ! जिस प्रकार यह जीभ दूसरे का कत्ल करती है उसी प्रकार कभी स्वय के नाश का भी कारण बन जाती है। अन्यथा कवि रहीम कैसे कह जाते —

रहिमन जिह्वा बावरी, कहि गई सरग पाताल।
आपु तो कहि भीतर गई, जूती खात कपाल॥

यह है इसकी करामात! जो खुद तो कुछ भी कह जाती है, फल शरीर को भुगतना पडता है। इसीलिये सत महात्मा बार-बार चेतावनी देते है तथा घटो तक, अथवा कई दिनो तक, यहा तक कि महीनो तक के लिये भी मौन ग्रहण कर इसे वश मे रखने का प्रयत्न करते है।

विचारको ने वाणी के भूषण रूप आठ गुण बताए है। इन गुणो के द्वारा वाणी के दोष दूर होते हैं तथा उसमे पवित्रता आती है। वे है— **कार्यपतित, गर्वरहितम् अतुच्छं, धर्मसंयुक्तं, निपुणं, स्तोक, पूर्वसंकलितं व मधुरम्।**

'कार्यपतितम्' वाणी का पहला गुण है। आवश्यकता हो तभी बोलना चाहिये अन्यथा मौन रहना अधिक श्रेयस्कर है। इससे आत्मा को शाति मिलती है तथा वह स्वस्थ रहती है। जैसे निद्रा से शरीर को आराम मिलता है और वह अधिक कार्य करने की शक्ति प्राप्त कर लेता है, उसी प्रकार मौन रहने से मनुष्य की बुद्धिमत्ता विकसित होती है। कहा भी है—Silence is the sign of intellegence, मौन बुद्धिमता का चिह्न है। कारलाइल का भी कथन है—Silence is more eloquent than words मौन मे शब्दो की अपेक्षा अधिक शक्ति होती है।

मौन की सर्वश्रेष्ठ साधना भगवान् महावीर ने की थी। उन्होने लगातार साढे बारह वर्ष तक मौन धारण किया था। मौन के प्रभाव मे उनकी वाणी अमृतमय वन गई उसका श्रवण करने के लिये देवता भी तरसा करते थे। आज तो यह माना जाता है कि अधिक बोलने वाला ही सफल हो सकता है। आज का मानव कार्य करता है, उससे कई गुना अधिक विज्ञापन करता है। परिणाम यह होता है कि वाक विन्यास मे ही उसकी सारी शक्ति खर्च हो जाती है और कार्य के क्षेत्र मे वह एक इंच भी नही बढ पाता।

अधिक बोलने से समाज मे मानव की प्रतिष्ठा नही रह जाती, क्योंकि उचित बात भी बार बार कही जाने पर अप्रिय लगने लगती है। अनेकों बार वाचालता का कटुफल मनुष्य को भोगना पडता है। अग्रेजी मे एक कहावत है—The horse-shoe that clatters has lost a nail. घोडे की जो नाल खडखडाती है, उसकी कोई न कोई कील जरूर निकलती रहती है। हम भी अधिक बोलने वाले व्यक्ति के लिये कहा करते हैं—इसके दिमाग का कोई स्क्रू ढीला है। वाचाल व्यक्ति सर्वत्र अपमानित तथा अविश्वास-भाजन बनता है। उसके सत्य वचन का भी सहसा किसी को विश्वास नही होता।

वाणी का दूसरा गुण है 'गर्वरहितम्'। लोगो की आदत होती है कि बातचीत करते समय प्रसग मिलते ही स्व-प्रशंसा करना शुरू कर देते हैं। वे भूल जाते है कि मनुष्य की प्रशसा उसकी गर्वोक्तियो से नही, वरन् उसके कार्यों मे होती है। अभिमान एक तरह की सुरा है जो मानव को पागल बना देती है। मदिरा का नशा तो कुछ समय बाद उतर जाता है किन्तु अभिमान का नशा धन, प्रतिष्ठा, परिवार आदि बढने के साथ-साथ बढता जाता है। लेकिन अभिमान का आधार सदा स्थिर नही रह सकता। इतिहास इसका साक्षी है। रावण, कस, दुर्योधन तथा हिरणकश्यपु जैसे शक्तिशाली नरेश अपने अभिमान के कारण ही विनाश को प्राप्त हुए। अपनी बात को कायम रखने के लिये अभिमानी व्यक्ति अपने घर को भी फूक देता है। आगम कहता है—'**माणो अरी**' अर्थात् अभिमान शत्रु है। यह विनय के साथ तन धन व जीवन सभी का नाश करता है। इसका उपचार है मृदुता—**माण मद्दवया जिणे**। अभिमान को मृदुता से जीतना चाहिए।

ग्रीस के आटिका नामक ग्राम मे आल्कि विपयादिस नाम का घमडी श्रीमन्त रहता था। एक दिन वह सुकरात के सामने अपने वैभव की प्रशसा करने लगा। सुकरात ने उसके सामने नक्शा रख दिया और कहा इसमे अपना गाव तथा अपनी जमीन जायदाद बताइये। आल्कि वियादिस ने बडी मुश्किल से गाव का नाम ढूढा, क्योंकि छोटा गाव होने से सूक्ष्मता से लिखा गया था। पर जमीन नक्शे मे नही थी।

सुकरात ने कहा—सेठ साहब! समस्त भूमडल पर छोटा सा ग्रीस देश, उसमे आपका छोटा सा गाव जो बडी मुश्किल से मिला है। पर

जमीन तो मिली ही नही ! अब आप ही बताइये कि आपका अभिमान कहा तक ठीक है ?

साराश यही है कि मिथ्याभिमान टिक नही सकता। महान् दार्शनिक फैकलिन का कथन है कि "गर्व समृद्धि के साथ जलपान करता है, गरीबी के साथ दोपहर का भोजन एव बदनामी के साथ रात्रि का भोजन करता है। तात्पर्य यह है कि अभिमानी का निरन्तर अध पतन होता रहता है। इसीलिए कबीर कह गए है —

कबिरा गरब न कीजिये, कबहूँ न हसिए कोय ।
अबहूँ नाव समुद्र में, का जाने का होय ॥

धन वैभव, इस जीवन रूपी समुद्र मे नाव की तरह होते है, जो कभी भी दुर्भाग्य का ज्वार आने पर उलट कर डूब सकते है। अत इन सबका गर्व करना मनुष्य को उचित नही है। साथ ही अपने थोडे से अच्छे कार्य की अनेकगुनी बडाई अपने ही मुह से करना भी अनुचित है, क्योकि कभी कभी अपने निर्मित किए हुए वाक्यजाल मे मनुष्य खुद ही ऐसा फस जाता है कि उसकी बात का खडन उसके द्वारा ही हो जाता है।

एक कलाकार ने एक ढाल और एक तीर का निर्माण किया। उनके विषय मे वह कह रहा था कि ऐसी कोई वस्तु ससार मे नही है, जिसे मेरा तीर वेध न सकता हो और कोई ऐसा शस्त्र नही जो मेरी ढाल को छेद सके। एक व्यक्ति ने उससे पूछ लिया यदि आपका तीर आपकी ढाल को छेदना चाहे तो ?

कलाकार लजित होकर मौन हो गया।

वाणी का तीसरा गुण है 'अतुच्छम्'। किसी भी व्यक्ति को बोलते समय ओछे शब्दो का प्रयोग नही करना चाहिए। वाणी मे ओछे शब्दो का प्रयोग करना हीनता तथा असभ्यता का परिचायक है।

प्राचीन भारत मे वाणी की सभ्यता का बडा महत्त्व था। पत्नी अपने पति को 'आर्य पुत्र' कहकर सबोधित करती थी। पति, पत्नी को आर्या अथवा 'देवी'। घर के नौकर चाकरो के साथ भी बातचीत का तरीका आयु के अनुसार ही रहता था। उन्हे भी घर के सदस्यो की तरह माना जाता था, शास्त्रो से विदित होता है कि बडे से बडा सम्राट भी अपने सेवक को 'देवानुप्रिय' अर्थात् 'देवो का वल्लभ' कहकर सबोधित करता था।

किन्तु आज तो नौकरो से तू तडाक के सिवाय बात ही नही की जाती, जैसे उनमे आत्मसम्मान होता ही नही, आज हमने खाने-पीने की पहनने की तथा रहने आदि की सभ्यता मे तो बहुत तरक्की करली है, किन्तु बोलने की सभ्यता मे पिछड गए है, ऐसा लग रहा है। वाणी से ही मनुष्य की कुलीनता का पता चलता है। रग रूप आदि मे तो कुलीन तथा अकुलीन मे भेद नही किया जा सकता और न ही कोई दूसरा विशेष लक्षण कुलीन व्यक्तियो मे पाया जाता है। किसी कवि ने सत्य ही कहा है—

न जार - जातस्य ललाट-शृंगं, कुले प्रसूतस्य न पाणि - पद्मम् ।
यदा यदा मुञ्चति वाक्य-बाणं, तदा तदा जाति-कुल-प्रमाणम् ।।

अर्थात् अकुलीन व्यक्ति के सिर पर सीग नही होते। कुलवान् के हाथो मे कमल नही खिलते। किन्तु जब जब व्यक्ति वचन रूपी बाण फैंकता है, तब तब उनके आधार पर उसके जाति व कुल का पता चलता है। तो सज्जनो ! आपने समझ लिया होगा कि बोल अपना मोल स्वयं ही बता देते हैं।

वाणी धर्ममय होनी चाहिये इसीलिए वाणी का चौथा गुण 'धर्मसयुक्त' बताया गया है। धर्म रहित वाणी आत्महीन शरीर की भाति निस्सार होती है। वाणी प्रकृति की या पुण्य की महान् से महान् देन है, पर उसमे अगर हम किसी की निन्दा करते है, मर्मान्तिक शब्द कहते है तो उसकी पवित्रता समाप्त हो जाती है। गणधर गौतम ने भगवान् महावीर से पूछा—**'किं भयवं'**, भगवान् कौन है ? महावीर ने उत्तर दिया--**'सच्चं भयवं'** सत्य ही भगवान् है जो सत्य की उपासना करता है वह भगवान् की उपासना करता है। जैनागमो मे सत्य को ससार का सारभूत तत्त्व माना गया है—**'सच्चं लोगम्मि सारभूयं'** कूटनीतिज्ञ चाणक्य ने कहा है—**'सत्यं पीयूषवत् पिब'** सत्य का अमृत की तरह पान कर। राम चरित मानस मे भी तुलसीदासजी ने कहा है—**'नहिं असत्य सम पातक दूजा'**। महाभारत मे तो सत्य के द्वारा ही धर्म की उत्पत्ति मानी गई है—**'सत्येनोत्पद्यते धर्म'**। इन उदाहरणो से ज्ञात हो जाता है कि वाणी अगर सत्यमय है तो वह धर्म-मय है। बुद्धिमान् व्यक्ति ऐसी ही वाणी का प्रयोग करते है तथा सत्य को अपने प्राणो से भी महान मानते हैं। सत्य असत्य की अपेक्षा अनत गुणित अधिक प्रभावशाली होता है। उसकी कभी हार नही होती। अग्रेजी भाषा मे एक कहावत् है—'Truth is immortal, Error is mortal' सत्य अमर है; त्रुटि नश्वर। असत्य का नाश हो जाता है पर सत्य का नही,

क्योंकि सत्य शाश्वत है और वही सच्चा धर्म है। सत्य ही धर्म है परमब्रह्म परमात्मा है।

वाणी का पाचवा गुण 'निपुणता' है। वाक्य-चातुर्य से वाणी का माधुर्य बढ जाता है। वाणी की निपुणता सुनने वाले के दिल को मोह लेती है। वक्ता को ज्ञान होना चाहिये कि कौनसी बात अवसर पर करनी चाहिये। बोलने के समय मौन रह जाना तथा मौन रहने के समय बोल पडना भी वक्ता की मूर्खता का द्योतक होता है। प० मदनमोहन मालवीय मे बोलने की अद्भुत कला थी। उनकी उस कला के प्रभाव से ही बनारस मे हिन्दू विश्वविद्यालय का निर्माण हुआ।

कई बार हम देखते है कि बात वही होती है पर कहने के तरीको से प्रभाव मे भिन्नता आ जाती है। अगर कोई नेता अपने भाषण मे कहे "राष्ट्र के आधे आदमी मूर्ख है" तो जनता मे खलबली मच जाएगी। पर अगर वह यह कहे कि—"हमारे भारत की आधी जनता शिक्षित है" तो जनता उस भाषण को शांति से सुनेगी। मधुर तरीके से कही हुई बात मे मित्रो की सख्या मे वृद्धि होती है और कटुशैली का प्रयोग करने से शत्रुओ की। किसी उर्दू के शायर ने सत्य ही कहा है—"बन के अजीज रहना प्यारी जबा दहन मे।" हे जिह्वा ! तू ससार मे सब की प्रिय बन कर रहना।

वाणी का अगला और छठा गुण है "स्तोक" मनोगत भाव को थोडे शब्दो मे समझा देना किसी विचार को, जब थोडे मे ही बताया जा सकता है, निरर्थक विपुल वचनावली से व्यक्त करना बुद्धिमत्ता का लक्षण नही है। इससे श्रोता ऊब जाता है और सुनने मे उसकी रुचि नही रहती। पुनरुक्त अनर्गल व सारहीन बातो को कहने और सुनने मे समय व्यर्थ नष्ट होता है। किसी भी विचारशील व्यक्ति को समय का दुरुपयोग नही करना चाहिये। यह परम सत्य है कि जो व्यक्ति समय को बरबाद करता है, समय उसे भी बरबाद कर देता है। महाकवि शेक्शपियर ने कहा था—I wasted time and now doth time waste me. मैंने समय को नष्ट किया और अब समय मुझे नष्ट कर रहा है। विचारको का कथन है– Time is money—समय सबसे बडी मणि है।

भगवान् महावीर ने गौतम को सबोधित करके बार-बार यही कहा—**'समय गोयम ! मा पमायए'** अर्थात् गौतम ! क्षण मात्र का भी समय व्यर्थ मत खोओ। समय व्यतीत करने मे क्या लगता है ! महत्ता है समय का सदुपयोग

करने मे। समय वडा मूल्यवान् है। भक्ति आदि साधनो से परमात्मा को तो बुलाया जा सकता है किन्तु कोटि उपाय करने पर भी बीता हुआ समय वापिस नही लाया जा सकता।

सक्षिप्त वात मे वडा माधुर्य तथा प्रभाव होता है। प्राचीन युग मे सूत्र-शैली प्रचलित थी। उसके द्वारा विस्तृत विषय भी अति सक्षिप्त रूप मे व्यक्त किया जा सकता था। वैयाकरण तो सक्षिप्तता को इतना पसद करते थे कि सूत्र मे एक मात्रा की भी कमी करके वे पुत्र लाभ के सुख का अनुभव करते थे।

थोडे शब्दो मे विशाल अर्थ भर देना तीर्थङ्कर देव का वचनातिशय है। इसे ही बिन्दु मे सिन्धु भरना कहते है। जिसके पास यह कला होती है, समझना चाहिए उसका मस्तिष्क प्रौढ और उन्नत है।

वाणी का सातवा गुण 'पूर्व सकलितम्' बताया गया है। पहले ही विवेक की तराजू पर तौल कर वाणी का प्रयोग करना चाहिये। मुख से कुछ बोलने से पहले विचार कर लेना आवश्यक है। विना समझे-बूझे बोल पडने से कभी कभी अनेक विपत्तियो का सामना करना पडता है। अर्जुन ने विना विचारे सहसा प्रतिज्ञा करली कि यदि मैं सूर्यास्त से पूर्व अपने पुत्र के घातक जयद्रथ का वध न कर डालू तो मैं स्वय चिता मे जलकर प्राण दे दूंगा। उसकी इस प्रतिज्ञा को पूरी करवाने के लिये श्रीकृष्ण को असमय मे ही सूर्य को अपनी माया से ढकना पडा था। इसलिये विचारक जिह्वा को उपालभ देते है —

विना विचारी तूं क्यूं बोले, मोल घटे छे थारो ए!
पंचा माहे पतली होवे, काज बिगाड़े म्हारो ए!
हूं थने वरजू छू, तूं विना विचारी मत बोल!

तू विना विचार किये क्यो बोलती है? इससे तेरा मूल्य तो कम होता ही है, साथ ही मेरा काम विगड जाता है और पचो के बीच मे मेरी इज्जत कम हो जाती है। इसलिये मैं तुझे वार वार मना करता हू कि तू विना विचारे मत बोल!

किसी विद्वान् ने मूर्ख व बुद्धिमान् के लक्षण बताते हुए कहा है— 'बुद्धिमान् बोलने से पहले सोचता है, मूर्ख बोलने के वाद सोचता है।'

वाणी का आठवा गुण 'मधुरता' है। इसके विषय मे पहले ही कहा जा

चुका है। वाणी के माधुर्य के अभाव मे आप कभी भी दूसरे के स्नेह व सद्भावना के अधिकारी नही बन सकते। कबीर ने सत्य कहा है, हम भी अनुभव करते हैं —

'मधुर वचन है औषधी, कटुक वचन है तीर।
श्रवण द्वार ते संचरै, सालै सकल सरीर॥

कटु वचनो का आघात तीर की तरह होता है पर मधुर वचन औपधि मल्हम का काम करते है। कटु वचन कानो से प्रवेश करते है और सपूर्ण शरीर मे वेदना पहुँचाते रहते है। सत्य बात भी अगर कडवे रूप मे कही जाय तो प्रिय नही लगती।

भगवान् महावीरने फरमाया है —**"काणं काण त्ति णो वएज्जा"**। काने को भी काना नही कहना चाहिये, क्योकि उसमे सत्य है पर माधुर्य नही। सत्य के साथ माधुर्य भी होना चाहिये।

"सत्यं बूयात् प्रियं ब्रूयान्न ब्रूयात् सत्यमप्रियम्।"

सत्य बोलो पर वह प्रिय हो। अगर अप्रिय है तो ऐसा सत्य भी मत कहो।

बधुओ! बोल का मोल अब आपने अच्छी तरह समझ लिया होगा। जब तक बात हमारे मुह मे रहती है तभी तक उसपर हमारा वश रहता है। लेकिन मुह से बाहर निकलते ही हम उसके वश मे हो जाते है। किसी ने ठीक ही कहा है कि "शब्द पिजरे से निकले हुए पक्षी की तरह है जो उडजाने के बाद वापिस नही आता।"

वाणी ही हृदय का दर्पण है इस दर्पण मे हृदय की कलुपता अथवा पवित्रता दिखाई देती है। वाणी के द्वारा प्रेम की गगा बहाई जा सकती है। वाणी के द्वारा ही घृणा व ईर्ष्या की आग भडकाई जा सकती है। कभी कभी तो ऐसी आग मे एक आदमी ही नही वरन् सारा राष्ट्र जल उठता है। इसलिये वाणी का प्रयोग करने से पहले विवेक पूर्वक विचार करना चाहिये। अगर हृदय उसे सही मानकर बोलने का आदेश दे तो वाणी का उपयोग करना चाहिये। जिस व्यक्ति का हृदय पहले बोलता है और वाणी बाद मे, वह महापुरुप होता है। और जिसकी वाणी पहले बोलती है और हृदय बाद मे, वह मध्यम पुरुप कहलाता है। किन्तु जिस व्यक्ति की पहले तथा

पीछे भी केवल वाणी ही बोलती है, हृदय कभी नहीं, वह अधम कहलाने का अधिकारी है। ऐसे व्यक्ति की समाज में प्रतिष्ठा नहीं होती। समाज में सम्मान प्राप्त करने का अधिकारी वही व्यक्ति हो सकता है जो वाणी को अपने वश में करना जानता हो। वाणी का सफल प्रयोग करना ही उसके मूल्य को समझना है। परिमित, मधुर, अहंकार रहित तथा चातुर्य पूर्ण वाणी का प्रभाव सुनने वाले पर चमत्कार पूर्ण प्रभाव डालता है। वाणी ही मनुष्य का सबसे सुन्दर आभूषण है जो कि मनुष्य के व्यक्तित्व में चार चांद लगा देती है।
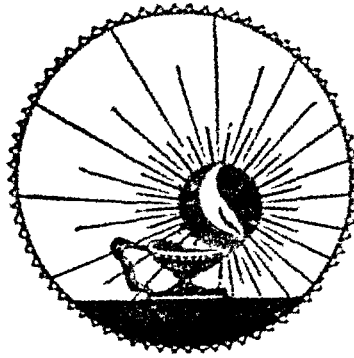
८ | # जेतो नीचो हो चले

"विणए ठविज्ज अप्पाणं इच्छतो हियमप्पणो"

उत्तराध्ययन सूत्र मे कहा गया है कि अपना हित चाहने वाला, आत्मा को विनय मे स्थापित करे।

विनम्रता जीवन का महान् गुण है। इसमे इतनी शक्ति है कि अन्य सारे गुण मिलकर भी इसका मुकाबला नही कर सकते। अगर विनय गुण जीवन मे आ जाए तो बाकी सारे गुण अपने आप चले आते है, इसमे इतना आकर्षण है। प्रत्येक साधक और ज्ञानार्थी के लिये विनय गुण प्रगति का प्रथम सोपान है।

विनय के द्वारा बडे से बडे क्रोधी को शात किया जा सकता है, पत्थर को भी पिघलाया जा सकता है। विनय वह शक्ति है जो मनुष्य को देवता वना देती है। आगस्टाइन ने कहा है—"गर्व से देवता दानव वन जाता है तथा विनय से मानव देवता।"

विनयी सूर्य के प्रकाश की तरह जहा जाता है, सम्मान प्राप्त करता है। महाविद्वान् न होने पर भी वह ससार को आकृष्ट कर लेता है। उसकी पाडित्य रहित भाषा भी सबको कर्ण-प्रिय लगती है।

विनय गुलामी अथवा दासता नही है। जो व्यक्ति इसे दासता मानता है वह स्वर्ग मे भी शाति प्राप्त नही कर सकता। इसके विपरीत, जो व्यक्ति विनय को आनन्द का स्रोत मानता है उसे आत्मा का साक्षात्कार होने लगता है। विनय से ही ज्ञान की प्राप्ति होती है। ज्ञानवान् आत्मा एक क्षण मे

जितने पापो का क्षय कर मकती है, अज्ञानी जन्म भर मे भी उतने पापो का क्षय नही कर सकता। इसलिये कहा गया है—

'विनयमूलो धम्मो"

विनय धर्म का मूल है। विनय से मनुष्य तो क्या देवता भी वश मे हो जाते है। भगवान को भी विनयी भक्तो के वश मे होना पडता है ऐसा कहा जाता है। इसके द्वारा ही मनुष्य दूसरो के हृदयो को जीत सकता है। दूसरो को अपने वश मे करने का यह बडा ही सरल व अमोघ उपाय है। नम्रता से जो कार्य हो सकता है वह चतुरगिणी सेना से भी नही हो सकता। विनयी की महिमा का सर्वत्र गान होता है। कोई उसका अपमान करने की इच्छा नही करता। महाभारत के शाति पर्व मे वर्णन आता है—

एकवार समुद्र ने नदियो से पूछा—तुम लोग वडे वडे वृक्षो को तो वहा कर लाती हो किन्तु अपने तट पर उत्पन्न होने वाले वेत को कभी भी नही लाती। इसका क्या कारण है ?

गगा ने उत्तर दिया—देव ! हम तो उन्ही वृक्षो को उखाडकर लाती है जो हमारे जल से ही पोपित होते है और हमारे सामने ही अकडे रहते हैं। वर्षाऋतु मे हमारे वेग के आगे भी वे नही झुकते। पर वेत ऐसा नही करता। वह तो हमारे प्रवाह के सामने झुक जाता है और हमारा सम्मान करता है। उसकी विनम्रता हमे सतुष्ट कर देती है अत. हम उसे उखाडती नही, वरन् उसकी रक्षा करती है।

सज्जनो ! इस उदाहरण से स्पष्ट समझा जा सकता है कि जो झुकना जानते हैं वे कभी अपमानित नही होते तथा असफल नही होते। विनम्रता से झुके रहने वाले व्यक्ति ही महान् वनते हैं। झुककर ही ऊचा उठा जा सकता है। हम कुए मे घड़ा डालते हैं, कुआ पानी से लवालव भरा है। घडे के चारो ओर पानी है, पर घडा कव भरेगा ? जव वह झुकेगा। विन झुके उसमे एक बूद पानी भी आना सभव नही है।

इस तरह एक ज्ञानार्थी भले ही किसी महात्मा के पास, विद्वान के पास जाए, अथवा अनेक विपयो के ज्ञाता प्रोफेसरो के पास जाए, पर ज्ञान तभी प्राप्त कर मकेगा जवकि उसके हृदय मे विनम्रता होगी। अन्यथा वह ज्ञान के सागर के किनारे पहुँच कर भी कोरा ही लौटेगा। उसका कारण यह है कि ज्ञानार्थी के अह व उसकी उद्दडता के कारण ज्ञान उसके अन्त.करण मे प्रवेश ही नही कर सकता।

विनयी का हृदय अभिमान, मद व मत्सर से खाली रहता है इसलिये उसमे ज्ञान का अमृत समा सकता है किन्तु अभिमानी का हृदय अह से भरा रहता है अत गुरु का दिया हुआ ज्ञानामृत उसमे आ नही सकता। वह ऊपर से ही बहता चला जाता है।

हृदय एक तिजोरी के सदृश है। कोई सम्पन्न लोग गोदरेज की तिजोरी अपनी पुत्री की शादी मे जमाई को देते है। पर जमाई अगर उसमे धन पैसा, हीरे जवाहरात अथवा अन्य बहुमूल्य वस्तुए न भरे और ककर पत्थर भरकर रख दे तो आपको अच्छा लगेगा क्या ? नही ! बस इसी तरह हृदय भी एक तिजोरी है, जिसमे हमे विनय आदि सद्गुण भरना चाहिये। अहकार, क्रोध आदि ककर पत्थर नही।

कहने का तात्पर्य यह है कि हृदय की शक्ति विनय गुण से बढती है और जिसमे यह शक्ति नही होती वह कुछ भी नही कर सकता। उसका मन लगडे व्यक्ति की तरह होता है और मन के लगडे व्यक्ति को असख्य देवता मिलकर भी नही उठा सकते।

हा तो मैं बता रही थी कि झुकने वाला व्यक्ति ही उठ सकता है। मदिरो मे ढुलने वाले चवर भी जितने ज्यादा झुकते है उतने ही वापिस ऊचे उठते है पर बन्धुओ! झुकने का अर्थ सिर्फ शरीर का झुक जाना ही नही। हमारा शरीर तो अपने कार्यों को करने के लिये दिन भर मे अनेको बार झुकता है। पहलवान जब कसरत करने बैठता है तो घटे तक वह नाना प्रकार से अपने शरीर को मोडता है, झुकाता है। किन्तु ऐसे झुकने का क्या अर्थ है ? अर्थ तब होता है जबकि विनय से मन झुके। तन के साथ जब मन भी झुकता है तभी सच्चा झुकना कहलाता है।

अब हम देखेगे कि मन का झुकना क्या है ? मन के झुकने का सर्व प्रथम लक्षण है मन के अभिमान का गलना। जब तक अहकार की भावना मन से नही निकलती तब तक हमारे सामने कितना भी महान् व्यक्ति क्यो न आ जाय, झुकने की भावना नही हो सकती। जब तक मन मे अहकार रहेगा मनुष्य यही समझता रहेगा कि वह सर्वगुण-सम्पन्न है अत किसी से हीन नहीं। वह नही मान सकता कि लघुता सरलता का चिन्ह है। कबीर ने भी कहा है—

सबते लघुताई भली, लघुता ते सब होय।
जस द्वितिया को चन्द्रमा, शीश नवै सब कोय॥

दूज का चन्द्रमा लघु होता है पर उसे सभी नमस्कार करते हैं। अतः मन से बडप्पन की भावना को निर्मूल कर देना चाहिये। लघु बालक चाहे वह मनुष्य का हो अथवा पशु-पक्षियो का, कितना प्रिय लगता है? यहा तक कि शत्रु का बालक भी हमारे सामने आजाय तो भी प्यार करने की इच्छा होती है। क्योकि उसमे अहं नही होता सरलता होती है। छोटे बच्चे को हम जैसा सिखाएँ वह सीखने लगता है। जैसा कहे वैसा करने लगता है।

नम्रता देवत्व के समान है। इसी के द्वारा मनुष्य की शिष्टता प्रगट होती है। लोक जीवन की विभूतिया विनम्रता से ही सुलभ होती है। नम्रता ही समस्त सद्गुणो का दृढ आधार है। कन्फ्यूशियस ने कहा है—

"Humility is the solied foundation of all the virtues"

विनम्रता के मुख्य लक्षणो में प्रथम है—'कडवी बात का मीठा उत्तर देना।' कटु उत्तर तो आपको किसी से भी मिल जाएगा। पशु-पक्षी भी ताडना का विरोध करते हैं। बिच्छू स्पर्श होते ही डक मार देता है। सर्प पैर पडते ही जहर उगल देता है, कुत्ता लाठी दिखाते ही भौकने लगता है। मनुष्य का तो पूछना ही क्या है? वह तो एक बात पर मरने-मारने को तैयार हो जाता है। पर उससे क्या होता है? क्या कोई कार्य सफलता-पूर्वक सम्पन्न हो सकता है? कभी भी नही। ऐसी मानवता का मूल्य एक कोडी के बराबर भी नही है। मूल्य उस मानवता का है जिसमे जहर के बदले अमृत देने की शक्ति है।

सत्यवान-सावित्री की कथा आप जानते होगे। यमराज जिस समय सत्यवान के प्राण लेकर चले थे उस समय सावित्री ने नारियो के स्वभावानुसार उन्हे बुरा-भला नही कहा था। न ही गालियो की बौछार शुरू की थी, वरन् उनको हाथ जोडकर तथा उनकी वदना-स्तुति करके बडे विनय से यमराज को प्रसन्न किया था और अपने पति के साथ, प्राणो के साथ साथ अपने स्वसुर का राज्य तथा नेत्रो की ज्योति का भी वरदान प्राप्त कर लिया था। कौटिल्य ने कहा है.—

'स्तुता अपि देवतास्तुष्यन्ति"

विनय-स्तुति से तो देवता भी वश मे हो जाते है, मनुष्य की तो बिसात ही क्या है?

यदि कभी अपने प्रति किये गए दुर्व्यवहार के कारण मन मे क्रोध जागृत हो जाए तो भी हमे उस पर नियत्रण करना चाहिये। वाणी से, मुद्रा से

अथवा इंगित से किसी प्रकार भी उसे व्यक्त नही होने देना चाहिये। जब वार वार इस प्रकार किया जाएगा तो क्रोध के प्रतिरोध मे क्रोध न करने की हमारी आदत पड जाएगी। प्रेमचन्द्रजी ने कहा भी है—"क्रोध मे आदमी अपने मन की बात नही कहता वह तो दूसरो का दिल दुखाना चाहता है।" इसलिये यह आवश्यक है कि मनुष्य को नम्रता के साथ ही साथ मिष्टभाषी भी होना चाहिये। मिष्टभाषण को अगर वशीकरण मन्त्र भी कहा जाय तो अत्युक्ति नही होगी।

कागा कासो लेत है, कोयल काको देत।
मीठे वचन सुनाय के, जग वस मे कर लेत॥

अब हम नम्रता के दूसरे लक्षण पर आते है। यह है जब सामने वाले को क्रोध आवे तो चुप रहना। आग जब तीव्र होती है उस समय अगर और भी ईंधन डाला जाय तो वह और भी वेग से भडक उठती हे। आग मे पानी डालने का प्रयत्न होना चाहिए। इसी प्रकार क्रोध रूपी अग्नि को शान्त करने के लिये मिष्टवचन रूपी जल उसमे डालना चाहिये किन्तु अगर उससे वह नही बुझती है तो मौन धारण कर अलग हो जाना चाहिये, ताकि क्रोध स्वय शात हो जाय। कालहित ने कहा है —

Silence is more eloquent than words"

अर्थात् मौन मे शब्दो की अपेक्षा अधिक वाक्शक्ति होती है। हम जवान से कहकर जितना प्रभाव नही डाल सकते उससे अधिक प्रभाव मौन रहकर डाल सकते है। ड्रोइडेन ने भी यही कहा है कि विपत्ति मे मौन रहना अति उत्तम है। क्रोधी व्यक्ति से पाला पडना भी विपत्ति से कम नही है। अत उस समय बोलना बुद्धिमानी का लक्षण नही है?

एक स्त्री का पति बडा ही क्रोधी था। हमेशा वह पत्नी से गाली गलौज किया करता था। पत्नी कोशिश तो बहुत करती थी टालने की पर जबान से एक दो वाक्य निकल ही जाते और झगडा बढ जाता एक दिन वह स्त्री अपनी पडौसिन के यहा गई और उसे अपना दुख बताया।

पडौसिन ने कहा—बहन! परेशान मत होओ एक काम करो। वह यह कि जब तुम्हारे पति तुम्हे बुरा-भला कहने लगे तो तुम उतनी देर के लिये बोलने का त्याग कर देना।

उस स्त्री ने ऐसा ही किया। दो-चार दिन पति के दुर्वचन कहने पर वह

मौन ले लिया करती थी। फलस्वरूप कुछ दिन बाद उसका पति बिलकुल शांत हो गया। कविवर वृन्द ने बताया है—

> कछु कहि नीच न छेड़िये, भलो न वाको संग।
> पाथर डारे कीच मे, उछरि बिगारे अंग॥

कीचड़ मे पत्थर डालने से कीचड़ उछलकर अपना शरीर गन्दा कर देता है, इसी तरह क्रोध के समय बोलने से कटु-वाक्य सुनने पड़ते हैं। अतः ऐसे अवसर पर मौन रहना ही सर्वोत्तम है।

नम्रता का तीसरा लक्षण है—किसी अपराधी को सजा देते समय भी मन मे दया भाव रखना। हमारे प्रति कोई कितनी भी बुरी भावना रखे, कैसा भी अनिष्ट करे, महान् अपराध भी करे, तब भी हमे उसके प्रति दुर्भावना नही रखना चाहिये। कदाचित् सजा देने का अवसर मिले तो सजा देते समय भी मन मे दयार्द्रता होनी चाहिये। अपराधी के साथ ऐसा व्यवहार करना चाहिये कि वह अपने अपराध के लिये पश्चात्ताप करे तथा अपने जीवन मे बुराइया दूर करे।

महर्षि दयानन्द को एक व्यक्ति ने विष दे दिया था। जब उसे पकड़ कर उनके सामने लाया गया तो उन्होने कहा—"इसे छोड़ दो, मैं ससार को कैद कराने नही, वरन् मुक्त कराने आया हू।"

ईसा को जब शूली पर चढ़ाया गया तो उन्होने अपने शत्रुओ के लिये प्रार्थना की—"प्रभो! ये अज्ञानवश ऐसा कर रहे हैं, इन्हे प्रकाश दो।"

भगवान् महावीर को नागराज चण्डकौशिक ने डस लिया था। फिर भी उन्होने उसे ताडना न देकर प्रतिबोध दिया, फलस्वरूप उस विषधर ने जीवन भर के लिये अपना विशालकाय फन बिल के अन्दर डाल दिया। यहा तक कि चीटियो ने उसके शरीर को छलनी बना दिया। बच्चो ने व क्रूर व्यक्तियो ने उसके शरीर पर पत्थर मार मार कर घाव कर दिये। फिर भी उसने अपना नियम किसी को न सताने का न तोडा। वह जानवर था, हम मनुष्य हैं। अत हममे उससे अधिक क्षमा व दयाशीलता होनी चाहिये।

ये उदाहरण तो अपराध के बदले पूर्ण क्षमा प्रदान करने के है। अगर आवश्यकता ही पड जाए अपराधी को दंड देने की तो माता-पिता व गुरु जिस तरह बालक को दड देते है, उसी तरह दड देना चाहिये। माता-पिता व गुरु पुत्र अथवा शिष्य को दड देते है, किन्तु उसके पीछे बालक के प्रति महान्

वात्सल्य व हित भावना होती है। दड देते समय हाथ कठोर हो सकते है किन्तु हृदय कठोर नही होना चाहिये। गुरु को इसीलिये विनय की प्रतिमूर्ति कहते हैं। स्नेह व दयालुता उनके हृदय मे कूट-कूट कर भरी हुई होती है। इसीलिये शिष्य को दड देने पर भी शिष्य का हित होता है और स्वय उनकी प्रतिष्ठा शिष्य के योग्य बनने पर बढ जाती है। शेक्सपीयर ने भी यही कहा है —

Mercy is twice blessed, it blesseth his that gives, and him that takes

अर्थात् दया दोतरफी कृपा है। इसकी कृपा दाता पर भी होती है और पात्र पर भी।

इसलिये प्रत्येक साधक को गुरु के प्रति अत्यन्त विनयभाव रखना चाहिये। सच्चा साधक व शिष्य वही कहलाता है जो अपने गुरु के सकेत मात्र से उनके मन के अनुसार कार्य करे। उनके कभी कुपित होने पर भी विनीत वचनो से अपने अपराध के लिये क्षमायाचना करे। विनम्र शिष्य ही सच्चा ज्ञान प्राप्त कर सकता है।

आजकल हम देखते है कि छात्रो मे अपने अध्यापको के प्रति आदर व नम्रता की भावना नही होती। इसीलिये स्कूल वह कॉलेजो की बडी बडी इमारतें होने पर भी, प्रत्येक विषय के भिन्न भिन्न अध्यापक होने पर भी तथा असख्यो पुस्तकें होने पर भी विद्यार्थियो की ज्ञान की झोली खाली ही रह जाती है। अहकार व उद्दडता उनके हृदय मे भरी रहती है अत ज्ञानामृत ऊपर से ही बहता चला जाता है। शिष्य की उद्दडता तथा अनुशासनहीनता गुरु के मन को भी खिन्न कर देती है। उत्तराध्ययन सूत्र मे बताया गया है —

रमए पडिए सास, हयं भद्द व वाहए।
बालं सम्मइ सासंतो, गलियस्स व वाहए॥

— उत्तराध्ययन सूत्र अ० १

जैसे उत्तम घोडे का शिक्षक प्रसन्न होता है, वैसे ही विनीत शिष्यो को ज्ञान देने मे गुरु प्रसन्न होते है। किन्तु दुष्ट घोडे का शिक्षक और अविनीत शिष्य के गुरु खेदखिन्न होते है।

बहुत से व्यक्ति तनिक सी विद्या पाकर अभिमान से भर जाते है। विद्या पाकर अकडने वाले मनुष्य की विद्या का कोई महत्त्व नही होता।

विद्या से अहकार नही, नम्रता आनी चाहिये । किसी नीतिकार ने कितना सुन्दर पद लिखा है —

विद्या ददाति विनयं, विनयाद्याति पात्रताम् ।

'विद्या से विनम्रता आती है तथा विनम्रता से पात्रता यानी योग्यता । योग्य व्यक्तियों के सद्गुण तथा सम्पत्ति स्वय आ जाते है ।

बन्धुओ ! आपने न्यूटन का नाम सुना होगा । उन्होंने गुरुत्वाकर्षण आदि सिद्धान्तो का आविष्कार किया था । सारे इंग्लैंड को उन पर गर्व था पर न्यूटन को नही । एक दिन एक महिला उनसे मिलने आई और उनकी योग्यता व बुद्धि की सराहना करने लगी । न्यूटन बडी नम्रता से बोले :—

Alas ! I am only like a child picking up pebbles on the shore of the giant ocean of truth

अर्थात्—मै तो उस बच्चे की तरह हू जो सत्य के विशाल समुद्र के किनारे पर बैठा केवल कंकरो को चुनता रहा है ।

फ्रांस के राजा हेनरी चतुर्थ एक बार अपने अधिकारियो के साथ कही जारहे थे । रास्ते मे एक भिक्षुक ने उन्हे टोपी उतारकर अभिवादन किया । सम्राट ने भी प्रत्युत्तर मे वैसा ही किया । यह देखकर एक अधिकारी ने कहा—महाराज ! क्या भिखारी को अभिवादन करना उचित है ? हेनरी ने उत्तर दिया– "मुझे एक भिक्षुक जितना नम्र तो होना ही चाहिये । सभ्यता मिथ्या अभिमान मे नही, नम्रता मे है ।'

महात्मा गाधी एकबार बडे सादे वेश मे कही व्याख्यान देने गए । लोगो ने उन्हे पहचाना नहीं और पानी लाने के लिये तथा सब्जी काटने के लिये कहा । गांधीजी ने सहर्ष इन कामो को कर लिया । ईश्वरचन्द्र विद्यासागर एक युवक मुसाफिर के कहने पर उसका ट्रंक सिर पर उठाकर चल दिये ।

इस प्रकार अगर हम महापुरुषो की जीवनिया देखे तो पता चलता है कि उनमे कितनी नम्रता होती थी । आज भी ऐसे महापुरुषो की कमी नही है ।

नम्र व्यक्ति को न किसी से भय होता है और न ही किसी को प्रसन्न करने की चिन्ता । नम्रता मानव जीवन का सुन्दर आभूषण है । इससे मनुष्य के गुण सौरभ-पूर्ण हो जाते हैं । यह विद्वत्ता, धन तथा बल सभी मे चार चांद लगा देती है । गांधीजी ने कहा है—"ससार के विरुद्ध खडे रहने की

शक्ति प्राप्त करने के लिये मगरूर या तुच्छ बनने की जरूरत नही है। ईसा, बुद्ध तथा प्रह्लाद सभी जमाने के खिलाफ गए। वे नम्रता के पुतले थे, इसीलिये सफल हुए।"

ईसा भी कह गए हे—"बडे को छोटा बनकर रहना चाहिये, क्योकि जो अपने आपको बडा मानता है वह छोटा बनता है और जो छोटा बनता है वह बडा पद पाता हे।"

ऊँचा पानी ना टिके नीचे ही ठहराय।
नीचा होय सो भरि पिवै, ऊँचा प्यासा जाय॥

—कबीर

जीवन का सौरभ | १

मैत्री

जीवन एक यात्रा है। यह यात्रा प्राणी मात्र को करनी पड़ती है। सुखी हो अथवा दुःखी, गरीब हो अथवा अमीर, सशक्त हो अथवा अशक्त जीवन-पथ तो सभी को तय करना ही पड़ेगा। जीवन-मार्ग पर चाहे हंसकर चला जाय चाहे रोकर। चलना तो पड़ना ही है।

सुखी और सशक्त व्यक्ति इस पथ पर सरलता-पूर्वक प्रसन्न मन से चलते रहते हैं, किन्तु निर्बल और मन के अशक्त व्यक्ति बड़ी कठिनाई से रास्ता पार करते है। जगह-जगह गिरते-पड़ते, उठते-बैठते अपनी मंजिल तय करते हैं। किन्तु ऐसे यात्रियो की यात्रा भी बहुत कुछ सुगम हो जाती है अगर उन्हे सच्चा साथी या मित्र मिल जाए।

साथी के बिना यात्रा सूनी रहती है। सहयोगी के अभाव मे हम न पूरी प्रसन्नता का अनुभव कर पाते है और न दुःख के बोझ को ही हल्का कर सकते है। हमारा हर्ष भी अपूर्ण रह जाता है और दुख भी उन मे बटा रहता है। हर्ष और शोक दोनो का ही बटवारा करने वाला साथी मित्र ही होता है। मनुष्य के समस्त नातो मे मित्रता का नाता सबसे महान् है, क्योंकि मित्र से कोई बात छिपाई नही जाती। किसी तरह का कपट नही किया जाता। कपट जहां होता है वहा मित्रता नही रह पाती। मित्र ही एक ऐसा स्थल है जहा व्यक्ति कुछ भी छिपाकर नही रखता। अपने दुख तथा सुख दोनो को ही वह मित्रो मे बाट देता है।

मित्र के अभाव मे किसी भी मनुष्य का जीवन बीतना कठिन हो जाता है। मनुष्य ही क्या पशु पक्षी भी बिना साथी के नही रहते। पशु प्राय

टोलियो मे घूमते है। पक्षी भी प्राय. मुक्त गगन मे सुन्दर कतारे बनाकर उडते है। मित्रो के कारण जीवन मे मिठास आजाती है। इसीलिये प्रत्येक प्राणियो को मित्र की आवश्यकता पडती है। विद्वान् एडीसन ने कहा है—

"Friendship improves happiness and abates misery, by doubling our joy and dividing our grief"

दोस्ती खुशी को दूना करके और दुख को बाटकर प्रसन्नता बढाती है तथा मुशीबत कम करती है।

मित्रता से पूर्व साधारण परिचय होता है। जब हम किसी व्यक्ति से प्रथम बार मिलते है तो सामान्य परिचय होता है और दुबारा जब साक्षात्कार होता है तो कुछ रागात्मक सम्बन्ध पैदा होता है। यदि दूसरे व्यक्ति का शील तथा स्वभाव हमारे अनुकूल होता है तो फिर धीरे-धीरे यही सम्बन्ध दृढ होता जाता है। वही मित्रता कहलाती है। एकबार, दोबार किसी के मिलने पर ही उसे मित्र मान लेना भूल है। अल्प समय मे किसी व्यक्ति का विश्वास करना बडी भारी गलती है। लम्बे समय तक धीरे धीरे परीक्षा करने के बाद ही किसी को मित्र मानना चाहिये तथा अपने मन की बात उस पर जाहिर करना चाहिये। सुकरात का कथन है—

"मित्रता करने मे धैर्य से काम लो, किन्तु मित्रता कर ही लो तो उसे अचल तथा दृढ होकर निबाहो।"

मित्रता को उच्चता के शिखर पर धीरे-धीरे चढने देना चाहिये। अगर जल्दबाजी की जाएगी तो वह क्लान्त हो जाएगी। साधारण परिचय क्षीण होता है किन्तु मित्रता स्थायी होती है। दार्शनिक हरबर्ट ने कहा है—

'मित्र बनाने मे पूर्व उसके साथ पाच सेर नमक खाओ"

प्रश्न उठ सकता है कि मित्रता किस प्रकार के मनुष्यो मे हो सकती है? अर्थात् मित्र बनाते समय किन किन बातो का ध्यान रखना चाहिये?

मित्र बनाते समय सर्वप्रथम तो यही ध्यान रखना चाहिये कि मित्र अधिक न बनाए जायँ। जिस तिस को मित्र मान लेना खतरनाक होता है। हेनरी आदम्म का कथन है—

"जीवन मे एक मित्र मिल गया तो बहुत है, दो बहुत अधिक है तीन तो मिल ही नही सकते।"

लेवेटर ने भी कहा है—

"कभी उस व्यक्ति से मित्रता मत करो, जिसने तीन मित्र बनाकर छोड़ दिये हो।"

बहुत से व्यक्तियो की आदत होती है कि वे कदम कदम पर बस मे, ट्रेन मे, सिनेमा मे और दर्शनीय स्थलो पर, जगह जगह मित्र बनाया करते है। लेकिन उनसे फायदा क्या ? कुछ नही। वे सिर्फ नाम के मित्र रह जाते है, काम कोई नही आता। ऐसे अनेको मित्र बनाने की अपेक्षा तो एक सच्चा मित्र ही भला, जो जीवन पर्यन्त साथ देता है। अरस्तू ने कहा है—जिसके बहुत से मित्र है, निश्चय जानो उसके एक भी मित्र नही है।"

दूसरी बात मित्रो का चुनाव करते समय यह ध्यान मे रखनी चाहिये कि मित्र ज्ञानवान् हो, मूर्ख नही। मूर्ख व्यक्ति से मित्रता करना अपने ही पैरो मे कुल्हाडी मारने के सदृश है। एक अफगानी कहावत है—"मूर्ख से मित्रता करना रीछ को गले लगाना है।" मूर्ख मित्र की अपेक्षा बुद्धिमान शत्रु भी अच्छा। मूर्ख मित्र बेवकूफी के कारण स्वय तो डूबते ही है साथ साथ अपने मित्र को भी ले डूबते है। कबीर ने कहा है—जिस प्रकार गाड़ी भर लकडी की अपेक्षा एक चुटकी भर चन्दन अच्छा होता है, उसी तरह साठ मूर्ख मित्रो की अपेक्षा एक चतुर मित्र होना उत्तम है।

चन्दन की चुटकी भली, गाडी भला न काठ।
चतुर तो एकहि भला, मूरख भले न साठ॥

किसी ने कहा है—

"Life has no blessing like a prudent friend"

ज्ञानी मित्र के सदृश जीवन मे कोई वरदान नही। तीसरी बात-यह है कि मित्रता सदा समान स्थिति वाले से की जाय। अपने से अधिक सम्पत्ति-शाली व्यक्ति से मित्रता करने से पग पग पर तिरस्कृत होने की सभावना रहती है। प्राय सभी व्यक्ति मित्र का सम्मान नही कर सकते।

अमेरिका की बहुत बड़ी, फोर्ड कम्पनी के मालिक फोर्ड हेनरी की गिनती धन कुबेरो मे होती थी। एकबार एक पत्रकार ने उनसे पूछा—आपको विपुल ऐश्वर्य तथा सुख के अन्य सब साधन भी उपलब्ध है फिर भी क्या आपको अपने जीवन मे कोई अभाव नजर आता है ?

हेनरी फोर्ड ने कहा—मुझे सपत्ति तथा सुयश सभी कुछ मिला है किन्तु

ससार की सर्वाधिक कीमती वस्तु 'मित्र' मैं नही पा मका । मेरे धन के नशे ने मुझे लोगो के दिल से मिलने नही दिया । जब जब मैने किसी से मित्रता स्थापित करने की कोशिश की तब तब मेरे धन का अहकार दीवार बनकर हमारे बीच मे खडा हो गया । आज मेरा मन अपनी सारी सपत्ति देकर भी मित्र पाने के लिये तडप रहा है । अगर विधाता मुझे फिर से जीवन का इतिहास निर्माण करने दे तो मैं सबसे पहले मित्र की खोज करूगा ।

अमेरिका के विश्वविख्यात धन कुबेर 'कारेनगी' ने भी अन्त मे यही कहा था कि "मेरी सारी सपत्ति ले लो पर उसके बदले मे मुझे केवल एक ही सच्चा मित्र दे दो ।"

बधुओ ! आप समझ गए होगे कि धन मित्रता का नाश करता है । धनी तथा निर्धन की मित्रता प्राय स्थायी नही रह सकती । समान सपत्ति तथा समान गुण वालो मे ही मित्रता कायम रह सकती है । कहते भी है —

मृगा, मृगै सङ्गमनुव्रजन्ति,
गावश्च गोभिस्तुरगास्तुरङ्गै. ।
मूर्खाश्च मूर्खै : सुधियः सुधीभिः,
समान-शील-व्यसनेषु सख्यम् ॥

—सुभाषित सचय

मृग अर्थात् हिरण हिरणो के साथ, गाये गायो के साथ, घोडे घोडो के साथ चलते है तथा मूर्ख मूर्खो के साथ और बुद्धिमान् बुद्धिमानो के साथ ही मित्रता रखते है । तात्पर्य यही है कि समान विचार तथा समान व्यवहार वाले व्यक्तियो मे ही मित्र-भाव टिक सकता है ।

वाल्मीकि का कथन है कि—"मित्रता तथा शत्रुता भी बराबर वालो मे करो ।" शेखसादी भी कह गए है—"या तो हाथी वाले से मित्रता मत करो, या फिर ऐसा मकान बनवाओ जहाँ उसका हाथी आकर खडा हो सके ।"

दरिद्र ब्राह्मण सुदामा से जब उसकी पत्नी द्वारिका के महाराज, पर बचपन के मित्र कृष्ण के पास जाने का आग्रह करती है तो वे उसे समझाते है कि—मित्रता मे परस्पर समानता होनी चाहिये । अगर हम मित्र के यहा खाते है तो मित्र को भी हमे खिलाना चाहिये । दुख-सुख तो भोगना ही पडता है अत विपत्ति आने पर कभी धनी मित्र के भी यहा नही जाना चाहिये ।

मित्र के मिले ते चित्त चाहिए परसपर,
मित्र के जो जेइये तो आपहू जेंवाइये ·
सुख दुख करि दिन काटे हीं बनेगे भूलि,
विपति परे पै द्वार मित्र के न जाइये।

चौथी बात मित्रता के विषय मे यह है कि अपना सच्चा मित्र उसे ही मानना चाहिये जो कि विपत्ति के समय हमारे काम आवे तथा संकट के समय साथ देवे। अच्छे दिनो मे तो दुर्जन भी मित्र बन जाते है।

आपत्काले तु सम्प्राप्ते, यन्मित्र मित्रमेव तत्।
वृद्धिकाले तु सम्प्राप्ते दुर्जनोऽपि सुहृद् भवेत्॥

मनुष्य के लिये मित्र जितने आवश्यक है, उनका ढूंढना उतना ही कठिन है। बहुधा ऐसा होता है कि हम ऊपरी तडक-फडक पर मुग्ध हो जाते है, सुन्दर मुख, कलापूर्ण बातचीत करने का ढग तथा विनोदप्रिय प्रकृति आदि हमे किसी साथी को मित्र समझने मे पर्याप्त कारण बन जाती है। परन्तु जिस प्रकार कसौटी पर कसे बिना खरे-खोटे सोने की पहचान नहीं होती, उसी प्रकार अपनी विपत्ति-कसौटी पर कसे बिना मित्र की भी पहचान नही होती। कवि रहीम ने कहा है —

कहि रहीम सम्पति सगे बनत बहुत बहु रीत।
विपति कसोटी जे कसे, तेई साचे मीत॥

ऐसा मित्र सबसे निकृष्ट होता है जो अच्छे दिनो मे पास आता है और मुसीबत के दिनो मे मुँह फेर लेता है—The worst friend is he who frequents you in prosperity and deserts you in misfortune.

ऐसे मित्र सरोवर के बगुले की तरह होते हैं। जब तक आपके पास समृद्धि रूपी जल परिपूर्ण है तब तक वे भी डेरा डाले रहेंगे, लेकिन जहाँ वह खतम हुई कि एक भी मित्र रूपी बगुला नजर नही आता। मित्र तो मीन की तरह होना चाहिये जो जल से अलग होकर जीवित ही नही रह सकती।

जब प्रतिकूल परिस्थितियाँ आती हैं और विपत्ति की काली घटाएँ मंडराने लगती है, मनुष्य उस समय व्यथित होकर सहायक ढूँढता है। सच्चा मित्र उस समय काम आता है। ऐसे समय मे मित्र की सहायता, मित्र की सहानुभूति, मित्र की सान्त्वना और मित्र के उत्साहवर्धक वचन सजीवनी औषधि का काम करते हैं और मित्रता उस समय अमृत तुल्य मालूम होती है। तुलसीदासजी ने कहा भी है—"धीरज धर्म मित्र अरु नारी,

आपत काल परखिये चारी ।" विपत्ति के समय मे ही देखा जाता है कि धैर्य, धर्म, मित्र तथा पत्नी इनमे से कौन साथ देता है और कौन त्यागता है ।

भारत के इतिहास मे अनेक सच्चे मित्रो के उदाहरण मिलते है । कृष्ण तथा सुदामा की मित्रता की कथा कौन नही जानता ? सहस्रो वर्ष बीत जाने पर भी उनकी आदर्श मित्रता के गुण गाए जाते है । कहा द्वारिका के महाराज श्रीकृष्ण और कहा दाने-दाने को तरसने वाला सुदामा ।

पत्नि के द्वारा जवर्दस्ती भेजे जाने पर विचारे सुदामा वडी कठिनाई से द्वारिका पहुँचे और अपने आने की सूचना कृष्ण को भिजवाई । उनके मन मे महाराज मित्र के द्वारा सम्मान पाने की आशा तो थी ही नही, उलटे तिरस्कृत होने की आशका थी ।

किन्तु कृष्ण तो सुदामा का नाम सुनते ही भागते हुए महल के वाहर आए और अपने गरीव तथा विपत्तिग्रस्त मित्र को ससम्मान महलो मे ले गए । सुदामा की दीन-हीन दशा, क्षत-विक्षत पैर तथा जीर्ण-शीर्ण वस्त्र देखकर कृष्ण के नेत्रो से जलधारा वहने लगी । कविवर नरोत्तमदास ने वडे ही मार्मिक शब्दो मे उस प्रसग का चित्रण किया है—

ऐसे वेहाल बिवाइन सो पग कटक जाल लगे पुनि जोए ।
हाय महादुख पायो सखा ! तुम आए इतै न कितै दिन खोए ।।
देखि सुदामा की दीन दसा, करुणा करि के करुणानिधि रोए ।
पानी परात को हाथ छुयो नहिं नैनन के जल सो पग धोए ।।

सुदामा के पैरो मे गहरी विवाइया फटी हुई थी और कॉटो मे पैर क्षत-विक्षत हो गए थे । कृष्ण ने स्वय अपने हाथो से उनके पैरो के काटे निकाले । लहूलुहान पैर देखकर कृष्ण की आखो से आसू झरने लगे और विना जल के ही मानो सुदामा के पैरो का प्रक्षालन हो गया ।

अत्यन्त द्रवित होकर कृष्ण ने कहा—हाय सखा ! तुमने वडा दुख भोगा । ऐसा था तो पहले ही क्यो नही आ गये ? इतने दिन तुमने कहा खो दिये ?

इसके बाद कृष्ण ने वडे ही आदर मान से कई दिन तक सुदामा को अपने यहा रखा और उनके वापिस लौटने पर उन्हे असीम वैभव प्रदान किया ।

वधुओ ! ऐसे मित्र मित्र कहलाते है । यो तो अपने को मित्र कहने वाले अनेको होते है ।

सम्पत मे ससार, हर कोई हेतु होवे।
विपत पडवारी चार, नैण न जोवे राजिया।

ऐसे मित्रो को तो परीक्षा करते ही अविलम्ब त्याग देना चाहिये, जो अच्छे दिनो मे किये हुए अनेक उपचार भी विपत्ति पडने पर भूल जाते है —

किधोड़ो उपकार, नर कृतघ्न जाणे नहीं।
लख लानत ज्याँ लार (पीछे) रजो उड़ावो राजिया।

पाचवी पहचान मित्र की यह है कि वह मित्र को उन्नति की ओर ले जाने वाला हो, पतन के गर्त मे गिराने वाला नही।

कभी कभी जीवन मे ऐसा समय आता है कि मनुष्य अपना मार्ग निर्धारित नही कर पाता। वह विक्षिप्त होकर कुमार्गगामी हो जाता है। उस समय अगर कोई मार्गदर्शक न हो तो उसका पतन हो जाता है।

ऐसे समय मे मित्र अत्यन्त उपयोगी सिद्ध होता है। वास्तव मे मित्र वही है जो मित्र को कुमाग से रोककर सुमार्ग पर चलावे। पतन की ओर से लौटाकर सन्मार्ग दिखावे।

१९४२ मे कच्छ मे पोपटलाल नामक व्यक्ति था। उसकी एक नाई से गहरी दोस्ती थी। वे दिन मे एक दूसरे से दो-तीन बार अवश्य मिल लेते थे।

एक बार पोपटलाल को जूआ खेलने का चस्का लगा और वह करीव एक सप्ताह तक उस नाई से, जिसका नाम अब्दुल्ला हज्जाम था, नही मिल सका। नाई को इस बात का पता चल गया था पर वह भी पोपटलाल से मिलने नही गया।

एक सप्ताह के वाद पोपटलाल से रहा नही गया और वह अब्दुल्ला हज्जाम से मिलने चल दिया। जिस दुकान पर अब्दुल्ला हज्जाम अधिक समय तक बैठा करता था, पहले वह उसी दुकान पर पहुँचा। दुकानदार से पूछने पर उसने बताया कि अब्दुल्ला इस आलमारी के पीछे बैठा है।

पोपटलाल ने जाकर देखा, तो पाया कि हज्जाम तो दोनो पैरो के बीच मस्तक दवाकर बैठा हुआ आँसू बहा रहा था। पोपटलाल चकराए और उन्होने उसके रोने का कारण पूछा!

हज्जाम ने कहा—मेरे रोने का कारण सिर्फ यही है कि आपने जूआ खेलना शुरू कर दिया है और लोग आपको नही वरन् मुझे धिक्कारेगे कि एक हज्जाम की दोस्ती के कारण ही पोपट भाई ने उल्टी राह पकडली। मै आपसे

विनती करता हू कि आज से या तो आप मेरी मित्रता छोड दीजिये या जूआ खेलना छोड दीजिये ।

पोपटलाल पर इसका बडा प्रभाव पडा और उनकी आखे छलछला आई । उस दिन से ही उन्होने फिर कभी जूआ न खेलने की प्रतिज्ञा ले ली । एक मुसलमान होते हुए भी अब्दुल्ला हज्जाम ने अपने हिन्दू मित्र को दुर्व्यसनो के गर्त मे गिरने से बचा लिया । मित्र इस प्रकार के होने चाहिये । उसके वाक्यो मे बडा बल होता है और उसके उपदेश जादू की तरह असर करते है । मित्र ही निराशा मे आशा का मत्र फूक सकता है । इसलिये मनुष्य अपनी माता, पत्नी, स्वजन-परिजन तथा स्वय अपने आपकी अपेक्षा भी अपने मित्र का अधिक विश्वास करता है ।

न मातरि न दारेषु, न सौदर्ये न चात्मनि ।
विश्वासस्तादृश पु सा, यादृड् मित्रे स्वभावजे ।।

बन्धुओ आप ! आप समझ गए होगे कि मित्र का महत्त्व कितना अधिक है और मित्र के चुनाव मे कितनी सावधानी रखनी चाहिये, मित्र ही मनुष्य को उन्नति के मार्ग की ओर ले जाता है और मित्र ही मनुष्य को पतन की ओर अग्रसर करता है । अत मित्र बटोरने मे ही आप न लगे रहे । कम मे कम अथवा भले ही एक ही मित्र आप बनाऐ लेकिन वह सच्चा मित्र होना चाहिये । आपके सुख के समय मे तो आपके मित्र अनेक हो जाएगे पर उनकी मैत्री मे स्थिरता होनी कठिन होगी ।

आज के समय मे मनुष्य धन कमाने की कला सीख लेता है, जीवन के लिये आवश्यक वस्तुओ का सग्रह करना जानता है किन्तु मित्र चुनना प्रत्येक को नही आता । अधिकतर ऐसे मित्र मिल जाते है जो उसके सामने तो उसकी प्रशसा करते है, उसके गुणो का बखान करते है किन्तु परोक्ष मे उसकी निन्दा करते है । स्वार्थ अथवा ईर्ष्यावश उसकी बुराई करने से नही चूकते । ऐसे मित्रो की परीक्षा लेकर उन्हे त्याग देना ही बुद्धिमानी है । कहा भी है—

परोक्षे कार्य - हन्तारं प्रत्यक्षे प्रियवादिनम् ।
वर्जये - त्तादृशं मित्र, विषकुम्भ पयोमुख ।।

प्रत्यक्ष मे प्रिय बोलने वाले किन्तु परोक्ष मे अहित करने वाले मित्र को विष भरे घडे की तरह त्याग देना चाहिये ।

कहते हैं कि दुर्जनो की मैत्री पूर्वाह्न की छाया के समान होती है जो कि प्रारम्भ मे लम्बी और उसके वाद घटती जाती है। किन्तु सज्जनो की मैत्री इसके विपरीत अपराह्न की छाया के सदृश होती है। हम देखते भी है कि दोपहर के वाद छाया प्रारम्भ मे छोटी होती है किन्तु वाद मे क्रमश' वढती जाती है।

वधुओ! आप जानते होंगे कि शत्रुता तथा मित्रता, मानव देह मर जाने पर भी नही मरती। यह दोनो जन्म-जन्मातरो तक चलती रहती है। भगवान पार्श्वनाथ के साथ कमठ ने ऐसा भयकर वैर वाधा था कि वह दस जन्म तक उन्हे सताता रहा। पार्श्वनाथ के भव मे भी उनकी ध्यानावस्था के समय आँधी तथा पानी आदि के द्वारा घोर उपसर्ग किया।

यही हाल मित्रता का होता है। भगवती सूत्र मे भगवान महावीर गौतम स्वामी से कहते हैं कि गौतम! तुम्हारा और मेरा स्नेह इस मानव देह तक ही सीमित नही है। यह तो पिछले कई जन्मो से अविच्छिन्न रूप से चला आ रहा है।

भगवती सूत्र के ही सातवे शतक के नवे उद्देशक मे चेडा तथा कोणिक के महाभयकर युद्ध का वर्णन आता है। उस महायुद्ध मे देवेन्द्र, शक्रेन्द्र तथा चमरेन्द्र कोणिक की सहायता करते है।

गौतम भगवान से प्रश्न करते है कि शक्रेन्द्र तथा चमरेन्द्र मानव की सहायता के लिये धरती पर क्यो आए?

भगवान् महावीर कहते है—हे! गौतम मैत्री ही उन्हे खीचकर लाई है। जव शक्रेन्द्र पूर्व भव मे कार्तिक सेठ था तव भी कोणिक का मित्र था और चमरेन्द्र जव पूर्ण तापस थे तव कोणिक भी तापस था। दोनो मे प्रगाढ मैत्री थी। देह वदल गए, पर वह मैत्री नही वदली।

कितना महत्त्व है मैत्री का। जन्म जन्मान्तरो तक सहायता करने वाली मैत्री जो निभा सके, ऐसे मित्र की पहचान होना आवश्यक है।

अन्त मे मैं एक और महत्त्वपूर्ण तथा ध्यान मे रखने योग्य वात आपसे कहने जा रही हू। वह यही कि कभी यह न भूले कि ताली दोनो हाथो से वजती है। अगर आप चाहते हैं कि कोई आपका सच्चा मित्र वने और सदा वना रहे तो आपको भी उससे वैसे ही मित्रता निभानी पडेगी जैसी आप अपने प्रति उसकी चाहते हैं।

आपका मित्र धनी हो अथवा गरीव, आपको सदा उसका समान आदर

करना चाहिये। बल्कि मित्र के अच्छे दिनो मे जाने की अपेक्षा उसके बुरे दिनो मे अधिक जाना चाहिये। किसी ने कहा भी है—

"Be more prompt to go a friend is adversity than in prosperity"

अच्छे दिनो की अपेक्षा मुसीबत के दिनो मे मित्र के पास जाने के लिये अधिक उद्यत रहो। दार्शनिक अरस्तू ने कहा है —

"मिलने पर मित्र का आदर करो, पीठ पीछे उसकी प्रशंसा करो तथा आवश्यकता के समय उसकी मदद करो।"

किसी भी मित्र की मित्रता तब तक पूर्ण नही है जब तक कि वह अपने मित्र की अनुपस्थिति, गरीवी और आपत्ति मे सहायता नही करता एव मृत्यु के उपरान्त भी उसके अधिकार की रक्षा नही करता।

सज्जनो! मित्र से कभी भी असद्व्यवहार नही करना चाहिये। साथ ही अगर आप अपनी मित्रता को दृढ रखना चाहते है तो मित्र से उधार लेन-देन भी न करे। कलह का मूल अधिकतर धन ही होता है। चाणक्य ने कहा —

इच्छेच्चेद् विपुला मैत्री त्रीणि तत्र न कारयेत्।
वाग्वादमर्थ-सम्बन्ध तत्पत्नी - परिभाषणम्॥

अगर आप दृढ मित्रता चाहते हो तो मित्र से वहम करना, उधार लेना-देना और उसकी स्त्री से बातचीत करना छोड दो। यही तीन बाते बिगाड पैदा करती है।

इसके बाद भी अगर कभी आपकी असावधानी के कारण मित्र के हृदय मे खिन्नता आ जाय तो फौरन अपनी गलती कबूल करके मित्र से क्षमा मागकर उसे प्रसन्न कर लेना चाहिये।

जिस प्रकार कि मोतियो का हार टूट जाने पर हम मोतियो को फेक नही देते वरन् पुन पिरो लेते है, उसी प्रकार अगर मित्र नाराज हो जाए तो उसे मना लेना चाहिये। रहीम ने कहा है —

रूठे सुजन मनाइये जो रूठे सौ वार।
रहिमन फिर फिर पोहिये, टूटे मुकता हार॥

कभी मित्र की भर्त्सना करने का समय आ ही जावे तो एकान्त मे उसे कहनी चाहिये, किन्तु प्रशसा तो सर्वत्र तथा सर्वदा करनी चाहिए। मित्र

को परिहास मे भी कभी ठेस न पहुचे यह ध्यान रखना चाहिए। चाणक्य कहते है —

"न तो संसार मे कोई तुम्हारा मित्र है और न शत्रु; तुम्हारा अपना व्यवहार ही शत्रु अथवा मित्र बनाने का उत्तरदायी है।"

किसी नगर के सम्राट् से वैर हो जाने के कारण एक आदमी भागकर दूसरे नगर मे रहने लगा और व्यापार करते हुए धीरे धीरे आनन्दपूर्वक समय बिताने लगा। सम्राट् ने उस व्यक्ति की गर्दन काट कर लाने वाले के लिये दस हजार रुपयो की घोषणा कर रखी थी।

एक गरीब आदमी ने यह काम अपने हाथ मे लिया और वह घूमते-घूमते जाकर सयोगवश उसी आदमी के घर पर पहुचा, जिसका सिर काटने वह निकला था। किन्तु वह उसे पहचानता नही था।

व्यापारी व्यक्ति ने उस गरीब को अपने घर ठहरा लिया और उसे मित्रवत् मानने लगा। एक दिन बातचीत के सिलसिले मे व्यापारी ने उस गरीब व्यक्ति से उस नगर मे आने के उसके प्रयोजन के विषय मे पूछा।

गरीब आदमी ने बताया कि मैं अपनी गरीबी से मुक्ति पाने के लिये एक आदमी का सिर काटने निकला हूँ। रोज शहर मे ढूँढता हू पर वह अभी तक भी मुझे मिला नही और दस हजार पाने मे मैं अब तक असफल ही रहा हूँ।

व्यापारी ने क्षण भर सोचा और फिर वह अपने निर्धन मित्र से बोला— बन्धु! वह आदमी मै ही हूँ। तुम सहर्ष मेरा सिर काट कर ले जाओ। मेरे सिर की बदौलत तुम्हारे कुटुम्ब के सभी प्राणियो का कई वर्षों तक पेट भर सकेगा, यह कितनी सुख की बात है मेरे लिये। मैं बडा भाग्यवान् हूँ कि मैंने अपने मित्र के लिये अपना बलिदान देने का अवसर पाया है।

निर्धन मित्र पहले तो भौंचक्का सा रह गया, किन्तु बाद मे अपने को सावधान करके बोला – मित्र! इतने दिन अपने पास रखकर मेरे मित्र साबित हुए हो और आज तुमने मुझे मित्रता का महत्त्व भी समझाया है। अत तुम मेरे मित्र और गुरु दोनो ही हो। क्या मैं अपने स्वार्थ के लिये अपने मित्र की हत्या करूँगा? कभी नही मित्र के खून से सने हुए चाँदी के टुकडो की अपेक्षा पत्थर के टुकड़े कही अधिक आकर्षक है। तुम प्रसन्न रहो।

यह कहकर निर्धन व्यक्ति वापिस अपने नगर को चला गया।

आदर्श मित्रता का कितना ज्वलत उदाहरण है ? एक मित्र ने मित्र के लिये जीवन का मोह भी छोड दिया और दूसरे मित्र ने धन की इच्छा। ऐसे मित्र हो तभी मित्रता निभ सकती है। कहा भी है —

अगिनि आँच सहना सुगम, सुगम खडग की धार ।
नेह निभावन एक रस, महा कठिन व्यौहार ॥

वन्धुओ ! आशा है आप मित्रता के महत्त्व को अच्छी तरह समझ गये होगे। मित्रता के लाभो का तो वर्णन भी नही किया जा सकता। इसका अनुभव सिर्फ वही कर सकता है, जिसने मित्रता की हो। मित्रो का हृदय प्रेम, सहानुभूति तथा सौजन्य से पूर्ण होता है। मित्रता मे एक अनूठा ही माधुर्य होता है। मित्र का समागम आनन्द को चौगुना वढा देता है तथा दुख को आधा कर देता है। एक उर्दू के शायर ने कहा है —

पाए दर जजीर पेशे दोस्ता ।
बेह कि वा वेगानगा दर वोस्ता ॥

अर्थात् मित्रो के सामने पैरो मे वेडियाँ पडी हुई अच्छी है, लेकिन वेगानो के साथ फुलवाडी का निवास भी बुरा है।

मित्र के साथ मनुष्य चाहे जैसी भी परिस्थिति मे रहे पर वह आनन्द का अनुभव करता है। मित्र के विना जीवन सूना होता है। मित्र ही ऐसा व्यक्ति है जिसके सामने मनुष्य अपना हृदय खोल कर रख देता है और मन की प्रत्येक वात कहकर मन हलका कर लेता है।

अगर मित्र न हो तो मनुष्य के हृदय की अनेक व्यथाएँ उसके हृदय मे ही उफनती रहे और चिन्ताऐ उसके मन पर वोझ वनी पडी रहे।

१०
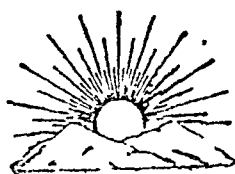
धर्म और विज्ञान

आज का युग विज्ञान का युग कहलाता है। कोई भी व्यक्ति विज्ञान की कसौटी पर कसे बिना किसी बात को नहीं मानना चाहता। यहा तक कि धर्म तथा आध्यात्मिकता तक को भी विज्ञान की कसौटी पर कसा जा रहा है। वैदिक काल मे मनुष्य अग्नि, वायु, जल, पृथ्वी तथा विद्युत् आदि प्राकृतिक पदार्थों की शक्ति का महा प्रभाव देख कर उन्हे देवता मानता था। पर आज का विज्ञान इन तत्त्वो की उपयोगिता बताकर इन्हे जीवनोपयोगी बनाने का प्रयत्न कर रहा है।

विज्ञान के विकास से पहले समाज के सारे कार्य धार्मिक सिद्धांतो द्वारा सचालित होते थे। इतिहास, भूगोल, ज्योतिष, व समाज शास्त्र आदि ज्ञान के विषय धर्म-शास्त्रो के अन्तर्गत ही थे। इसके कारण समाज की प्रगति हुई, किन्तु आगे जाकर धर्म के कारण उत्पन्न अध-विश्वासो से तथा धर्म के नाम पर जाति-वाद को बढावा मिलने से हानि भी बहुत हुई। मानव-मानव मे भेदभाव हो गया। परिणामस्वरूप धर्म के प्रति मनुष्यो की जो वफादारी थी वह कम होती गई।

बधुओ! जिस समय विज्ञान का जागरण हुआ, यूरोप मे स्थिति बडी ही शोचनीय थी। धर्म का प्रतिपादन करने वालो ने वैज्ञानिको की निन्दा करनी शुरू की और इससे भी सन्तोष नहीं हुआ तो उन्हे यातनाऐ दी। जब कोपर निकस ने कहा कि सूर्य पृथ्वी के चारो ओर नही घूमता बल्कि पृथ्वी उसके चारो ओर घूमती है तो उसे जान से मरवा दिया गया धर्मद्रोही मानकर। गेलीलियो ने नक्षत्रो की खोज की तो उसे भी कारावास मे डाल दिया गया। डार्विन ने विकासवादी सिद्धात का प्रतिपादन किया तो समग्र धार्मिक जगत्

मे हलचल मच गई। किन्तु अन्त मे विज्ञान का प्रभाव बढने लगा, बढता चला गया और सम्प्रदाय तथा जातिवाद इसे नष्ट नही कर सके। यूरोपीय धर्म के ठेकेदारो के समान भारत मे, प्राचीन काल मे कभी असहिष्णुता नही रही। कुछ अपवादो के सिवाय भारत ने सदैव नये विचारो के प्रति सहिष्णुता ही प्रदर्शित की है। अस्तु।

आज तो सभी विज्ञान का लोहा मानते है। शिक्षा के प्रत्येक क्षेत्र मे विज्ञान का प्रभाव है। यहा तक कि खान-पान, रहन सहन, यातायात और विशेप करके युद्ध मे प्रयोग किये जाने वाले समस्त उपकरण विज्ञान का ही फल है। प्रत्येक देश की सस्कृति तथा सभ्यता के समस्त पदार्थों के निर्माण मे विज्ञान का हाथ है। विज्ञान ने विश्व के समस्त राष्ट्रो को एक दूसरे के निकट ला दिया है। असाधारण वेगवान् साधनो के कारण समस्त विश्व अपने आप मे एक सयुक्त परिवार सा बन गया है। हॉ, कुछ स्वार्थी राष्ट्र ऐसे जरूर है जो ऐसा नही मानते और पडौसियो की अधिकृत वस्तुओ को अपनी बनाकर अपना साम्राज्य बढाना चाहते है। चीन और पाकिस्तान आपके सामने उदाहरणस्वरूप है ही। खैर—मै कह तो यह रही थी कि आज हमारे चारो तरफ विज्ञान के चमत्कार दिखाई देते है। कोई वस्तु ऐसी दिखाई नही देती जिसे विज्ञान ने परिष्कृत न किया हो। विज्ञान ने मनुष्य को अपरिमित शक्ति प्रदान की है। प्रकृति को बहुत अशो मे अपने नियत्रण मे करके मनुष्य की चेरी-सा बना दिया है। आर्केडियन फरार के अनुसार "विज्ञान ने अधो को आखे दी है और बहरो को सुनने की शक्ति। उसने जीवन को दीर्घ बना दिया है और रोग को रोद डाला है।" एमर्सन ने भी कहा है —

"Science surpasses the old mirocles of mythology."

अर्थात् पौराणिक कथाओ के पुराने आश्चर्यो से भी विज्ञान आगे बढ गया है।

विज्ञान की इस प्रशक्ति के विरोध मे भी बहुत कुछ कहा जा सकता है, मगर आज मेरा यह विषय नही है। हमे तो यह देखना है कि एक तरफ जहा विज्ञान इतना आगे बढ गया है, दूसरी तरफ धर्म का ह्रास क्यो होता जा रहा है? उस पर से मनुष्यो की श्रद्धा क्यो हटती जा रही है? और इससे समाज का सन्तुलन क्यो विगड रहा है?

बहुत प्राचीन काल से भारत एक धर्म प्रधान देश कहलाता रहा है।

यहाँ की सभ्यता तथा संस्कृति का निर्माण धर्म के आधार पर ही हुआ है। धर्म जीवन का एक महत्त्वपूर्ण अंग है, जिसके कारण मानव कुछ क्षणों के लिये सांसारिक यंत्रणाओं से मुक्त होकर आध्यात्मिक आनन्द का अनुभव करता है। लोकोत्तर या अनिर्वचनीय सुख का बोध करता है। लेकिन इसके साथ ही धर्म एक सामाजिक आदर्श भी है। व्यक्ति, समाज तथा राष्ट्र की सुख-शांति तथा समृद्धि भी धर्म के उचित विकास पर निर्भर है। धर्महीन समाज में मनुष्यों का विकास नहीं हो सकता। संसार के किसी भी हिस्से में कोई भी ऐसा वर्ग नहीं मिलेगा जिसका कि कोई धर्म न हो। अगर हम इतिहास को उठाकर देखें तो पता चल जाता है कि धर्म की उत्पत्ति किस प्रकार हुई। आचार्य कुन्दकुन्द ने धर्म की बड़ी सुन्दर और सारगर्भित व्याख्या की है। उन्होंने कहा है—

"वत्थु-सहावो धम्मो"

वस्तु का स्वभाव ही धर्म है और—

"धारणाद् धर्म"

यानी जो धारण करे वही धर्म है। इस बात में तो सभी सहमत रहे हैं किन्तु प्रत्येक धर्म और सम्प्रदाय के सदस्यों ने अपने अनुकूल तथ्यों को धारण किया और वही कालान्तर में उनका विभिन्न धर्म बनता चला गया। आज प्रत्येक धर्म का अनुयायी अपनी आचरित प्रणाली को ही धर्म बताता है तथा दूसरे सिद्धांतों को गलत बताता है। जैन मान्यता के अनुसार भगवान् ऋषभदेव ने मानव समाज में सुख शान्ति कायम रखने के लिये धर्म का सूत्रपात किया था। इसका मुख्य पहलू तो आध्यात्मिक था किन्तु मनुष्य के प्रत्येक व्यवहार का प्रभाव समाज पर पड़ता है, इसलिये भगवान् ऋषभदेव ने आत्मकल्याण के साथ-साथ विश्व-व्यवस्था पर भी पूर्णतः ध्यान दिया था। उनके द्वारा प्रवर्तित की गई इस धर्म-परम्परा का आगे के सभी तीर्थंकरों ने समर्थन किया।

हमारा भारतवर्ष अतीतकाल में आध्यात्मिक विद्याओं का केन्द्र रहा है। तक्षशिला तथा नालन्दा के बारे में आप सब जानते ही होंगे कि जिसमें फाहियान तथा ह्वेनसांग जैसे अनेकों ज्ञान पिपासु प्रति वर्ष आते थे और यहां रहकर उच्चकोटि का ज्ञान प्राप्त करते थे। इन विद्यालयों में उन्हें दर्शन, गणित, ज्योतिष, नीतिशास्त्र और आध्यात्मिक फिलॉसफी का अध्ययन कराया जाता था। पर सज्जनो! इस बात को आप नोट कीजिये कि हजारों

विद्यार्थियो को सिखायी जाने वाली इन विविध विद्याओ का प्रयोग आत्म-स्वरूप की उन्नति मे किया जाता था, जिससे बौद्धिक विकास के साथ-साथ वे अपना आध्यात्मिक विकास भो कर सके। विलासिता के कीचड मे शराबोर करनेवाली विद्या का उस समय कोई मूल्य नही था। महर्षि मनु ने भी विद्या की सार्थकता इन शब्दो मे बतलाई है—

"सा विद्या या विमुक्तये"

विद्या वही कहलाती है जो कि व्यक्ति को ससार के बधनो से मुक्त कर मोक्ष की ओर अग्रसर करे। कहने का मतलब यही है कि भारतवर्ष उस समय शिक्षा और आध्यात्मिकता के क्षेत्र मे समुन्नत था।

अब हमे यह देखना है कि कालान्तर मे धर्म का ह्रास व विज्ञान का बोलबाला क्यो होता चला गया ? बात यह है कि जब धर्म रूपी इस आत्मिक और परम निर्मल भावना के साथ विभिन्न सम्प्रदायो के व्यक्तियो ने अपने-अपने सम्प्रदायो को सयुक्त कर दिया तब भयकर विषमता पैदा हो गई। धर्म के नाम पर दुर्लघ्य दीवारे खडी हो गई। विश्व मे अशाति फैल गई। इग्लैड मे कैथेलिक और प्रोटेम्टैट एक दूसरे को सहन नही कर पाए। भारत मे भी धर्म को लेकर समय-समय पर भारी रक्तपात होने लगा। जातिवाद और कर्मकाडो को लेकर सदा लकाकाड होता रहा। साम्प्रदायिकता के कारण कोई भी धर्मावलम्बी धर्म के मर्म को नही समझ सका। असहिष्णु वृत्ति बढती चली गई। लोग भूल गए कि धर्म समानता का सदेश देता है। धर्म के नाम पर साम्प्रदायिकता का पोषण होना राष्ट्र के विकास मे भी बाधक बन गया। समाज मे अनेको विकार पैदा हो गए और उसके अग गलने लगे। शरीर मे से आत्मा के निकल जाने पर दुर्गन्ध आने लगती है, कीडे पड जाते है वैसी ही स्थिति आज समाज की हो गई है। धर्म रहित समाज आज मुर्दा हो गया हे। आचार्य शकर का अद्वैतवाद और भगवान् महावीर का स्याद्वाद सब शास्त्रो तक ही सीमित रह गया। व्यावहारिक जीवन मे इनका स्थान नही रहा। आज के समाज ने धर्म और व्यवहार को बिलकुल अलग-अलग मान लिया है, इसीलिये वह निर्जीव हो गया है।

आज धार्मिक तथा राजनीतिज्ञ दोनो ही सस्थाए धर्म के प्रति उदासीन हो गई। धार्मिक सस्थाओ मे धर्म का स्वरूप समझने के बदले केवल शुष्क धार्मिक क्रियाकाडो को ही महत्त्व दिया जा रहा है। फलस्वरूप धर्म के नाम से भी आज के मनुष्यो को अरुचि हो गई है और उन्होने अपनी सारी

शक्ति को विज्ञान की दिशा मे लगा दिया है। और विज्ञान का भूत हमारे सिर पर इस तरह सवार हो गया है कि वह क्षण भर को भी हमे अपने लिये कुछ करने नही देता।

विज्ञान रूपी भूत का ध्यान आते ही मुझे एक भूत की कहानी याद आ गई है। किस तरह उसने एक महात्मा को परेशान किया और फिर उसे वश मे किस तरह किया गया? कहानी यो है—प्रेत था, उसके मालिक शैतान ने एकवार किसी वात पर नाराज होकर उसे पृथ्वी पर भेज दिया। शैतान ने कहा - तुम्हे यही सजा दी जाती है कि तुम पृथ्वी पर जाकर किसी महात्मा की दस वर्प तक खूब सेवा करो। समय पूरा हो जाने पर तुम अपराध से मुक्त माने जाओगे और मेरे पास आ सकोगे।

प्रेत पृथ्वी पर आ गया और महात्मा की खोज करने लगा। ढूढते ढूढते उसे एक महात्माजी मिल गए। वे जगल मे एक सुन्दर आश्रम वनाकर रहते थे और साधना किया करते थे। प्रेत उनके पास गया। उसने अपनी सारी वात उन्हे कह सुनाई। अत मे वोला—भगवन्! कृपा करके मुझे अपने पास दस वर्प तक रखकर मेरे अपराध से मुक्ति दिलाइये। महात्माजी को दया आ गई। वोले—भाई! ठीक है, रह जाओ मेरे पास, पर तुम काम क्या करोगे? भूत वोला—स्वामिन्! मैं आपका प्रत्येक कार्य कर दूगा। आपको अपनी तपस्या व साधना के अतिरिक्त कुछ भी नही करना पडेगा। वस आप इतनी कृपा मुझ पर कीजियेगा कि मुझे वेकार मत रहने दीजियेगा, अन्यथा मैं गडवड करने लग जाऊगा। महात्माजी ने सोचा कि इस वेचारे को वेकार रहने का वक्त ही कव मिलेगा? इतना वडा आश्रम है, वगीचा है, खेत है। यह आश्रम की सफाई करेगा, पानी भरेगा, लकडिया काट कर लाएगा। वगीचे के पेड पौधो की सम्हाल करेगा, खेतो मे कार्य करेगा। मैं तो सोचता हूँ कि यह सारे काम कर भी नही पाएगा। यह सव सोच विचार कर उन्होने उस प्रेत को आश्रय देना स्वीकार किया और दूसरे दिन मे कार्य पर आने का आदेश दे दिया।

दूसरे दिन, ठीक समय पर प्रेत आ गया। महात्माजी ने उसे आश्रम की सफाई, पानी-लकडी लाना, इत्यादि दिन भर करने योग्य अनेक कार्य वता दिये। प्रेत काम मे लग गया और महात्माजी नहा-धोकर साधना करने लगे। साधना से निवृत्त होकर वे ध्यान करने वैठे। थोडासा हो समय वीता था कि प्रेत सारे काम निपटा कर आ पहुँचा और ध्यान मग्न महात्माजी से काम की माग करने लग गया। महात्माजी की समाधि भग हो गई।

देखा—प्रेत ने तो सारा काम कुछ ही समय मे निपटा दिया है । आश्रम साफ-सुथरा होकर चमक रहा है । पानी पात्रो मे भरा है । और भी सारे कार्य सम्पन्न हो चुके है । उसकी काम करने की अद्‌भुत शक्ति देखकर वे दग रह गए, परेशान भी हुए । उन्हे एक नया काम सूझा, कहा—'समस्त आश्रम वासियो के लिये अनाज पीस डालो ।' इतना कहकर वे फिर तपस्या मे बैठ गए । प्रेत ने मनो अनाज कुछ ही मिनिटो मे पीस कर रख दिया और फिर काम के लिये महात्माजी की तपस्या भग करदी । महात्माजी को बडा क्रोध आया और वे सोचने लगे—क्या किया जाय । वे बडे बुद्धिमान् थे । उन्होने तत्काल एक उपाय सोच लिया । प्रेत से बोले—एक काम करो, वह खभा जो जमीन पर पडा है, उसे खडा करके गाड दो । प्रेत ने पलक झपकते ही खम्भे को गाड दिया । महात्माजी ने फिर उससे कहा—देखो, जब मेरा बताया हुआ काम तुम कर लिया करो तो उसके बाद मेरी तपस्या मे जरा भी बाधा न डालकर इस खम्भे पर चढा और उतरा करो । बस, यही तुम्हारा कार्य है । बस इस तरह उस काम के भूत को महात्माजी ने बस मे कर लिया ।

बन्धुओ ! ठीक यही हाल विज्ञान के भूत का है । जब से यह भूत मनुष्यो के दिमाग पर सवार हुआ है, एक मिनिट को भी चैन नही लेने देता । आज शहरो मे जाकर देखिये—बम्बई या दिल्ली कही भी । मनुष्य का जीवन आपको एक मशीन की तरह दिखाई देगा । प्राचीन समय मे मनुष्य की आवश्यकताये बहुत थोडी होती थी, पर ज्यो-ज्यो नयी नयी खोजे होती गई, उपयोग के साधन बढते गए और मनुष्य उनके उपयोग मे व्यस्त होता चला गया । पहले वह भरण-पोषण के लिये आवश्यक अर्थ का उपार्जन करने के बाद अपना समय ज्ञानप्राप्ति तथा आध्यात्मिक सुख व शाँति प्राप्त करने मे लगाता था किन्तु अब उसे वैज्ञानिक साधनो के उपयोग से ही समय नही मिलता ।

फिर भी आश्चर्य व दुःख की बात तो यह है कि इतने उन्नत विज्ञान द्वारा जब मनुष्य को नित्य नए सुख की प्राप्ति के साधन मिल रहे है, उसे जीवन मे शांति नही मिलती ? इस यन्त्र युग मे दिन रात यंत्र बना हुआ मनुष्य कुछ क्षणो के लिये भी आत्मिक सुख क्यो नही प्राप्त करता ? किसी कवि ने पूछा है—

सेवक है विद्युत, वाष्प, शक्ति, धन बल नितांत ।
फिर क्यो जग मे उत्पीडन ! जीवन क्यो अशांत ?

सारी प्राकृतिक शक्तियो का स्वामी होने पर भी मानव सुख की एक भी सास क्यो नही ले पाता ?

वह इसलिये बधुओ ! कि आज विज्ञान मे से धर्म का निष्कासन हो गया है। नीति का लोप हो गया है। आत्मरहित शरीर जिस तरह मुर्दा हो जाता है, उसी तरह धर्म रहित विज्ञान भी समाज का सहायक न बनकर सहारक बन गया है। आज के विज्ञान का फल मानव मे दिन-दिन बढती हुई असहिष्णुता की वृत्ति है। आज विज्ञान से व्यक्तिगत स्वार्थ की पूर्ति, शोषण, अत्याचार, अकर्मण्यता तथा प्रमाद आदि गुणो का विकास हुआ है। हमारे पूर्वजो की अपेक्षा हमारा नैतिक व सास्कृतिक धरातल नीचा हो गया है।

यातायात की सुविधा ने भौगोलिक दूरी को समाप्त कर दिया है, अत पारस्परिक आक्रमण एक देश का दूसरे पर करना सरल हो गया है। साम्राज्यवाद की भावना बलवती हो उठी है। आज के विज्ञान ने हिसा का वरण कर लिया है। इसलिये ससार मे प्रति क्षण नाश की सभावना उत्पन्न हो गई है। हिसा की क्षुधा पूर्ति के लिये एटमबम, अणुबम, परमाणु बम आदि अनेक वस्तुओ का आविष्कार हुआ है और होता जा रहा है। कहा जाता है—एशिया मे एक ऐसे शस्त्र की खोज की गई है जिससे सूर्य की सभी किरणो को पकडा जाएगा और वह सूर्य की तरह जहा जाएगा सभी को भस्म कर देगा।

आज आवश्यकता इस बात की है कि विज्ञान का हिसा से सम्बन्ध विच्छेद करके अहिसा से जोडा जाय क्योकि विज्ञान और धर्म दोनो का ध्येय प्राणियो को सुखी करना होना है। विज्ञान मनुष्य की सुख प्राप्ति के लिये साधन एकत्रित करे और धर्म उसकी व्यवस्था करे। विज्ञान शारीरिक कष्टो को दूर करे और धर्म मन के दुखो को मिटावे। इस तरह अगर दोनो एक दूसरे के सहायक हो तभी समाज मे सुख व शाति बनी रह सकती है। जिस तरह नर तथा नारी दोनो समाज रूपी रथ के पहिए होते है उसी तरह विज्ञान तथा धर्म भी मानव जीवन रूपी छत के लिये दो आधार स्तभ है। एक भी अगर नीचा रहेगा तो छत टिकी नही रह सकेगी, मानव जीवन एक सरिता के सदृश है जिसके दोनो किनारे विज्ञान और धर्म हैं। इस पर अहिसा का पुल बनाना होगा।

मनुष्य ने आज वैज्ञानिक क्षेत्र मे तो अवर्णनीय प्रगति करली है पर

धार्मिक क्षेत्र की उपेक्षा करके और उसे विकृत बनाकर छोड दिया है। आज मनुष्य चन्द्र लोक मे जाने की तैयारी कर रहा है और विज्ञान उसे सभवत पहुँचा भी दे, किन्तु उसके साथ धर्म भी जुडा रहे तो मानव मोक्ष भी पा सकेगा।

विज्ञान को कुछ व्यक्ति धर्म का विरोधी मानते है, पर यह बात गलत है। आवश्यकता है विज्ञान को धर्म का सहायक बनाने की। यातायात के इतने साधन है। इन्हे शस्त्रास्त्र भेजने के काम मे न लेकर, जहा जरूरत है वहा खाद्यान्न भेजने के काम मे क्यो न लिया जाय? अगर मनुष्य ऐसा न करे तो इसमे विज्ञान का क्या कुसूर है?

आज ससार के सामने भयानक समस्या है-- तृतीय विश्व युद्ध की सभावना। प्रतिक्षण आशका है कि कही देशो के ये आपसी तनाव तृतीय विश्व युद्ध को जन्म न दे दे। अगर ऐसा हुआ तो प्रलय ही समझिए। उन्नति के सर्वोच्च शिखर पर चढा हुआ विज्ञान का यह भूत इसी ससार का नाश कर देगा जिसने कि उसे इतना ऊचा बना दिया है। साथ ही यह स्वय भी खतम हो जाएगा अतएव पहले ही हमे चेत जाना चाहिए और इस विज्ञान के दैत्य को धर्म व नीति के अकुश से चलाना चाहिये। इस प्रसग मे एक छोटी सी सुन्दर कथा याद आ रही है।

किसी वन मे एक ऋषि रहा करते थे। एक दिन एक चूहा उनके पास जान बचाने के लिये दौडता हुआ आया। पीछे-पीछे बिल्ली आ रही थी। महात्माजी ने दयार्द्र होकर चूहे को भी बिल्ली बना दिया। कुछ दिन बाद एक कुत्ते ने बिल्ली को खा जाना चाहा। यह देखकर ऋषि ने उसे भी कुत्ता बना दिया। अब वह चूहा कुत्ता बन गया। एक दिन एक बाघ उसे पकडने लगा तो वह फिर भागता हुआ ऋषि के पास आया। ऋषि ने फिर कृपा करके उसे बाघ बना दिया। उसके बाद एक दिन सिंह से डर कर जब वह आया तो ऋषि ने उसे सिंह बनने का वरदान दे दिया। चूहा सिंह बनकर शान से जगल मे घूमता और जानवरो को मार मार कर पेट भरता। एक दिन सयोग से उसे कुछ खाने को नही मिला तो उसने ऋषि को ही अपना भक्ष्य बनाने का विचार किया। ज्योही वह ऋषि को खाने के लिये झपटा कि ऋषि ने क्रोध मे आकर उसे वापिस चूहा बना दिया।

आप लोगो की समझ मे आ गया होगा कि यह विज्ञान का भूत भी बढते बढते इतना शक्तिशाली हो गया है कि अपने बनाने वालो के लिये ही

नाश का कारण वन रहा है। अव वह समय आ गया है कि इसकी गर्दन मे अहिंसा की जजीर वाध दी जाय और इससे धर्म के निर्देश मे काम लिया जाय ताकि यह मनमानी न कर सके। तभी विश्व का कल्याण हो सकता है, तभी शाति वनी रह सकती है। विज्ञान का सहयोग पाकर धर्म मानव-जीवन को आतरिक तथा वाह्य दोनो प्रकार के आनन्द से ओत-प्रोत कर देगा।

मनुष्य और समाज

●●

१ | प्रगति के चरण

प्रगति करना मानव की स्वत सिद्ध प्रकृति है। मानव के हृदय की एक-एक धडकन और प्रत्येक श्वास से यही सुनाई देता है कि चलते रहो, रुको मत। चलते रहना ही जीवन की प्रकृति है, रुक जाना उसकी विकृति अथवा दुर्गति है। ससार के तत्त्वदर्शी विचारको ने सदा यही उपदेश दिया है कि चलते रहो।

परिश्रम मे बलात हुए बिना सफलता की प्राप्ति नही होती। बैठे हुए आदमी को पाप धर दबाता है, ईश्वर उसी का सहायक होता है, जो दिन-रात चलता रहता है। इसलिये चलते रहो, चलते रहो .—

नाऽनाश्रान्ताय श्रीरस्ति
पापो नृषद्वरो जन इन्द्र इच्चरतः सखा।
चरैवेति चरैवेति ॥

—ऐतरेय ब्राह्मण

ऐतरेय आरण्यक का यह वचन भी स्मरणीय है—

"जो सोता है उसका भाग्य सोता है, जो लेटा रहता है उसका भाग्य भी लेट जाता है और जो बैठा रहता है उसका भाग्य भी बैठा रहता है।"

तात्पर्य यही है कि हमारे भाग्य का उत्थान हमारे उत्थान पर ही निर्भर है जो व्यक्ति प्रमादवश प्रगति करने से रुक जाता है उसका समय व्यर्थ जाता है और समय व्यर्थ नष्ट करना मूर्खों का लक्षण है। नीति का वचन है—

"काव्यशास्त्रविनोदेन, कालो गच्छति धीमताम्।
व्यसनेन तु मूर्खाणा निद्रया कलहेन वा ॥"

अर्थात् बुद्धिमानों का समय काव्यों तथा शास्त्रों के सरस पाठ तथा स्वाध्याय में जाता है जबकि मूर्खों का व्यसन, निद्रा या कलह में व्यतीत होता है।

भगवान् महावीर ने गौतम से बार-बार यही कहा है—"समय गोयम! मा पमायए" गौतम! एक क्षण का भी समय व्यर्थ मत करो। वेदों में भी कहा है —

आरोहणमाक्रमणं जीवतो जीवतोऽयनम्।

—अथर्ववेद

महात्मा बुद्ध ने अपने प्रधान शिष्य आनन्द को जीवन की सार्थकता का यह मूल मंत्र बताया था—"आनन्द! किसी दूसरे की शरण में न जाकर अपनी आत्मा का ही आश्रय लो, सत्य को दीपक की भांति पकड़े रहो और बिना रुके आगे बढ़ते जाओ।"

महापुरुषों के उपदेशों में ही नहीं, उनके चरित्र में भी यही प्रमाणित होता है कि चलते रहने में जीवन की सफलता है। देखा जाता है कि चलते रहने से जीवन मार्ग सुगम हो जाता है, प्रतिकूल परिस्थितियां भी अनुकूल हो जाती हैं और लक्ष्य निकट आ जाता है या प्राप्त हो जाता है। प्रगति करने वाला स्वस्थ, स्वतन्त्र, स्वावलम्बी तथा शक्तिशाली होता है। उसके जीवन में आशा उमंग की धारा सदा प्रवाहित होती रहती है और वह उन्नति करता चला जाता है।

इसके विपरीत—जो बैठा रहता है, प्रमाद के कारण कुछ करता-धरता नहीं, सिर्फ भगवान् के नाम की पुकार करता हुआ भाग्य की प्रतीक्षा करता रहता है उसे न तो राम ही मिलता है और न ही आराम। गतिहीन प्राणी मतिहीन भी हो जाता है। उसके अपने अंग, हाथ-पैर ही उसके काम नहीं आते तो भगवान् कब उसके काम आएंगे? उसकी सारी प्राकृतिक शक्तियाँ कृपण के धन की तरह शरीर रूपी तिजोरी में सदा ही बन्द पड़ी रहती है। वे न उसके ही काम आती हैं और न किसी और के। उसका जीवन धीरे-धीरे भारस्वरूप होता जाता है, वह निकम्मा और आलसी बन जाता है। जिस प्रकार नदी की धारा रुकते ही उसका अस्तित्व जाता रहता है।

किसी विचारक का कथन है कि जिन्हें हम अपने से बड़ा मानते हैं वे इसलिये बड़े हैं कि हम अपने घुटने टेके पड़े हैं। हमें उठ जाना चाहिये —

"The great are great only because we are on our knees, Let us rise"

प्रकृति यही चाहती है कि मब स्वय चले और प्रकृति के कार्यक्रम को निर्विघ्न चलने दे। प्रकृति का यही मूक सदेश है—"बढो अथवा मिट्टी मे मिलो।" पेड जब तक प्रगति करता रहता है तब तक प्रकृति का एक-एक तत्त्व उसका पोषण करता है। जब उसका विकास रुक जाता है तो वही प्रकृति धीरे-धीरे उसे नष्ट कर देती है। वह निर्जीव अथवा निश्चेष्ट की सहायता अथवा पोषण नही करती। किसी भी प्रमादी जीव को वह स्वस्थता आनन्द और शान्ति नही देती। किसी ने सच कहा है—"Life is movement" सक्रियता ही जीवन है। प्रकृति के वृद्धि और विकास के नियम से परिहित होने पर किसी को यह समझने मे कठिनाई नही होगी कि प्रगतिशीलता जीवन के लिये आवश्यक और जीवन का मुख्य धर्म है।

इसलिये मुख्य धर्म है बन्धुओ! कि इस अस्थिर तथा परिवर्तनशील ससार मे मनुष्य एक निश्चित समय के लिये आता है और चला जाता है। इस विश्व मे वह अपनी इच्छानुसार ठहर नही सकता। यह जीवन ऐसी यात्रा है जिसे प्राणी इच्छा न होने पर भी करने को विवश होता है। सासारिक जीवन मनुष्य के लिये सिर्फ एक सफर है। किसी उर्दू कवि ने कहा भी है—"समझे अगर इन्सान तो दिन-रात सफर है।"

मनुष्य एक ऐसा यात्री है जो इस विश्व-मार्ग मे स्वेच्छा से खडा नही रह सकता। उसे या तो आगे बढना पडेगा अन्यथा पीछे हटना होगा। समग्र विश्व मे कही भी इस यात्रा के दौरान उसे ठहरने का स्थान नही है। उसके लिये कोई अवकाश का दिन नही है। किसी पथ-प्रदर्शक या सुदिन की प्रतीक्षा मे उसे अपनी यात्रा स्थगित करने का अधिकार नही है।

पर जब वह सही मार्ग पर चलता है तो उसे पथ-प्रदर्शको का साहचर्य अवश्य ही सहज रीति से मिल जाता है, क्योकि विश्व मे सभी यात्री ही तो है। वे अपने सहयात्री के साथ हिल मिल जाते है और एक दूसरे की सहायता करते है।

इसके विपरीत भूलने-भटकने वाले तथा निरुद्देश्य इतस्तत डोलने वाले व्यक्ति ससार मे दुख व कष्ट के अलावा कुछ भी हासिल नही कर पाते। वे कभी भी अपने लक्ष्य को प्राप्त नही कर सकते। परिणाम यह होता है कि उनका जीवन नष्ट हो जाता है क्योकि प्रकृति अपनी प्रगति और विकासक्रम

मे रुकना नही जानती और वह प्रत्येक निष्क्रिय, निरर्थक वस्तु को हठपूर्वक नष्ट कर देती है —Nature knows no pause in her progress and development and attaches her curse on all inaction

बंधुओ! प्रकृति किसी का लिहाज नही करती और समय किसी की प्रतीक्षा नही करता। किसी ने कहा भी है—"Time and tide wait for none" समय और तूफान किसी की प्रतीक्षा नही करते।

कई व्यक्ति सोचते है कि हम अमुक कार्य अवसर आने पर करेंगे। और अवसर की प्रतीक्षा मे वे अनेक अवसरो को खो देते हैं। वे यह नही समझते कि अवसर कही बाहर से आने वाली वस्तु नही है, प्रत्येक समय ही अवसर हैं। इसलिये आज का कार्य कल के लिये भी नही छोड़ना चाहिये, क्योंकि अवसर आकर इतनी तीव्र गति से चला जाता है कि कोई उसे पकड नही पाता। किसी ने अपने मन को सही चेतावनी दी है—"मन पछितै है अवसर बीते।"

अवसर की सच्ची कदर करने वाला मनुष्य तो किसी भी समय और किसी भी स्थिति मे जीवन की परिमितता नही भूलता। भोग विलास के समस्त साधनो का जो शरीर उपयोग करता है, अंत समय मे उसकी क्या स्थिति होती है, यह तथ्य वह सदा स्मरण रखता है। ऐसे ही किसी मनुष्य के मन के भाव देखिये —

मूकू पग महल मां ज्यारे, स्मरण शमशान नो त्यारे,
मूकूं पग पुष्पशय्या मां, चिता पण सांभरे त्यारे।
सुणूं संगीत परिजन नो, रुदन पण सांभरे त्यारे,
धरूं तन शाल दुशाला, कफन पण सांभरे त्यारे।
जमूं मिष्टान्न फल ज्यारे, मरण पिण्ड सांभरे त्यारे,
चढू सुखपाल मां ज्यारे, ननामी (अरथी) सांभरे त्यारे।

न्यूटन के स्थान समय (Shace time) सिद्धान्त के अनुसार प्रत्येक वस्तु, स्थान एवं समय से सीमित है। अत जीवन को भी समय की एक इकाई क्षणो मे नियमित किया गया है। प्रत्येक व्यक्ति के क्षण चाहे वह राजा हो या भिखारी पुरुष हो या स्त्री, उच्च हो या नीच, एक निश्चित संख्या मे होते है।

विश्व मे महान् समृद्धि शाली, बडे बडे विश्व-विजेता तथा अप्रतिम स्वरूपवान व्यक्ति हुए हैं। भरत जैसे चक्रवर्ती, बाहुबलि जैसे शक्तिशाली, विक्रमादित्य और राजा भोज जैसे न्यायी, सिकन्दर और समुद्रगुप्त जैसे

शूरवीर, हरिचन्द्र और कर्ण जैसे दानवीर, बुद्ध तथा ईसा जैसे धर्मवीर, कालिदास और कवी जैसे कविर, अरस्तु और शकराचार्य जैसे दार्शनिक, चाणक्य जैसे नीतिज्ञ, और वाणभट्ट जैसे गद्यकार भी इसी पृथ्वी पर पैदा हुए, किन्तु आज उनका अस्तित्व कहा है ? वे सव यहा क्यो नही है ? इस कारण वधुओ ? कि उन सभी के जीवन के क्षण सीमित थे ।

आज हमे यही विचार करना है कि इस भागते हुए ममय का हम कैसे अधिक से अधिक सदुपयोग करे । ममय वीतता रहेगा हम चाहे कुछ करे या नही । महावीर भगवान् ने गोतम को भी यह चेतावनी दी है —

दुम-पत्तए पंडुरए जहा, णिवडइ राइगणाण अच्चए ।।
एवं मणुयाण जीविय, समय गोयम ! मा पमायए ।

—उत्तराध्ययन

अर्थात् जिस प्रकार रात्रि दिन के समूह व्यतीत हो जाने पर वृक्ष का पत्ता पीला होकर झड जाता है, उसी तरह मनुष्यो का जीवन है, अत हे गौतम ! एक समय मात्र भी प्रमाद मत कर ।

प्रत्येक क्षण जो वीतता जाता है जीवन के सचित कोप को क्षीण करता जाता है । अत मे जव अतिम क्षण आता है तो व्यक्ति पश्चात्ताप करते है कि हमने समय को ठीक ढग से क्यो नही विताया । फ्रेकलिन ने कहा है— "क्या तुम को अपने जीवन से प्रेम है ? यदि हा, तो समय व्यर्थ मत खोओ, क्योकि जीवन समय से ही मिलकर वना है ।"

ससार की सारी सम्पत्ति सुख तथा भोग, समय के एक छोटे से अश से कम महत्त्वपूर्ण है,क्योकि उनका मूल्य ही स्थान व समय की अपेक्षा से होता है । इसके अतिरिक्त ससार के समस्त भोगो को भोगने के वाद भी उनका अतिम परिणाम क्या होता है ।

हम सुस्वादु तथा अत्यन्त स्वादिष्ट व्यजनो से प्रतिदिन उदर पूर्ति करते है, पर उदर मे जाते ही उनका रूप कितना विकृत हो जाता है ? इस शरीर को इत्र, पाउडर, क्रीम सुन्दर सुन्दर वस्त्र तथा आभूपणो से सजाते है, पर अन्त मे जव वृद्धावस्था आती है तव उसकी क्या दशा होती है ? अज्ञानी जीव तो आखो के समक्ष नित्य वृद्धावस्था के चित्र देखकर भी, यहाँ तक कि स्वय उस अवस्था को प्राप्त हो जाने पर भी मासारिक सुखोपभोग की कामनाओ को नही छोडता । शकराचार्य ने कहा है—

अग गलित पलित मुंड,
दशन-विहीन जातं तुड ।

वृद्धो याति गृहीत्वा दण्डम्,
तदपि न मुञ्चत्याशापिण्डम् ॥

सारे अग शिथिल हो जाने पर भी, सिर के बाल पक जाने पर भी, मुह के सारे दाँत झड़ जाने पर भी, वृद्ध हो जाने पर तथा चलने के लिये लकडी ग्रहण कर लेने पर भी मनुष्य अपनी कामनाओं का त्याग नही करता।

दूसरी ओर कुछ ऐसे व्यक्ति भी होते है जो शरीर की ऐसी स्थिति देखकर भगवान से प्रार्थना करते है कि अब कभी मुझे यह पर्याय न मिले—

सुगन्धी चीजो के कनक रस थी आनथी कर्या ।
मले ने मूत्रे ने रुधिर रस मासे थकि भर्या ॥
मढयो चर्मे तेथी नहीं उतर ते मात्र वरवो ।
नथी एवो म्हारे नरहरि हवे देह धरवो ॥

यह शरीर सुगन्धित वस्तुओ से अथवा स्वर्ण रस से निर्मित नही हुआ है, वरन् मल- मूत्र, रुधिर और मांस से भरा हुआ है। ऊपर चमडे से मढे हुए ऐसे देह को हे भगवन् ! अब मुझे वापिस धारण नही करना है।

इसलिये बधुओ ! हमे यह सोचना है कि इस नश्वर शरीर से जितनी प्रगति कर सके करले। आत्मा का जितना उत्थान इस देह के सहारे हो सके करे। प्रमाद के कारण कभी भी अपने प्रयत्नो को रोके नही।

एक बात और भी ध्यान मे रखनी है कि आपका समय जिस प्रकार बीतेगा उसका प्रभाव आपके चरित्र पर पडेगा। आपकी अच्छी आदते आपको जीवन-पथ के लक्ष्य तक पहुचा सकेगी। समय को गलत तरीके से बिताने वाले व्यक्ति मार्ग-भ्रष्ट होकर इधर-उधर ठोकरे खाते रहते है।

अभी हमने इस पर विचार किया कि मनुष्य को चलते रहना चाहिये, प्रगति करते रहना चाहिये, कही भी प्रमादवश रुकना नही चाहिये। अब हमे यह सोचना है कि चलते रहना जीवन के लिये उपयोगी क्यो है ? चलने का आशय क्या है और मनुष्य को किधर चलना चाहिये।

मेरे भाइयो ! चलने का अर्थ केवल टहलना, सैर-सपाटे करना अथवा आख मूदकर दौडना नही है। किसी भटकने वाले को अथवा लकीर के फकीर को हम प्रगतिशील नही मानेगे। चलता तो तेली का बैल भी बहुत है। कबीर ने कहा है—

ज्यो तेली के बैल को, घर ही कोस पचास।

पर उस चलने से क्या हासिल होता है ? कुछ नही। मनुष्य का चलना भिन्न प्रकार से होता है। वह चरग से कम किन्तु आचरण से अधिक आगे बढता है। मनुष्य देह से कम किंतु विचारो से अधिक चलता है और उसे ही हम व्यावहारिक भाषा मे चाल-चलन कहते है।

मनुष्य के लिये चलने का तात्पर्य है—उन्नति करना, उत्तरोत्तर विकासोन्मुख होना, सतत उद्योग करना और अपनी शक्तियो का सदुपयोग करते हुए अभ्यासमय जीवन विताना। आत्मोन्नति ही मनुष्य की सच्ची प्रगति है। मनुष्य को कर्त्तव्यशील होना चाहिये। कर्त्तव्य भ्रष्ट होने से मनुष्य पथ-भ्रष्ट हो जाता है। योगवासिष्ठ मे कहा गया है—

यो यो यथा प्रयतते स स तत्तत्फलैकभाक्।
न तु तूष्णी स्थिते नेह केनचित्प्राप्यते फलम्॥

चुपचाप बैठे रहने से कुछ प्राप्त नही होता। जो जैसा यत्न करता है, वह जैसा ही फल पाता है।

तात्पर्य यही कि अविरत परिश्रम ही जीवन है—'Your life is continuous work' निष्क्रियता मनुष्य की मृत्यु है। शकराचार्य ने निरुद्यमी को जीवन्मृत माना है—'**जीवन्मृतः कस्तु निरुद्यमो य.**।'

केवल शारीरिक श्रम और निरुद्देश्य कार्य करने से प्रयोजन सिद्ध नही होता। कर्म हृदय तथा बुद्धि से भी करना चाहिये। शारीरिक अगो से सहयोग लेना चाहिये। तभी जीवन का सर्वतोमुखी विकास हो सकता है।

अव प्रश्न यह है कि मनुष्य को किस मार्ग का अनुसरण करना चाहिये ? मनुष्य मात्र के अभ्युदय का मार्ग कौनसा है ? जीविका का उपार्जन तथा सन्तानोत्पादन तो पशु-पक्षी भी कर लेते है। यह मानव जीवन का ध्येय नही है। इसमे मानव जीवन की सार्थकता नही है

जीवन का लक्ष्य है समस्त वन्धनो से आत्मा की उन्मुक्ति ! पूर्णता की प्राप्ति। इसकी प्राप्ति के लिये मनुष्य को भिन्न-भिन्न दिशाओ मे प्रयत्न करना पडता है। मनुष्य का शरीर तो एक ही दिशा मे बढ सकता है किन्तु उसका जीवन एक साथ अनेक दिशाओ मे बढना चाहिए। मनुष्य की प्रगति का क्षेत्र बडा विस्तृत है। अव विचार करना है कि एक जीवन यात्री को किन-किन मार्गों पर एक साथ बढना चाहिये।

उन्नति तथा विकास के मार्गों मे प्रथम है सत्य-मार्ग। जैनागमो मे सत्य को ससार का सारभूत तत्त्व माना है—"**सच्चं लोगम्मि सारभूयं**" महावीर

ने कहा है—"सच्चं भगवं ।" अर्थात् सत्य ही भगवान् है । महाभारत में कहा गया है—'सत्यं स्वर्गस्य सोपानम्' सत्य स्वर्ग की सीढ़ी है ।

सत्य क्या है ? सत्य का अर्थ है यथार्थ ज्ञान जो हितकर हो । जैसा देखा, सुना, अनुभव किया हो उसे वैसा ही कहना भी सत्य है । सत्यवादी सभी का विश्वासपात्र बन जाता है और सभी उसका आदर और सम्मान करते हैं । चाहे कैसा भी संकट आजाए, कितनी भी हानि हो जाए पर असत्य का अवलंबन कभी नहीं लेना चाहिये । मृच्छकटिक की एक लघु कथा है—

चारुदत्त नामक एक ब्राह्मण बड़ा सत्यवादी था । लोग उस पर विश्वास करके अपनी धरोहर उसके पास रख जाया करते थे । एक बार एक व्यक्ति उसके पास अपने कुछ रत्न रख गया ।

दुर्भाग्यवश ब्राह्मण के घर चोरी हो गई और धरोहर के रत्न भी उसके साथ ही चोरी में चले गए । रत्नों के जाने का चारुदत्त को महान् दुःख हुआ । उसके एक मित्र को इस बात का पता लगा तो उसने पूछा—"मित्र ! क्या रत्नों का कोई साक्षी था ?" चारुदत्त ने कहा—साक्षी तो कोई नहीं था । मित्र बोला तब क्या डर है, कह देना मेरे पास रखे ही नहीं थे । उस समय चारुदत्त ने जो उत्तर दिया वह प्रत्येक मानव को अपने सामने आदर्श वाक्य के रूप में रखना चाहिये । चारुदत्त ने कहा—

भैक्ष्येणाप्यर्जयिष्यामि पुनर्न्यास प्रतिक्रियाम् ।
अनृत नाभिधास्यामि चारित्र-भ्रंश-कारणम् ॥

—मृच्छकटिकम् ३/२६

अर्थात् भिक्षा के द्वारा भी धरोहर के योग्य धन का उपार्जन कर मैं उसे लौटा दूंगा किन्तु चरित्र को कलंकित करने वाले झूठ का उपयोग नहीं करूंगा ।

आज तो मनुष्य बात-बात में झूठ का प्रयोग करते हैं । व्यापारी ग्राहक के सामने झूठ बोलता है, नौकरी वाले अपने अधिकारियों से झूठ बोलते हैं । पुत्र पिता से और बहुएं अपनी सासों से बात-बात में झूठ बोलती हैं । हम आए दिन देखते हैं कि सर्विस करने वाले छुट्टी के लिए अपनी बीमारी के अथवा घर पर किसी की बीमारी के झूठे सार्टीफिकेट दिया करते हैं ।

एक सैनिक छुट्टी लेने के लिये अपने अधिकरी के पास पहुंचा और बोला—"मेरी पत्नी बीमार है घर से सूचना आई है, कृपया मुझे छुट्टी दीजिए ।"

अधिकारी वोला—मैं तुम्हारे घर पत्र डाल कर पूछ लेता हू । तुम सात दिन पश्चात् मेरे पास आना ।

सैनिक सात दिन वाद पुन अधिकारी के पास पहुचा तो अधिकारी ने कहा—"मैने तुम्हारे घर पर पत्र डाला था, वहा से उत्तर आया है कि तुम्हारी पत्नी विलकुल ठीक है अत' तुम्हे छुट्टी नही मिलेगी।" यह सुनकर सैनिक वाहर आया और हसने लगा।

अधिकरी ने उसे वापिस बुलाया और हसी का कारण पूछा तो उसने कहा –मैं यह सोचकर हसा कि हम मे से अधिक झूठा कौन है ? मेरा तो अभी विवाह ही नही हुआ, फिर आपके पास पत्र कहा से आ गया ?

यह हाल है आजकल के मनुष्यो का। वे यह नही जानते कि सत्य तो ससार की सर्वोत्कृष्ट वस्तुओ मे से एक है - One of the sublimest things in the world is plain truth भले ही व्यक्ति समग्र शास्त्रो को पढ ले, तीर्थों की यात्रा करले; नियमित रूप से सामायिक प्रतिक्रमण करता रहे, पर मत्य का आचरण इन सबसे वढकर है। सत्य से वढकर ससार मे कोई धर्म नही है, मिथ्या-भापण से वढकर दूसरा पाप नही है। कवीर ने कहा ही है—"माच वरावर तप नही, झूठ वरावर पाप।" असत्य घास के एक ढेर की तरह है जिसे सत्य की एक चिनगारी भी भस्म कर सकती है। दूसरी तरफ "साच को आच नही।"

सत्यवादी को कभी भयभीत होने की आवश्यकता नही होती, भले ही उसकी वाणी मे किमी को लुभाने की शक्ति न हो। सत्य का उल्लघन करने मे सारे समाज को क्षति पहुचती है। एमर्सन ने कहा है—"Every violation of truth is a stab at the health of human society" सत्य का प्रत्येक उल्लघन मानव समाज मे छुरी भोकने के समान है। इसलिए while you live, tell the truth अर्थात् जव तक जीवित रहो, सत्य वोलो। महानीतिज्ञ चाणक्य ने कहा है —

सत्येन धार्यते पृथ्वी, सत्येन तपते रविः।
सत्येन वाति वायुश्च सर्वं सत्ये प्रतिष्ठितम्॥

मत्य से पृथ्वी स्थिर है, सत्य से मूर्य तपता है, सत्य ही से वायु वहता है, सब सत्य मे निहित है।

इस प्रकार साबित हो जाता है कि प्रगति का सबसे प्रथम मार्ग सत्य को अपनाना है।

दूसरा मार्ग है – नीति का। मनुष्य को आत्मोन्नति तथा सतत प्रगति के लिये नैतिकता की ओर बढाना चाहिये। नीति की राह पर चलने वाला व्यक्ति आँख मूंदकर भी चल सकता है।

प्रत्येक मनुष्य को सयम तथा सदाचार का पालन करना आवश्यक है। विश्व मे समस्त प्राणियो को रहना है। यह ससार सभी के लिये है। अत किसी को भी स्वच्छन्द होने का अधिकार नही है। छल, कपट, चोरी आदि से किसी को भी अपना स्वार्थ सिद्ध नही करना चाहिये।

प्रकृति के सभी अग एक निश्चित सिद्धात के अनुसार कार्य करते है। सभी अपनी मर्यादा मे रहते है। किन्तु जब जल, अग्नि, वायु आदि अपनी अपनी मर्यादा छोड देते हैं तो हम देखते है कि अनर्थ हो जाता है। प्रति वर्ष बाढो के कारण, आग लग जाने के कारण अथवा तूफान आने के कारण लाखो लोग बेघरबार हो जाते हैं।

इसी प्रकार मानव अगर अपनी मर्यादा मे नहीं रहता तो समाज मे विरूपता आ जाती है, अशान्ति का साम्राज्य हो जाता है। आप लोगो के मन मे प्रश्न उठ सकता है कि मर्यादा क्या है ? बुद्धिमानो का कथन है— "मर्त्यै मनुष्यै आदीयते स्वीक्रियते या सा मर्यादा।" जो सब मनुष्यो द्वारा मिलकर, निश्चित करके सर्वसम्मति से स्वीकार किया गया उसे मर्यादा कहते है। अथवा आत्मिक विकास के सर्वोच्च शिखर पर पहुचे महामानवो ने अपनी वाणी और व्यवहार के द्वारा जो जीवन पद्धति प्रदर्शित की है, वह मर्यादा है। वस्तुत किसी भी वस्तु का प्रकृतिस्थ रहना मर्यादा है। इस मर्यादा का उल्लघन किसी के लिये भी हितकर नही होता। क्योकि यह सत्य, अहिंसा, न्याय आदि पर टिकी रहती है। सयमी व्यक्ति मे ही इन्सानियत रहती है। कहा गया है—

> **गर फरिश्ता वश मे हुआ कोई तो क्या।**
> **आदमियत चाहिये इन्सान मे॥**
>
> —दाग

सदाचार जीवन के अभ्यास की अमूल्य वस्तु है। एक सदाचारी मनुष्य बिना जबान हिलाये सैकडो मनुष्यो का सुधार कर सकता है। पर जिसका आचरण ठीक नही उसके लाखो उपदेशो का भी कोई फल नही होता। इसीलिये कहते है —"Character maketh men on the earth famous, in their graves illustrious in the heavens immortal" आचरण

पृथ्वी पर मनुष्य को प्रसिद्धि प्रदान करता है, कब्र मे प्रख्यात कर देता है और स्वर्ग मे अमर बना देता है। इसके विपरीत—"जिस प्रकार लोहे का मोरचा उसी से उत्पन्न होकर उसी को खाता है, वैसे ही सदाचार का उल्लघन करने वाले मनुष्य के अपने कर्म ही उसे दुर्गतिको प्राप्त कराते है।"

—धम्मपद

सदाचारी व्यक्ति चाहे वह मूर्ख हो, निर्धन हो, नीची जाति का हो, फिर भी पूज्य है। वेद व्यास ने तो यहाँ तक कहा है—

यस्तु शूद्रो दमे सत्ये धर्में च सततोत्थित ।
त ब्राह्मणमहं मन्ये वृत्त्येव हि भवेद् द्विजः ॥

अर्थात् जो शूद्र दम, सत्य और धर्म मे परायण है उसे ही मैं ब्राह्मण मानता हूँ, सदाचार से ही मनुष्य द्विज बनता है।

प्रशस्त आचार तथा विचार मिलकर ही सदाचार का रूप ग्रहण करते है किन्तु इन दोनो मे आचार मुख्य है। कहा भी है **"आचार प्रथमो धर्म"** आचार पहला धर्म है। आचार के अभाव मे केवल विचार लोक मानस की श्रद्धा प्राप्त नही कर सकता। आजकल विचारको की भरमार है। यह ठीक है कि आचार की अपेक्षा विचार अपना प्रभाव जल्दी डालता है, साधारण व्यक्ति उससे शीघ्र प्रभावित हो जाते है, किन्तु वह स्थायित्व ग्रहण नही करता, दूसरी तरफ आचार अपनी आलोक रश्मिया धीरे धीरे फैलाता है, पर उसका प्रभाव ठोस और व्यापक होता है। सदाचारी व्यक्ति के सन्मुख सारी दुनिया सिर झुकाती है। 'साउथवेल्स' की एक सुन्दर कविता की कुछ पक्तिया है—

The man of upright life,
Whose guiltless heart is free,
From all dishonest deeds,
Or thoughts of vanity

अर्थात् वही मनुष्य वास्तव मे मनुष्य है जिसका हृदय निर्दोप और पवित्र है, जिसने जीवन मे कभी बेईमानी या बुरा कर्म नही किया और जिसका मन अभिमान से शून्य है।

उत्तम चरित्र-नैतिकता एक दिव्य शक्ति है। सत्यवादिता, दयालुता, कोमलता, निष्कपटता, ब्रह्मचर्य, अहिसा, सदाचार, निर्भयता, शौच, सन्तोप,

तप और दान आदि सभी उत्तम कर्म चरित्र की सीमा मे आ जाते हैं। प्रत्येक मनुष्य को सदा महापुरुषो के आदर्श को सम्मुख रखना चाहिये।

शिवाजी के सैनिको ने एक बार एक दुर्ग पर आक्रमण करके उसे अपने अधिकार मे कर लिया। उस दुर्ग से एक अत्यन्त सुन्दरी यवन-बाला को भी वे अपने साथ ले आए। सेनापति ने उसे शिवाजी के सम्मुख उपस्थित कर राजरानी बनाने की प्रार्थना की।

सेनापति की बात सुनकर शिवाजी ने उससे कहा—सेनापति ! तुम्हे धिक्कार है। 'हमारा धर्म परनारी हरण नही है, परनारी रक्षण है।' फिर वे उस रमणी की ओर देखकर बोले—माता ! मेरे सैनिक रूप के वशीभूत होकर तुम्हे यहा ले आए हैं। इसके लिये मुझे क्षमा करो। तुम्हारे सुन्दर रूप को देखकर मेरे मन मे तो यह भाव उठ रहा है कि अगर मैं तुम्हारे उदर से पैदा होता तो मैं भी अधिक सुन्दर होता।

बन्धुओ ! कितना सुन्दर, कितना दिव्य भाव था शिवाजी का, पर आज कल कहा है मनुष्यो के हृदय मे ऐसे भाव ? आजकल तो बहनो और बेटियो का सडको पर से गुजरना कठिन होता है। उन्हे देखकर आवारा व्यक्ति अश्लील गीत गाने लगते है, सीटियाँ बजाने लगते है। उच्चकुल के अच्छे भले दिखाई देने वाले व्यक्तियो मे भी यह दुर्बलता देखी जाती है। प्राय गरीब व्यक्तियो मे अधिक नैतिकता रहती है, ऐसा अनुभव बतलाता है।

कुछ लोगो का ख्याल है कि Military हैवानो का समूह होता है। सैनिको मे इन्सानियत नही रहती। किन्तु मुझे तो इससे बिलकुल उलटा ही अनुभव हुआ है। अपनी कश्मीर यात्रा मे मैंने देखा कि वहा पाकिस्तान की सीमा निकट होने के कारण थोडी थोडी दूरी पर असख्य कैम्प सैनिको के थे। जैसा कि सुनते आ रहे थे, उन्हे देखकर कुछ भय का सचार मन मे हुआ। किन्तु हमारी धारणाए शीघ्र ही निर्मूल साबित हो गई। मैंने सैनिको के अन्तर्मनो मे उत्कट देश भक्ति के साथ साथ स्नेह, प्रेम एव श्रद्धा भक्ति की उज्ज्वल रोशनी देखी। उनके दिल मे इन्सानियत के झरने बहते हुए देखे।

मैंने देखा कि भारतीय सेना सिर्फ युद्ध ही नही करती वरन् वह देश के निर्माण का कार्य भी करती है। बाढ आदि के कारण टूटी-फूटी सडको को सैनिक फौरन ही दुरुस्त कर देते। आधी तूफान एव वर्षा की बौछारो से पीडित व्यक्तियो की वे भरसक सहायता करते। जगह जगह अनेको कैम्पो के निकट से गुजरने का हमे अवसर मिला, सभी जगह सैनिको ने हमे मार्ग की

वीहडता के कारण यथाशक्य अधिक से अधिक सहयोग दिया । जगह जगह उन्होने मुझे उपदेश देने को बाध्य किया और अनेको ने बहुतसी प्रतिज्ञाए भी ली । कभी भी और कही भी किसी भी सैनिक ने हमे कोई अपशब्द नही कहा और न ही किसी प्रकार का अपमानजनक व्यवहार किया । उनके सम्पर्क मे वह थोडा सा समय बिताकर भी मेरा मन बहुत ही गद्गद व प्रफुल्ल हुआ । पर साथ ही माता-पिता, स्वजन तथा परिजनो से दूर, भारत की रक्षा मे तत्पर उन भारत के नौनिहालो को देखकर मन बडा ही द्रवित भी हुआ ।

तात्पर्य यही है कि चरित्रहीन धनिक मनुष्य की अपेक्षा निर्धन किन्तु सदाचारी तथा सच्चरित्र व्यक्ति अधिक श्रेष्ठ होता है । सीधा साधा निर्धन व्यक्ति उस धूर्त से अच्छा है जो बन ठन कर रहता हो और ऐश्वर्य का दुरुपयोग करता है ।

अब प्रगति का तीसरा मार्ग आता है जिस पर मनुष्य को अनिवार्य रूप से बढना चाहिये । वह है ज्ञानमार्ग । ज्ञान मार्ग मनुष्य को अधेरे से निकाल कर प्रकाश की ओर बढाता है । अधेरे मे मनुष्य की जो दशा होती है वही अज्ञान मे भी होती है । अज्ञानी व्यक्ति को सही पथ दिखलाई नही देता और दिखाई दे जाय तो उस पर बढने का साहस उसे नही होता । अज्ञान और अन्धकार मे कदम कदम पर मनुष्य के हृदय मे दुर्भावनाए जागृत होती है । बुद्धिमानो का कथन है कि अज्ञान तामसिक भाव है, इस कारण अज्ञानी मनुष्यो की प्रवृत्ति तामसिक कार्यो की ओर होती है ।

अज्ञान तामसो भावः कार्यारम्भ-प्रवृत्तय.

—विष्णु पुराण

अज्ञान को छोडकर ज्ञान को प्राप्त करना ही प्रकाश की ओर बढना है । तभी जीवन मे चमक आती है । ज्ञान के उज्ज्वल प्रकाश से ही मनुष्य को भ्राति, जडता तथा यथार्थता का ज्ञान होता है । ज्ञान का मार्ग ही जीवन के जागरण का मार्ग है । ज्ञान के द्वारा ही हिताहित का भान होता है । शास्त्र-कारो ने इसे धागे की उपमा दी है । जिस प्रकार धागे वाली सूई सहसा नही खोती, अगर कभी खो भी जाती है तो धागा होने के कारण पुन उसके मिलने की सभावना रहती है, उसी प्रकार जिस आत्मा मे ज्ञान होता है, वह सहसा भटकती नही, अगर भटक भी जाती है तो पुन सभलने की आशा रहती है—

जहा सुई ससुत्ता पडियावि न विणस्सई ।
तहा जीवो ससुत्तो संसारे न परियट्टइ ॥

जैनागम कहता है कि ज्ञान के अभाव मे चरित्र का विकास किसी तरह सभव नही है—"नाणेण विना न हुंति चरणगुणा।" ज्ञान वह अन्तश्चक्षु है, जिसके द्वारा प्राणी अपनी अन्तरात्मा को देख तथा पहचान सकता है।

आज के युग मे तो भौतिक ज्ञान का विकास अधिक हो गया है और आत्म-ज्ञान का ह्रास होता जा रहा है।

आज की हमारी शिक्षा-प्रणाली मे बहुत कमियां है। "छात्रो मे नैतिक सस्कार भरने चाहिये और उनके लिये चारित्रिक शिक्षा अनिवार्य कर देनी चाहिये।" ऐसे विचार तथा उद्‌गार तो हमे प्राय सुनने को मिलते है किन्तु रचनात्मक कार्य कही भी दृष्टिगोचर नही होता।

ज्ञान तथा क्रिया दोनो ही आत्मशुद्धि के अनिवार्य पहलू है। क्रिया के बिना ज्ञान का महत्त्व लुप्त हो जाता है।

किसी घर मे एक चोर घुसा। आहट सुनकर पत्नी जाग गई और पति से बोली – चोर आया है।

पति ने कहा—'मैं जानता हू।'

पत्नी—'ताले तोड दिये हैं।'

पति—'मै जानता हू।'

पत्नी—'अरे वह धन की गठरी बाध रहा है।'

पति—'अरे तो इतनी अधीर क्यो होती हो? मुझे सब पता है।'

पत्नी—'हे भगवन्! चोर तो गठरी लेकर जाने वाला है।'

पति—'क्या सारी चिन्ता तुम्ही को है। कितनी बार कह दिया, मै सब कुछ जानता हू।' पत्नी ने झु झला कर कहा—'तुम्हारा जानना बडा अजीब है, चोर धन लेकर चला गया। अब जानते रहो।'

पति – सिर पीट पीट कर रोने लगा। पत्नी बोली—

> **कहणो म्हारो एकलो, हुवो नाथ निस्सार।**
> **जाणणो सिर कूटणो ए दोनू बेकार॥**

बधुओ! आप समझ गए होगे कि कोरा ज्ञान व्यर्थ होता है। गाधीजी ने कहा है—"मस्तिष्क मे भरे हुए ज्ञान का जितना अश काम मे लाया जाय, उतने का ही कुछ मूल्य है, बाकी तो सब व्यर्थ का बोझ है।"

किसी शायर ने कहा है—भौतिक ज्ञान से अनुभव द्वारा प्राप्त ज्ञान कही उत्तम होता है—

अमल का अज सरे अहवाल बाशद ।

बसे बेहतर जे इल्म काल बाशद ॥

इस विशाल विश्व मे ज्ञान के समान पवित्र पदार्थ दूसरा नही है । ज्ञान के द्वारा ही बुद्धि निर्मल तथा पवित्र होती हे और ज्ञान के द्वारा ही कर्मों का क्षय होता है—

"ज्ञान भावनया कर्माणि नश्यन्ति न सशय ।"

सम्यक्ज्ञान पूर्वक सात्त्विक भावनाओ की आराधना करने से कर्म नष्ट हुआ करते है, इसमे कोई सशय नही है । भगवद्गीता मे भी यही बताया है—**"ज्ञानाग्नि सर्व कर्माणि भस्मसात् कुरुतेऽर्जुन ।"** ज्ञान रूपी दिव्य अग्नि सभी कर्मों को भस्म कर देती है ।

सज्जनो ! आपने समझ लिया होगा कि जिस प्रकार समय का प्रवाह अनवरत बहता रहता हे—क्षण भर के लिये भी रुकता नही, उसी प्रकार जीवन भी बीतता रहता है, चलता रहता है, एक मुहूर्त भर के लिये भी नही रुकता । इसीलिये मनुष्य को चाहिये कि वह अपना तनिक भी समय खोये विना प्रगति करता रहै । क्षण भर के लिये भी रुके नही और प्रमाद मे अथवा निराशा मे अपने अमूल्य समय को व्यर्थ न चला जाने दे ।

मनुष्य को चाहिये कि आज का कार्य वह आज ही समाप्त कर लेने का प्रयत्न करे । 'कल' यह एक ऐसा शैतान है कि जो अपने क्रूर करो से विश्व की असख्य योजनाओ का गला घोंटता रहता है । आज का कार्य कल पर छोड़ना निश्चय ही असमर्थता और अकर्मण्यता का द्योतक है । प्रत्येक क्षण कार्य करने के लिये शुभ मुहूर्त है । समय मुहूर्त की प्रतीक्षा नही करता ।

जिस अवसर को हम बिलकुल साधारण समझते है, हो सकता है कि वही हमारे जीवन का महान् समय बन जाए । प्रत्येक मानव को अपनी क्रियाशक्ति पर विश्वास रखना चाहिये । अपनी प्रगति का मार्ग उसे स्वय बनाना पडेगा । हिम्मत तथा साहस मनुष्य मे होना चाहिये । अपने सामर्थ्य पर पूरा विश्वास होना चाहिये । मनुष्य को भाग्य के सामने झुक कर नही चलना वरन् उसे अपने सामने झुकाना है, क्योकि वही भाग्य का तिर्माता है ।

मनुष्य के सामने अनन्त कार्य-क्षेत्र फैला हुआ है एक विशाल सागर की तरह । इसके तट पर बैठकर लहरे गिनना निरर्थक है और इसके लिये समय भी कहा है ? अब तो सिर्फ यह आवश्यक है कि अपनी सशक्त बाहुओ से उसे पार किया जाय ।

अपनी योग्यता तथा श्रम पर विश्वास करनेवाले के हाथो मे विजय अवश्य रहती है। फिर भी अगर दुर्भाग्यवश असफलता मिल जाय तो भी प्रयास नही छोडना चाहिये। साहस कभी भी नही खोना चाहिये।

प्रत्येक असफलता के साथ भी प्रयत्न जारी रखना चाहिये। गाधीजी ने कहा है—"जितनी बार हमारा पतन हो, उतनी ही बार उठने मे गौरव है।" साहसी व्यक्ति के लिये विश्व मे कुछ भी असम्भव नही है। नेपोलियन बोनापार्ट ने कहा था —

Impossible is a word only to be found in the dictionary of fools असम्भव एक शब्द है जो मूर्खो के शब्द-कोष मे पाया जाता है।

दूसरे सिर्फ कायरो और सशयशील व्यक्तियो के लिये ही प्रत्येक वस्तु असम्भव है, क्योकि उन्हे ऐसा ही प्रतीत होता है—To the timid and hesitating every thing is impossible because it seem so

कहते है कि एक बार सम्भव ने असम्भव से पूछा—तुम्हारा निवासस्थान कहाँ है ? असम्भव ने जवाब दिया – निर्बल के मन मे।

तात्पर्य यही है कि साहस और विश्वास एक ऐसा सम्बल है, जिसे साथ लेकर चलने से समस्त बाधाए अपने आप दूर हो जाती हैं। गरीबी, भुखमरी, निर्बलता कोई भी शक्ति दृढविश्वासी का मार्ग नही रोक सकती। दृढ-प्रतिज्ञ का उठा हुआ चरण रुक नही सकता जिस प्रकार कि गौरवशील व्यक्ति का उठा हुआ मस्तक नही झुकता —

मानी के मस्तक उठकर फिर क्या झुकते हैं।
पथ-बाधा से कहीं वीर के पद रुकते हैं।
कठिन मार्ग हो भले, हमे तो चलना ही है।
रात बड़ी हो किन्तु दीप को जलना ही है।।

मनुष्य साहस का देवता है। निराशा राक्षसी को आश्रय देने से देवत्व कलकित होता है। साहस वह महामन्त्र है जिसका कोई भी प्रयोग निष्फल नही जाता।

प्रत्येक मनुष्य प्रगति का इच्छुक होता है। द्रुतगति के भी मनुष्य की तरह दो चरण होते है। एक का नाम है 'विचार' और दूसरे का है 'कार्य'। जब तक प्रगति के ये दोनो चरण बारी-बारी से बढने को और एक दूसरे का कार्य सभालने को तैयार नही होते तब तक बधुओ! प्रगति होना सभव नही है।

कुछ व्यक्ति सोचते बहुत हे और इतना अधिक सोचते हैं कि उनके पाम करने के लिये समय ही नही रहता। और कुछ व्यक्ति बिना विचार किये उचित अनुचित का निर्णय किये विना अधाधुध कुछ भी कर बैठते है। कभी वे किसी मार्ग को अपनाते है और कभी किसी को। दोनो तरफ व्यक्ति किसी भी लक्ष्य को प्राप्त नही कर पाते। दोनो ही प्रकार के व्यक्ति अपूर्ण होते है। दोनो मे से किसी की भी प्रगति नही होती। वल्कि प्रगति और अधोगति ही होती है।

जो व्यक्ति प्रगति का इच्छुक है उसे अपने चिन्तन और क्रिया मे सामञ्जस्य अवश्य ही वैठाना पडेगा। ऐसे मनुष्य को सोचना पडेगा। और साथ ही कुछ करना भी पडेगा। काम करना होगा, किन्तु जैसा कि मैने अभी कहा था—तेली के वैल की तरह नही, वरन् पूर्ण विचार तथा विवेक के साथ।

मनुष्य को जिधर वढना है स्वय वढना पडेगा। पीछे चलने वाले तो मिल जाएगे पर आगे वढने वाले कितने हे। प्रगति के चरण 'विचार' तथा 'कार्य' जिस ओर वढेंगे भावी समाज का सुनिर्णीत मार्ग भी वही होगा।

वधुओ! भावी समाज के निर्माता पुरुप के रूप मे आपके दोनो चरण प्रगति के चरण वनकर सावधानी पूर्वक एक के वाद एक वढते रहे। अगर आपका एक भी कदम गलत न पडेगा तो वह सारे समाज को उन्नति की ओर ले जाने का कारण वन सकता है।

२ | दोऊ हाथ उलीचिये !

विवेकवान् मनुष्य के लिये यही उचित है कि यदि उसके पास सपत्ति वढ जाए तो वह दोनो हाथो से दान करना प्रारम्भ करदे। जिस प्रकार कि नाव मे पानी वढ जाने पर उसे अविलम्ब दोनो हाथो से उलीच दिया जाता है। कवीरदासजी ने कहा है—

पानी बाढो नाव मे, घर मे बाढ़ो दाम।
दोऊ हाथ उलीचिये, यह सज्जन को काम॥

मानव जीवन पाकर हमे अपने आत्मिक गुणो का विकास करना चाहिये। दान उसकी ही पहली भूमिका है। यदि मनुष्य के हृदय मे उदारता नही होगी तो उसमे अन्य गुणो का विकास कभी भी नही हो सकेगा।

दान का प्रभाव असीम है। सूर्य जिस प्रकार विश्व के अधकार का नाश करता है और प्रकाश फैला देता है, उसी प्रकार दान आत्मा के अन्धकार का नाश करके हृदय के पवित्रता के प्रकाश को फैलाता है।

मुक्ति रूपी महल के सोपान की प्रथम सीढी दान ही है। इस पर चरण रखे विना मुक्ति महल तक पहुँचना कठिन है। दान, शील, तप तथा भावना, इन मे से सर्वप्रथम दान की गणना है कि दान के महत्त्व को सिर्फ हिन्दू, जैन वौद्ध तथा वैदिक परम्परा ही नही वरन् ईसाई और इस्लाम ने भी माना है। जैन धर्म कहता है—

आहारोसह - सत्थाभयभेओ ज चउव्विहं दाणं।
त वुच्चइ दायव्वं णिद्दिट्ठमुवासयज्झयणे॥

—वसुनन्दि श्रावकाचार

भोजन, औपधि, शास्त्र और अभय—ये चार प्रकार के दान है, इन्हे अवश्य देना चाहिये । उपासकाध्ययन मे ऐसा कहा गया है ।

बौद्ध धर्म मे भी कहा गया है—

न वे कदरिया देवलोक वजन्ति बालाह वे,
न प्पसति दानम् ।
धीरो च दानं अनुमोदमानो तेनेव,
सो होति सुखी परत्थ ॥

—लोकवग्गो १३ । ११

गीता मे लिखा है कि यज्ञ, दान और तप अवश्य करने चाहिये । इन्हे कभी भी छोडना नही चाहिये । ये बुद्धिमानो को पवित्र करते है ।

यज्ञ-दान-तप-कर्म न त्याज्यं कार्यमेव तत् ।
यज्ञो दानं तपश्चैव पावनानि मनीषिणाम् ॥

ईसामसीह के पास एकवार एक सरदार आया और वोला—हे उत्तम गुरु, अनन्त जीवन पाने के लिये मै क्या करू ?

ईसा ने कहा—चोरी मत करो । हत्या मत करो । व्यभिचार मत करो। झूठी गवाही मत दो एव माता-पिता का आदर करो ।

सरदार वोला—भगवन् ! यह तो मै बचपन से ही करता आरहा हू । यह सुनकर ईसाममीह ने कहा—अपना सब कुछ कगालो को बाँट दो और मेरे माथ हो जाओ ।

ईसा की बात सुनकर सरदार बडा दुखी हुआ क्योकि वह बहुत पैसे वाला था ।

ईसा ने उसे देखकर कहा—"सुई के छेद से ऊट निकल जाना सरल है पर पैसेवालो का स्वर्ग मे जाना बहुत कठिन है।"

– लूका १८ । १८-५२

वधुओ ! इस प्रकार हम देखते है कि धर्ममय जीवन का शुभारम्भ दान से ही होता हे । तीर्थंकर सयम अगीकार करने से पहले एक वर्ष तक निरतर दान देते है ।

खेत मे अन्न वोने से पूर्व किसान अपनी जमीन को मुलायम बना लेता है उसी प्रकार मानमिक गुणो का विकाम करने के इच्छुक साधक को उदारता-पूर्ण दान के द्वारा अपने हृदय की भूमि को उर्वरा बना लेना चाहिये ।

आप लोग अपने धन को व्याज पर देते है, व्यापार मे लगाते हैं और खेती के उपयोग मे लेते हैं किन्तु इन सबसे जो लाभ होता है उसकी अपेक्षा अनन्त गुना लाभ धन को दान मे देने पर होता है। किसी विद्वान् ने कहा भी है—

"व्याजे स्यात् द्विगुणं वित्तं व्यापारे च चतुर्गुणं।
क्षेत्रे शतगुणं वित्तं दानेऽनन्तगुण भवेत्॥"

व्याज से दुगुना, व्यापार से चौगुना, खेत से शत गुना किन्तु दान देने से अनन्त गुना लाभ होता है।

दान देने से सपत्ति मे कभी कमी नही होती, यह भाव कबीर ने बडे ही मार्मिक ढग से अपने एक पद मे व्यक्त किया है—

चिड़ी चोच भर ले गई, नदी न घटियो नीर।
देता दौलत ना घटे, कह गए दास कबीर॥

प्राचीनकाल के श्रेष्ठ पुरुष यही मानते थे कि मेरे पास देने के लिए पर्याप्त सामग्री हो, मुझे नित्य अतिथियो की सेवा का सुअवसर मिले। उदार हृदय पुरुष दुश्मन भी बनकर उनके घर आजाए तो उसके लिए भी अपना कुछ भी अदेय नही मानते।

भारत की पवित्रभूमि पर सदैव ही उदार हृदय वाले महापुरुषो का जन्म होता रहा है। इसी भारत भूमि पर राजा भोज, हरिश्चन्द्र तथा कर्ण जैसे महादानी उत्पन्न हुए हैं। अपना सर्वस्व देकर भी जिन्होंने याचक को वापिस नही जाने दिया, चाहे वह उनका घोर शत्रु ही क्यो न रहा हो।

कर्ण के पास इन्द्र वेष बदल कर ब्राह्मण के रूप मे आया और कर्ण से उसके कवच और कुण्डल की माग की। कवच और कुडल मागने का अर्थ था कर्ण का पराभव और मृत्यु। यह होते हुए भी तथा कर्ण ने यह जानते हुए भी कि उसके साथ छल किया जा रहा है, अपना कवच और कुण्डल इन्द्र को दान मे दे दिये। इस प्रकार के अनेक उदाहरण हमे इतिहास मे मिल सकते हैं, जिनसे पता लगता है कि इस देश मे कैसे-कैसे दानवीर हुए हैं।

कर्ण ने कवच तथा कुण्डल के रूप मे एक तरह से अपने जीवन का ही दान दिया था और वह भी एक क्षण का भी विलब किए बिना। उसने बडी आतुरता से इन्द्र से कहा—ब्राह्मण! अत्यन्त शीघ्रता से हाथ बढाओ और अपनी याचना की हुई वस्तुएं ले जाओ, क्योकि धन तो चचल है ही, पर मन

उससे भी अधिक चचल है । कौन जानता है कि कब अन्तर मे जलता हुआ सत्य का दीप बुझ जाए । धर्म कार्य मे विलम्ब नही करना चाहिए ।

महाकवि कालीदास ने कहा है —

आपन्नार्ति-प्रशमन-फला सम्पदो ह्य ुत्तमानाम् ।

—मेघदूत

अर्थात् विपत्ति मे पडे हुये मनुष्यो के दुख को दूर करना ही उत्तम पुरुषो की सम्पत्ति का फल है । दान, परोपकार हमारी भारतीय सस्कृति का विशेप अग है ।

दान का महत्व दानी की सामाजिक प्रतिष्ठा से ही ज्ञात हो जाता है । वेदकालीन विद्वान् भी यही मानते थे कि दानी अमर पद पाते हे — **'दक्षिणावन्तो अमृत भजन्ते** (ऋग्वेद)

जिन देवताओ की हम वदना करते है, उनका प्रधान लक्षण यही हे कि वे वरदान देते हैं । अगर वे वरदान न देते तो उन्हे पूजना तो दूर रहा, कोई पूछता भी नही । भगवान् का भी लोग इसीलिये तो भजन करते है वे मुक्ति-दाता है । मनुष्यो मे भी पुण्यवान् वही माने जाते है जो दान देते है । उसी का जीवन भी सफल माना जाता है जो सदा परोपकार मे रत रहते हैं—'जीवित सफल तस्य य परार्थोद्यत सदा' । जो व्यक्ति मात्रको, मित्रो तथा शत्रुओ से कभी विमुख नही होता उसी से पिता पुत्रवान् और माता वीरप्रसविनी मानी जाती है —

अर्थिना मित्रवर्गस्य विद्विषा च पराङ्मुखम् ।
यो न याति, पिता तेन पुत्री माता च वारसूः ।

—मार्कण्डेय पुराण

इसी प्रकार गुरु के गौरव का कारण है उनका ज्ञान दान । वास्तव मे बडप्पन का परिचायक सग्रह नही, वरन् त्याग तथा दान धर्म दोनो ही पूर्ण है, फिर भी उनमे कुछ अन्तर है —

त्याग का निवास धर्म के शिखर पर है, दान का उसके ललाट मे ।

त्याग का स्वभाव दयालु है, दान का ममतामय, त्याग मे पापका मूलधन चुकता है, और दान से पाप का व्याज ।

त्याग ठीक जड पर आघात करता है, दान ऊपर से कोपले खोटने जैसा है ।

त्याग पीने की दवा है, दान सिर पर लगाने की सोंठ ।
त्याग मे अन्याय के प्रति चिढ है, दान मे नाम-का लिहाज ।

—**सन्त विनोबा भावे**

बन्धुओ ! अभी हमने दान का महत्व समझा । अब हमे यह समझना है कि दान से सार्वजनिक तथा व्यक्तिगत जीवन को क्या लाभ पहुचता है ?

सर्व प्रथम तो हमे जानना चाहिये कि दान ही एक प्रकार से ईश्वर की पूजा है । मन्दिर मे, मस्जिदो मे, तथा गिरजाघरो मे जाने से ईश्वर की सच्ची पूजा नही होती । वरन् दीन-दुखी अनाथ तथा असहायो को आवश्यकतानुसार देने से ईश्वर की वास्तविक पूजा हो सकती है । ईश्वर मन्दिर, मसजिद, गुरुद्वारे अथवा गिरजाघरो मे नही रहता, वरन् दीन दरिद्रो की झोपडियो मे रहता है । उनको किसी भी उपाय से प्रसन्न करना ही ईश्वर की पूजा है —

येन केन प्रकारेण यस्य कस्यापि देहिनः ।
सतोष जनयेत्प्राज्ञ तद्देवेश्वर-पूजनम् ॥

ईश्वर का सच्चा भक्त तो सृष्टि के प्रत्येक प्राणी मे परमात्मा का निवास मानता है । वह कहता है—

जिधर देखता हूँ उधर तू ही तू है,
कि हर शम में जलवा तेरा हूबहूं है ।

परमात्मा का आदेश है कि जिसे जो शक्ति मिली है वह उसका सदुपयोग करे । उससे स्वय लाभ लेकर दूसरो को भी लाभ पहुँचाए । जिस प्रकार पेड के मधुर फल तथा नदियो का जल दूसरो के काम आता है उसी प्रकार मनुष्य का वैभव भी दूसरो के काम आए । कहने का अभिप्राय यह है कि दान, परोपकार से जो मनुष्य जीवन को सार्थक करते है वे ही भगवान् का अनुग्रह प्राप्त करते हैं ।

दान-परोपकार से ही सामाजिक उन्नति होती है । स्वार्थपूर्ण सग्रह की भावना से समाज का भला नही हो सकता । समाज के प्रति मनुष्य का कर्त्तव्य होता है कि वे समाज की उन्नति मे सहयोग दे । मनुष्य समाज से ही भाषा लेता है, अन्न-वस्त्र लेता है तथा जीने के लिए सुन्दर वातावरण भी प्राप्त करता है । अत उसे चाहिये कि शरीर रहते ही उन सब उपकारो के ऋण से चुक जाए । दूसरो को देना समाज को ही देना है । मनुष्य को किसी भी वस्तु का अनावश्यक सग्रह करने का अधिकार नही है । भागवत मे नारद

ने कहा है—जितने मे पेट भरता हो उतने पर ही प्रत्येक व्यक्ति का स्वत्व है। जो उसमे अधिक सचय करता है वह चोर तथा दडनीय है —

यावत् भ्रियेत जठरं तावत् स्वत्वं हि देहिनाम् ।
अधिकं योऽभिमन्येत स स्तेनो दण्डमर्हति ॥

हिन्दी मे भी एक छोटी सी कहावत है—

"पेट भरो, पेटी मत भरो।"

दान से एकता भी स्थापित होती है, परस्पर आत्मीयता बढती है तथा ऊँच-नीच का भेदभाव मिटता है। इससे अहकार के स्थान पर दया, करुणा तथा प्रेम की भावना बढती है। कौटिल्य ने कहा है कि दान के समान दूसरो को वश मे करने वाली और कोई शक्ति नही है—'न दानसम वश्यम् ।' किसी और ने भी यही बताया है—

दानेन भूतानि वशीभवन्ति,
दानेन वैराण्यपि यान्ति नाशम् ।
परोपि बन्धुत्वमुपैति दाने—
दान हि सर्वव्यसनानि हन्ति ॥

अर्थात् दान से सभी प्राणी वश मे हो जाते है, दान से शत्रुता का नाश हो जाता है। दान से पराया भी अपना हो जाता है। अधिक क्या, दान सभी विपत्तियो का नाश कर देता है।

दान से तीसरा लाभ यह है इससे मनुष्य को आत्मिक आनन्द प्राप्त होता है। जिस मनुष्य मे मानवता है वह दूसरो को खिलाकर खाने मे अथवा भूखे रह जाने मे भी आत्मतृप्ति का अनुभव करता है। ऐसे व्यक्ति को दूसरो को भूखा रखकर स्वय पेट भर लेने मे आत्मग्लानि का अनुभव होता है। कहा गया है —

मनसो यत्सुखं नित्य स स्वर्गो नरकोपमः ।
तस्मात् पर-सुखेनैव साधवः सुखिन सदा ॥

— पद्म पुराण

अर्थात् जहा सदा अपने मन को ही सुख मिलता है, वह स्वर्ग भी नरक के समान है। अत साधु पुरुष सदा दूसरो के सुख से ही सुखी होते है।

दान के द्वारा आत्मबल बढता है। प्रत्येक मानवीय शक्ति सदुपयोग से बढती है और दुरुपयोग से क्षीण होती है। ज्ञान देने से ज्ञान बढता है, दान देने से मान बढता है, सुख देने से सुख बढ़ता है और इसी तरह धन की

वृद्धि होती है। दानी व्यक्ति ससार के किसी भी व्यक्ति को विना भेदभाव के दान करता है। एक कहावत है—"Charity begins at home, but should not end there" दान घर से आरम्भ होता है किन्तु उसे वहीं समाप्त नही होना चाहिये।

सुज्ञ बन्धुओ! एक वात ध्यान मे आती है—जो निर्धन व्यक्ति हैं या जिनके पास अपनी आवश्यकता से अधिक तनिक भी नही है, वे दान किस प्रकार करे? इसका उत्तर यह है कि दान सिर्फ धन से ही नही होता। दान का उद्देश्य तो यह है कि जो भी वस्तु आपके पास है, उससे दूसरो को लाभ उठाने दीजिये। एक निर्धन को आप अपना पुराना कुर्त्ता दे सकते हैं। वह भी नही हो तो मगल कामना तथा आशीर्वाद दे सकते हैं। पीडित व्यक्ति को सहानुभूति प्रदान कर सकते हैं। अपने से छोटो की भूलो के लिये क्षमा प्रदान कर सकते हैं तथा वडो को आदर दे सकते है। किसी को अपना घर नही दे सकते तो भी सकट मे शरण तो दे सकते है? नौकरो को वेतन तथा ऋणदाताओ को आप ईमानदारी से रुपया दे सकते हैं। ऐसा कौन है जो किसी को कुछ नही दे सकता? मनुष्य के पास धन न भी हो तो तन तथा मन तो होता ही है जिसके द्वारा वह दूसरो का भला कर सकता है। किसी ने कहा भी है—

तन से सेवा कीजिये मन से भले विचार।
धन से इस संसार में, करिये पर उपकार॥

मनुष्य के स्वभाव मे अगर उदारता हो तो निर्धन होकर भी वह दूसरो का हितसाधक वन सकता है। त्यागी महात्माओ ने क्या ससार को किसी से भी कम दान दिया है! अल्प साधनो से जो वडा वडा काम करते है, उन्ही की प्रशसा होती है। दान करने मे तो प्रत्येक व्यक्ति समर्थ हो सकता है और होना भी चाहिये। अभाव का वहाना करके दान देने से मु ह मोड़ना कायरता है।

परोपकार के लिये तो लोग हसते-हसते अपने प्राण भी दे देते है। आत्मवलिदान मे वढकर दूसरा दान और क्या हो सकता है। रहीम ने कहा है—

तवही लगि जीवो भलो, दीवो पड़े न धीम।
विन दीवो जीवो जगत् हमहिं न रुचे रहीम॥

सज्जनो! दान का महत्त्व जितना अधिक है, उससे भी अधिक दान देते समय रहने वाली भावनाओ का है। इस विषय मे भी अव हम कुछ विचार करेगे।

सर्व प्रथम तो दाता को इस बात का ध्यान रखना चाहिये कि सात्त्विक दान वडे सहज भाव से सम्मान पूर्वक दिया जाए। किसी के याचना करने पर तिरस्कार पूर्वक देने से दान की महिमा विलीन हो जाती है और दान देना बरावर सा हो जाता है। रहीम ने इस बात को वडे ही मार्मिक ढ ग से कहा है:—

रहिमन वे नर मर चुके, जे कहुं मांगन जाहिं।
उनतें पहिले वे मुए, जिन मुख निकसत नाहिं॥

सचमुच ही जो याचना करता है वह तो मृतकवत् है ही किन्तु जो देने से इन्कार कर देता है वह मागने वाले से भी पहले मरे हुए के समान है। दान का उद्देश्य दूसरो को किसी भी प्रकार से ऊचा उठाना है, अतएव किसी को नीचा या पतित वनाकर कुछ देना अशोभनीय है। ऐसा दान पाकर किसी को प्रसन्नता नही होती है।

अमी पियावत मान विन, रहिमन मोहिं न सुहाय।
प्रेम सहित मरिबो भलो, जो विष देइ बुलाय॥

स्वेच्छापूर्वक तथा मान के साथ देने से साधारण वस्तु भी असाधारण वन जाती है। ऐसा दान लेने वाला अपमानित नही होता और दाता का अहकार भी प्रकट नही होता। दान देने पर मन मे अगर गर्व की भावना आ जाए तो दान का पुण्य नष्ट हो जाता हे।

दान देते समय दूसरी बात यह ध्यान मे रखने की है कि दान के पीछे किमी प्रकार की स्वार्थ वृत्ति नही होनी चाहिये। स्वार्थ परमार्थ को निष्फल वना देता है। वहुत से व्यक्ति सरकार का अथवा किसी सस्था का अनुग्रह प्राप्त करने के लिये चदा देते है। कुछ लोग नाम कमाने के लिये दिखावटी तथा वेमन से दान देते है। ऐसा दान नही है वरन् एक प्रकार की रिश्वत है।

प्रत्युपकार की आशा रखकर उपकार करना उदारता नही है। पुराणो मे कहा गया है कि जो निष्काम भाव से किसी का उपकार करता है वही साधु कहलाता है—"**उपकुर्यान्निराकाङ्क्षो यः स साधुरितीर्यते**" (स्कन्द पुराण)

अनेक व्यक्ति गुप्त दान दिया करते है। वास्तव मे वह दान सच्चा दान है। उसमे स्वार्थ की गध नही आती। नाम की आकाक्षा नही होती।

सन् १६२३ मे एक भारतीय शिष्ट मडल रगून गया और वहाँ एक चीनी परिवार मे ठहरा। शिष्ट मडल के सदस्यो ने चीनी गृहस्थ को भारत की स्थिति, रचनात्मक कार्यों का विवरण तथा राष्ट्रीय शिक्षण का महत्त्व

समझाया। चीनी गृहस्थ बड़ा प्रभावित हुआ और उसने डेपुटेशन को एक हजार रुपये का चैक प्रदान किया। पर यह स्पष्ट कह दिया कि मेरा नाम दान-दाता की सूची मे न लिखा जाय। कारण पूछने पर उसने बताया "हमारे धर्म-ग्रन्थो मे लिखा हुआ है, कि धर्म के लिये या दान हेतु यदि शुभ सकल्प आया है तो उसे तुरन्त पूर्ण करना चाहिये। धर्म का ऋण एक घडी भी अपने पास नही रखना चाहिये। जितना समय धर्म का ऋण देने मे लगता है, उतना ही अधिक पाप सर पर चढता है। हमारे यहा गुप्त दान का बडा महत्त्व है।"

चीनियो की धर्म-निष्ठा और दान के प्रति निस्पृह उदारता को देखकर भारतीय शिष्ट मडल वहुत चकित हुआ और प्रभावित भी।

अधिकतर व्यक्ति प्रथम तो दान लेने वाले को लताड देते हैं फिर भी अगर देना ही पड जाता है तो वडी ही कृपणता के साथ देते हैं। वह भी तव देते हैं जवकि दाताओ की सूची मे अपना नाम लिखा लेते है और सभव हो तो अपने नाम का पत्थर भी लगवाने का वचन ले लेते है।

आज किसी व्यक्ति ने जन-हितार्थ कोई कुआँ, धर्मशाला या उसमे एक दो कमरे वनवा दिये तो वहाँ अपने नाम का पत्थर अवश्य लगवाते हैं। किन्तु पुराने समय मे ऐसा नही होता था। लोग लाखो का दान करते थे परन्तु नाम अपना गुप्त ही रखते थे। ज्ञानी पुरुषो ने तो यहाँ तक कहा है यदि दाहिने हाथ से दान दो तो वाये हाथ को भी उसका पता मत लगने दो। तभी दिया हुआ दान सफल होता है।

तीसरी वात यह है कि दान सुपात्र को दिया जाय और समय पर दिया जाय। दान देते समय सुपात्र का ध्यान रखना परमावश्यक है। किसी वुद्धिमान ने किसी राजा को सबोधित कर कहा है —

अपात्रेभ्यस्तु दत्तानि, दानानि सुबहून्यपि।
वृथा भवन्ति राजेन्द्र, भस्मन्याज्याहुतिर्यथा॥

अर्थात् हे राजन्! जिस प्रकार राख मे घी की आहुति डालना व्यर्थ होता है उसी प्रकार कुपात्र को दान देना व्यर्थ है।

समर्थ दुर्जन व्यक्ति को दान देना वैसा ही है जैसे डाकू को अपना हथियार दे देना। सुपात्र वह है जो शारीरिक, आर्थिक अथवा सामाजिक असुविधाओ के कारण असमर्थ हो। उसे दान देकर ऊचा तथा कष्टो से मुक्त करना दान का सदुपयोग करना है। निर्वल अनाथ तथा रोगी व्यक्ति दान

के पात्र कहलाते है। दुष्ट व्यक्ति को दान देना बन्दर के हाथ मे दर्पण देने के समान है। तात्पर्य यह है कि करुणा-दान के लिए कोई अपात्र नही है। धर्म दान मे पात्रता अपात्रता का विचार किया जाता है।

समय का ध्यान रखना भी इसलिये आवश्यक है कि दिया हुआ दान व्यक्ति की आवश्यकता के समय मिल जाय। कहते है—'का वर्षा जब कृषि सुखानी'। जिस समय भूख लगती है, भोजन की आवश्यकता उसी समय होती है। भूखे व्यक्ति को दो दिन बाद भोजन देने के आश्वासन से कोई लाभ नही होता। जिस व्यक्ति को तन ढकने के लिये वस्त्र नही है उसे यह भरोसा दिलाना कि मरने पर तुम्हे बढिया कफन देगे, व्यर्थ है। समय पर तो थोडा दान देना भी सार्थक हो जाता है पर असमय मे अधिक देना भी व्यर्थ। अग्रेजी मे एक कहावत है—"Liberatily does not consist in giving much, but in giving at the right moment"

बहुत अधिक देने से उदारता सिद्ध नही होती, आवश्यकता के समय सहायता देना ही उदारता है।

बंधुओ! धन सदा किसी के पास नही रहता, भर्तृहरि ने कहा है—

दानं भोगो नाशस्तिस्रो गतयो भवन्ति वित्तस्य।
यो न ददाति न भुक्ते तस्य तृतीया गतिर्भवति॥

—नीतिशतक

धन की तीन गतियाँ है, दान, भोग तथा नाश। जो न तो धन का दान करता है और न उसे अपने उपभोग मे लेता है उसके धन की तीसरी गति होती है अर्थात् नष्ट हो जाता है।

बहनो! आप अठाई करती है, पाच-पाच उपवास करती है, लेकिन आपकी तपस्या फल तभी देगी जब कि आपका करुणाभाव अपनी अनेक विधवा तथा अनाथ बहनो के प्रति जागृत होगा। जब आप अन्नपूर्णा की तरह अपने भोजन मे से उन्हे भोजन कराएगी। अपने कपडो मे से उन्हे पहनने को वस्त्र देगी। ऐसा न हो कि घर मे सास, बहू, जिठानी-देवरानी आदि तुच्छ वस्तुओ को लेकर ही मन मुटाव पैदा करले।

प्राचीन समय मे मैत्रेयी नाम की एक नारी भी आप जैसी ही स्त्री थी। उसके पति ऋषि याज्ञवल्क्य ने सन्यास लेने की बात सोची। यह सोचते ही उन्होने अपनी दोनो पत्नियो को अपने पास बुलाया। एक का नाम था मैत्रेयी और दूसरी कात्यायनी। पत्नियो से ऋषि ने कहा—मै अब सन्यास लेना चाहता हूँ अत सारी सम्पत्ति तुम दोनो मे बाट देता हूँ।

कात्यायनी सीधी सादी थी अत. वह कुछ न बोली, किन्तु मैत्रेयी विचार-शील थी। वह बोली—

स्वामी! पृथ्वी भर का धन मुझे मिल जाय तो क्या उससे मुझे सच्चा सुख प्राप्त हो जाएगा? उससे मुझे मुक्ति मिल जाएगी?

याज्ञवल्क्य बोले—नही मैत्रेयी, धन से सच्चा सुख नही मिल सकता और न ही मुक्ति मिल सकती है।

तब मैत्रेयी बोली—तो मै ऐसी सम्पत्ति लेकर क्या करूगी? जिससे न तो सच्चा सुख ही मिल सकता है न ही मुक्ति। मुझे तो आप अमरत्व प्राप्त करने का अर्थात् मुक्ति प्राप्त करने का उपाय बताइये।

बताइये कितनी उच्चकोटि की भावना थी मैत्रेयी मे। क्या आप भी धन की असारता के बारे मे जानकर उसके प्रति निस्पृह हो सकती है।

बहनो! अगर आप चाहे तो अपने पतियो की अपेक्षा भी अधिक सुन्दर ढग मे तथा थोडे त्याग से भी दूसरो का अधिक भला कर सकती है।

परिग्रह मनुष्य को लोभी बनाता है। इसलिये प्रत्येक मनुष्य को चाहिये कि वह लोभी बनने के बदले दानी बन जाए। क्योकि इकट्ठा किया हुआ धन पाले हुए शत्रु के समान होता है और उसे छोडना भी बडा कठिन होता है। धन से धन की भूख बढती ही है, तृप्ति नही होती।

धन का सग्रह करने वाला ही धनी नही कहलाता है। धनी वह कहलाता है जो अपनी जरूरते कम करके दूसरे जरूरतमन्दो को धन देता है। कहा भी है—

"Wealth consists not in having great possession, but in having few wants" दौलत अधिक सग्रह करने मे नही वरन् थोडी आवश्यकताए होने मे है। दूसरे शब्दो मे यह समझना चाहिये कि एक मनुष्य की जितनी जरूरत है वह उतने ही धन का अधिकारी होता है। आवश्यकता से अधिक धन इकट्ठा करने का मतलब है, दूसरो का पेट काटकर अपनी तिजोरी भरना। फ्रेकलिन ने कहा :—"Wealth is not his that has it, but his that enjoys it" धन उसका नही है जिसके पास है, बल्कि उसका है जो उपयोग करता है।

आशा है आप समझ गए होंगे कि सग्रहवृत्ति एक तरह से पाप है तथा दान देना धर्म है। सद्गृहस्थ के लिये दान उत्तम से उत्तम धर्म है। इस्लाम धर्म के धर्मग्रन्थ कुरान शरीफ मे भी कहा गया है —

"प्रार्थना ईश्वर की तरफ आधे रास्ते तक ले जाती है, उपवास हमको उनके महल के द्वार तक पहुँचा देता है और दान से हम द्वार के अन्दर प्रवेश करते है।"

बाइविल मे भी लिखा है —"यद्यपि मुझे पूर्ण विश्वास है कि पर्वतो को भी हिला सकता हूँ, फिर भी मुझमे दान-भावना नही है तो मै कुछ भी नही हू।"

दान की भावना मनुष्य को अनेक सुख प्रदान करती है। एक सस्कृत के सुन्दर श्लोक मे बताया गया है —

दान ख्याति-कर सदा हितकरं संसार-सौख्याकरं।
नृणां प्रीतिकर गुणाकर-करं लक्ष्मीकर किङ्करं॥
स्वर्गावासकरं गतिक्षयकर निर्वाण-सम्पत्कर।
वर्णायुर्बलबुद्धिवर्द्धनकरं दानं प्रदेय बुधैः॥

दान इस ससार मे ख्याति, सुख, गुण, आयु, बल, लक्ष्मी तथा मनुष्यो का प्रेम दिलाने वाला होता है तथा इस लोक के बाद स्वर्ग तथा अन्त मे जन्म-मरण के बधन से छुटकारा दिलाकर मोक्ष की भी प्राप्ति कराता है। अत. बुद्धिमान मनुष्यो को दान अवश्य देना चाहिये।

सम्राट् हर्षवर्धन के विषय मे कहा जाता है कि वह प्रति छठे वर्ष प्रयाग मे कुम्भ पर्व के अवसर पर जाया करते थे और अपना सर्वस्व दान करके लौटते थे। शरीर पर पहनने के लिये एक वस्त्र भी वे अपनी बहन तपस्विनी राज्यश्री से मागकर लिया करते थे। कैसा महान् दान था उनका ? क्या ऐसे नर-रत्न सर्वत्र मिलते है ?

राजा भोज की दानवीरता भी बडी प्रसिद्ध है। एक बार उनके राजकवि प्रचण्ड गर्मी मे पैदल ही किसी कार्यवश जा रहे थे। रास्ते मे एक दुर्बल व गरीब व्यक्ति सडक पर नगे पैर चलता हुआ उन्हे दिखाई पडा। उसके पैरो मे छाले पड गए थे तेज धूप के कारण।

कोमल हृदय कवि ने उस गरीब को अपने जूते दे दिये और वे स्वय नगे पैर चल पडे। सामने की ओर से राजा का महावत हाथी लेकर आरहा था। उसने राजकवि को हाथी पर बैठा लिया। सयोग से राजा भोज भी रथ पर बैठे हुए मार्ग मे मिल गये। भोज ने हसी मे पूछा—आपको यह हाथी कैसे मिल गया ? कवि ने उत्तर दिया—

उपानह मया दत्त जीर्ण कर्ण-विवर्जितम्।
तत्पुण्येन गजारूढो न दत्त वै हि तद् गतम्॥

राजन् ! मैंने अपना फटा पुराना जूता दान कर दिया, उस पुण्य से हाथी पर बैठा हू । जो धन दान नही किया गया, उसे व्यर्थ ही समझो ।

राजा भोज कवि का उत्तर श्लोक मे सुनकर बड़े प्रसन्न हुए और उन्होंने वह हाथी कवि को दे दिया । वैसे भी वे बड़े दानी थे । एक एक श्लोक पर एक-एक लक्ष मुद्राएं तक दे दिया करते थे ।

एक बार उनके मन्त्री ने विचार किया कि राजा भोज के दान को कुछ नियत्रित करना चाहिये । उसने राजा के शयनगृह की दीवार पर एक पक्ति लिखी—"**आपदर्थे धन रक्षेत् ।**" (विपत्ति के समय के लिये धन की रक्षा करनी चाहिये) । प्रत्युत्तर मे राजा ने लिख दिया—"**श्रीमतामापद कुतः**" (धनवानो को विपत्ति कहाँ ?) मन्त्री ने फिर लिखा—"**सा चेदपगता लक्ष्मीं**" (धन नष्ट होने पर विपत्ति आती है) भोज ने प्रत्युत्तर मे फिर लिख दिया—'**संचितार्थो विनश्यति**" (सचित किये हुए धन का भी तो विनाश हो जाता है) ।

बन्धुओ ! इस प्रकार के उदाहरणो से साबित हो जाता है कि सचय हानिकारक है और दान लाभकारी । आत्मा को शाति तथा सन्तोप देने वाला दान एक उत्तम गुण है । अत दान देने का अवसर प्राप्त होने पर कभी भी मनुष्य को पीछे नही हटना चाहिये ।

३ | प्रामाणिकता

प्रत्येक मनुष्य अपने जीवन का निर्माण करते समय अनेक प्रकार की कामनाएं हृदय मे रखता है। वह महान् और यशस्वी बनना चाहता है, अपनी आत्मा को उन्नत बनाना चाहता है और चरित्रवान् वनने की आकाक्षा करता है।

किन्तु यह सब तो तभी हो सकता है जबकि वह अपनी प्रत्येक क्रिया पूर्ण सावधानी ईमानदारी तथा प्रामाणिकता से करे। मनुष्य का चरित्र दो प्रकार से भव्य बनता है। प्रथम उसके विचार उत्तम हो तथा दूसरा उसकी क्रिया विचारो के अनुसार ही उत्तम हो।

मनुष्य के दो रूप है—आभ्यन्तर और वाह्य। आभ्यन्तर रूप को महान् बनाने के लिये उसके हृदय मे दया, करुणा, कोमलता, निर्भयता तथा सन्तोष आदि गुण होने चाहिये और बाह्य रूप को महान् बनाने के लिये उसे अहिंसा, सेवा, सत्यवादिता निष्कपटता, तप, दान ईमानदारी तथा प्रामाणिकता आदि को अपनाना चाहिये।

प्रामाणिकता का अर्थ है ईमानदारी। ईमानदार व्यक्ति प्रामाणिक माना जाता है। मनुष्य को ईमानदारी की आवश्यकता प्रत्येक दिशा मे है। माता-पिता, परिजनो के प्रति अपने कर्त्तव्य मे ईमानदारी, मित्रो के प्रति मैत्री में ईमानदारी, देश के प्रति व सरकार के प्रति ईमानदारी, देव, गुरु व धर्म के प्रति ईमानदारी—सब जगह ईमानदारी चाहिये। किन्तु सबसे अधिक ईमानदारी की आवश्यकता वहा है, जहा धन-पैसे सम्बन्धी व्यवहार होता है।

अधिक व्याज खाने की मनोवृत्ति, अनुचित नफा खाने की वृत्ति, अनाथ विधवाओ की सम्पत्ति दबाने की वृत्ति, सक्षेप मे पर-द्रव्य की इच्छा रखना और उसके अनुरूप व्यवहार तथा क्रिया करना ही बेईमानी है और यही अप्रामाणिकता की निशानी है।

ईमानदारी मनुष्य के उत्तम निर्माण की आधारशिला है। जिस मनुष्य मे ईमान नही होता वह मानवता से गिर जाता है। मानवता से गिरा हुआ आदमी जानवर भी नही रहता। क्योकि जानवर भी किसी के प्रति बेईमानी नही करता। मनुष्य के हाथ मे ही है कि वह जो चाहे बने—जानवर,आदमी अथवा देवता। शायर 'हाली' ने सत्य कहा है—

जानवर, आदमी, फरिश्ता, खुदा,
आदमी की है सैकड़ो किस्मे।

वास्तव मे मनुष्य सब कुछ बन सकता है। फरिश्ता अर्थात् देवता और भगवान् भी—अगर वह अपने जीवन मे ईमानदार और प्रामाणिक हो। ईमानदार मनुष्य विधाता की सर्वोत्कृष्ट रचना है—An honest man is God's best creation

शास्त्रो मे ससार को सागर की उपमा दी गई है। इस सागर मे अनेक प्रलोभन रूपी मगरमच्छ है किन्तु ईमानरूपी जहाज उन सबसे रक्षा करता हुआ हमे इस सागर से पार ले जा सकता है।

जिस प्रकार भवन के लिये छत की, अन्धकार के लिये दीपक की, वृद्ध के लिये लकडी की और नाव के लिये पतवारो की आवश्यकता होती है उसी प्रकार मनुष्य के लिये ईमान की आवश्यकता है।

ईमानदारी के साथ परिश्रम पूर्वक कमाए गए धन के उपभोग मे जो आनन्द आता है वह बेईमानी, धोखे तथा छल कपट पूर्वक कमाए गए धन मे कहा आ सकता है ? अनुचित साधनो से कमाए गए धन से कुछ समय निकल सकता है किन्तु उससे मनुष्य की प्रामाणिकता खत्म हो जाती है। मनुष्यो का उस पर से विश्वास उठ जाता है। इस प्रकार यह लोक तो उनका खराब होता ही है साथ ही परलोक भी बिगडता है। बेईमानी और धोखेबाजी से अनेक कर्मो का बध होता है और फिर उसके परिणाम भुगतने ही पडते हैं। जो मनुष्य दूसरो को धोखा देते हैं वे मानो ईश्वर को ही धोखा देते हैं।

किन्तु धोखा भी अधिक दिन नही चलता। अल्प समय तक धोखेबाज

उन्नति करता दिखाई देता है किन्तु बाद मे उसे मूल और ब्याज दोनों से ही हाथ धोना पडता है। धोखे से दूसरो को नुकसान पहुँचाने वाले का विनाश निश्चित है। वह हर बात मे ईमानदार मनुष्य से पिछडा हुआ रहता है। वह न तो अपने चरित्र का निर्माण कर सकता है और न ही सुख तथा सतोप का अनुभव कर पाता है। ऐसे लोगो को चेतावनी देते हुए किसी पजाबी कवि ने कहा है—

कितिया कमाइया जे तू, जगते बथेरियां।
धर्म न कीता सबे खू बिच गेरिया॥
लखा ते क्रोडा लाके महल बनाए ने।
फरके ब्लेकां तू बगले पवाए ने॥
जाएगा छड पाइयां काल जदो फेरियां॥
बि० एल० बुराइया अजे भी तूं हट जा।
चार दिन जीना नेकी जग उत्ते खट्ट जा॥
माया दे लोभी गलां याद रख मेरियां॥

अर्थात् नादान व्यक्ति! तूने इस जगत् मे बहुत कमाई करली किन्तु अगर धर्म नही किया तो सब व्यर्थ है। ब्लेक मार्केट करके तूने लाखो और करोडो रुपये पैदा किये और बगले व महल बनवाए किन्तु जब काल आ जाएगा तब तो इन मबको छोडकर तुझे जाना पडेगा। इसलिये यह मेरी बात मानकर अब भी तू अनीति छोड दे और नेकीपूर्वक चार दिन इस ससार मे रह ले। माया के लोभी व्यक्ति! मेरी बात सदा याद रख।

बधुओ! ईमानदारी के अभाव मे मनुष्य की शक्ति और साहस घट जाता है। ईमानदारी का सदा बोल बाला होता है और वह मनुष्य के जीवन पर प्रामाणिकता की छाप लगा देती है। बेईमानी पूर्वक धन कमाना और चोरी करना एक ही बात हे। वह देश और वे मनुष्य धन्य है जो दूसरे के धन को या दूसरे की वस्तु को छूना पाप समझते है।

कहते है—कि तिब्बत के व्यक्ति इतने ईमानदार और नीतिमान् होते हैं कि वे पराई चीज को छूते भी नही। वहाँ आज रास्ते पर आप अपनी कोई वस्तु भूल जाऐ तो कल वह आपको उसी जगह पडी हुई मिलेगी। मैंने भी स्वय ऐसी घटनाए अपनी यात्राओ के दौरान देखी है।

जब हम शिमला से बिलासपुर गये तो मार्ग का ठीक ध्यान नही रहा। सामने से एक व्यक्ति आ रहा था, उससे हमने मार्ग के विषय मे पूछा।

व्यक्ति बड़ा भला था, बोला—महाराजजी ! मैं आपके साथ चार माइल वापिस चलता हू, वहा तक आपको पहुँचा कर लौट आऊगा ।

यह कह कर उसने अपनी गठरी और जो कुछ भी सामान था, वही सडक पर रख दिया और हमारे साथ चलने लगा । हमे बड़ा आश्चर्य हुआ । मैंने कहा—भाई ! तुम्हारा यह सामान कोई ले जाएगा तो ?

वह बोला - अब वापिस बोझ लेकर क्यो आऊ-जाऊं ? इधर चोरी नही होती । आने पर मेरा सामान मुझे वापिस सुरक्षित मिल जाएगा, कोई भी इसे नही छुएगा ।

सीधे-साधे, अपढ और धर्म-कर्म के ज्ञान से शून्य उन गरीब व्यक्तियो मे भी ऐसी ईमानदारी देखकर मेरा हृदय बहुत ही प्रभावित हुआ और लगा कि अभी तक तो भारत से प्रामाणिकता पूरी तरह लुप्त नही हुई है । अभी भी वह यत्र-तत्र बिखरी हुई है ।

प्रामाणिकता जीवन का महान् गुण है । उसके बिना जीवन जीवन नही है । अप्रामाणिक व्यक्ति की न तो घर मे कद्र होती है और न ही समाज मे उसका स्थान बनता है । कदम-कदम पर प्रामाणिकता की खोज होती है ।

आप एक गाय खरीदते हैं तो उसकी चाल-ढाल, ऊपरी सौन्दर्य तथा शारीरिक शक्ति की जाच करते हैं ।

इसी प्रकार मनुष्य की भी जाच प्रामाणिकता से होती है । आप घर पर नौकर रखना चाहते है पर आदमी को सुन्दर, युवा, हृष्ट-पुष्ट और भडकीले कपड़े पहने हुए देखकर ही नौकर रख लेते हैं क्या ? नही । आप उसकी प्रामाणिकता की तलाश करते है । अन्य व्यक्तियो से पूछताछ करते है कि यह चोर, उचक्का या दुश्चरित्र तो नही है ।

कहने का मतलब यही कि आप उसके सौन्दर्य आदि को नही देखेगे । देखेगे उसकी प्रामाणिकता को, ईमानदारी को ।

प्रामाणिक व्यक्ति से मनुष्य को किसी प्रकार का भय नहीं रहता, भले ही वह दुश्मन ही क्यो न हो । प्राचीन समय मे युद्ध हुआ करते थे बडी ही ईमानदारी से । युद्ध के अनेक नियम थे और कोई उनका उल्लघन कभी नही करता था ।

शत्रु अगर निहत्था होता तो उस पर कभी वार नही किया जाता था । एक शत्रु के पास अगर हाथी, घोडा अथवा अन्य कोई साधन होता और

सामने वाले के पास वह नही होता तब भी पहला व्यक्ति उससे नही लडता था। दुश्मन सोया हुआ होता तो उस पर कभी हमला नही किया जाता था।

महाभारत जिस समय हो रहा था, कौरवो तथा पाडवो की सेनाएँ दिन भर युद्ध करती, किन्तु संध्या होते ही युद्ध बन्द कर दिया जाता और दोनो ओर की सेनाए निश्चिततापूर्वक आराम करती। पाडव विपक्षी होते हुए भी अपने गुरु द्रोणाचार्य के पास जाकर युद्ध सम्बन्धी जानकारी प्राप्त करते थे तथा विपक्षी होने पर भी द्रोणाचार्य स्नेहपूर्वक पाडवो को आवश्यक जानकारी दिया करते थे। यहा तक कि अपनी मृत्यु का भेद भी उन्होने पाडवो को बताया था। रात्रि के समय कौरव तथा पाडव भीष्मपितामह की साथ साथ यथाविधि सेवा करते थे और उनसे एक सरीखा आशीर्वाद प्राप्त किया करते थे। कितनी प्रामाणिकता थी उस समय ?

और आज ? आज कितनी वेईमानी से युद्ध होते है। हाल ही के उदाहरण है—पाकिस्तानियो ने अनेक जीवन और मृत्यु से जूझते हुए घायलो और बीमारो के ऊपर अस्पतालो पर बम वरसाए, मन्दिरो और गिरजाघरो को विध्वस किया। रात्रि के स्तब्ध, शात वातावरण मे सोये हुए निरपराध नागरिको को चिरनिद्रा मे सुला दिया।

कितनी अप्रामाणिकता है आज के जीवन मे ? प्रामाणिक व्यक्ति के तो हाथ मे तलवार होने पर भी मनुष्य को भय नही होता। आप अमीर है, लखपति और करोडपति है, फिर भी एक नाई के पास जाकर उसके आगे निस्सकोच अपना मस्तक झुका देते है। क्या आप सोचते है कि कही यह गर्दन पर छुरा तो नही चला देगा ? नही सोचते। क्योकि उसमे प्रामाणिकता है। इसलिये उसके हाथ मे अस्त्र होते हुए भी आप उससे घबराते नही।

दूसरी ओर किसी के हाथ मे पेन ही होता है, फिर भी उसके पास जाने मे मनुष्य डरते है। पेन मे उस्तरे जितनी शक्ति नही होती फिर भी मनुष्य को कलमकसाई कह दिया जाता है। क्योकि लोग अपनी प्रामाणिकता खोते जा रहे है। एक समय था जबकि अदालतो मे जैनियो की गवाही विना तर्क-वितर्क के पूर्ण सत्य मानी जाती थी, क्योकि यह जगत्प्रसिद्ध था कि जैन झूठ नही बोलते।

लेकिन आज ? आज तो चन्द टको के लोभ मे झूठ वोलने वाले और

केसरिया नाथजी की कसमे खाने वाले बुला लिये जाते हैं। आप ओसवाल महाजन कहलाते है। जन तो सभी होते हैं पर आपके पुरखाओ ने प्रामाणिकता के कारण जो महाजन की पदवी प्राप्त की थी उसे भी आप अब खोते जा रहे हैं। कितने-कितने उत्तम तथा महान् कार्य करके उन्होने इतना सम्माननीय पद प्राप्त किया था; पर आज आपके लिये उसका महत्त्व कहां है ? उस पद को अक्षुण्ण रखने के लिये आप कहां कटिवद्ध हैं ?

आज के वालक से पूछा जाय तो वह नक्शे मे से जर्मनी, अमेरिका और अन्य सभी स्थान वता देगा पर उनमे अगर उसके गुरु के रहने का अथवा दादा के मरने का स्थान पूछा जाय तो वह नही वता सकेगा।

राम रामायण मे नही रहते और नही कृष्ण गीता मे। उन्होने जीवन मे सच्चाई और प्रामाणिकता को स्थान दिया, इसलिये वे जगत् पूज्य वने और इसलिए आज सारा ससार उनके सामने नतमस्तक होता है। पशु की पहचान उसके शरीर से और मनुष्य की पहचान उसके हृदय की पवित्रता से होती है।

मनुष्य के शरीर मे नही, किन्तु उसके हृदय में इतनी शक्ति होती है कि वह देवताओ को भी मात कर देता है। एक सर्वार्थसिद्धि के देवता को ३३ हजार वर्ष में भूख लगती है, ३३ पक्ष मे वह एक वार श्वास लेता है और ३३ पक्ष में एक निश्वास छोडता है। किन्तु मनुष्य एक अन्तर्मूहूर्त मे जितना पुण्योपार्जन कर लेता है उतना सर्वार्थसिद्धि का देवता ३३ सागरोपम तक लगातार प्रयत्न करने पर भी नही कर पाता। किसी शायर ने कहा है—

जो फरिश्ते (देवता) करते हैं, कर सकता है इन्सान भी।
मगर फरिश्तो से न हो जो काम है इन्सान का॥

फ़रिश्ते से वेहतर है इन्सान वनना।
हर फ़रिस्ते को यह हसरत है कि इन्सा होता॥

समस्त शास्त्र यही कहते हैं कि देवताओ को भी दुर्लभ यह मनुष्य तन भाग्य मे मिलता है।

वड़े भाग मानुष - तन पावा,
सुर दुर्लभ सव ग्रन्थहि गावा।

— तुलसी रामायण

किन्तु यह दुर्लभ मानुप तन पाकर भी हम उसका लाभ कहा उठाते है। समाज मे प्रत्येक व्यक्ति एक दूसरे की त्रुटिया खोजा करते है। परिणामस्वरूप कोई किसी के प्रति प्रामाणिक नही वन पाता।

आज के नवयुवक कहते हैं—हमारी तो धर्म पर श्रद्धा नही रही। कितने भ्रम मे है वे। यह वही धर्म-पथ है, जिस पर भगवान् महावीर और बुद्ध चले हैं, राम और कृष्ण चले है, ईसा और मोहम्मद चले है। आपके लिये ही यह पथ अश्रद्धा के योग्य हो गया क्या ? हुआ सिर्फ यह है कि हममे ही प्रामाणिकता नही रही। हम ही एक दूसरे का विश्वास नही करते और एक दूसरे की कमजोरिया दूर करने की बजाय उनकी निन्दा करते है। इस प्रकार न दूसरो को इस साधना-पथ पर चलने देते है और न दूसरो की निदा आलोचना से व्यस्त रहने के कारण स्वय ही चल पाते हैं। ऐसे लोगो के लिये ही कहा गया है—

पलटू यह साची कहे, अपने मन का फेर।
तुझे पराई क्या परी, अपनी ओर निबेर॥

प्रत्येक मनुष्य को दूसरो की बुराइया न देखकर अपनी ही बुराई ढूढनी चाहिये और उसे छोडने का प्रयत्न करना चाहिये। परिणाम यह होगा कि सभी का एक दूसरे पर विश्वास हो जाएगा और सभी व्यक्ति प्रामाणिक साबित हो सकेंगे।

आज प्रत्येक व्यक्ति मे प्रामाणिकता की आवश्यकता है। अगर आप मे से कोइ वकील है तो उन्हे चाहिये कि आप सच्चे मुकदमे ही अपने हाथ मे ले। एक झूठे मुकदमे के पीछे सैकडो झूठी बाते गढनी पडती है तथा झूठी गवाहियाँ बनानी पडती है और आप अप्रामाणिक होते है।

अगर आप डाक्टर हैं तो रोगियो को लूटने का प्रयत्न छोडकर उन्हे उचित दवा तथा उचित परामर्श दीजिये। अगर रोगी अत्यधिक गरीब है और मृतप्राय है तो कम से कम उस स्थिति मे तो आप फीस मत लीजिये।

अगर आप अध्यापक है तो भावी सतति को पूरे परिश्रम द्वारा श्रेष्ठ, सभ्य तथा चरित्रवान् बनाने का प्रयत्न कीजिये। अपने समाज निर्माण के उत्तरदायित्व को निभाइये। राष्ट्र का भावी निर्माण अपने हाथो मे है, यह न भूलिए।

अगर आप व्यापारी है तब तो आपको और भी अधिक ध्यान रखना होगा। यह ठीक है कि कुछ मुनाफा तो प्रत्येक वस्तु पर लेने से ही दूकानदारी

चलती है किन्तु दुगुने, तिगुने और चौगुने दाम वस्तुओं के लेकर ग्राहकों को लूटना तथा ब्लेक मार्केटिंग करना बडी भारी अप्रामाणिकता है।

यह कभी मत भूलिये कि प्रामाणिकतापूर्वक प्राप्त किया हुआ पैसा मन को बडा सतोप तथा सुख पहुँचाता है। किसी विद्वान ने बड़ी सुन्दर बात कही है—Just as health is to the body same is honesty to the soul. जिस प्रकार शरीर के लिये स्वास्थ्य की आवश्यकता है उसी प्रकार आत्मा के लिये ईमानदारी की।

प्रामाणिकता नौकर को भी मालिक बना देती है। हम देखते हैं कि अनेक पुराने नौकर तथा विश्वस्त मुनीम तिजोरी की चाबियां अपने पास रखते हैं और यथा समय उसमे से धन पैसा आवश्यक कार्य के लिये निकालते हैं। जबकि वही तिजोरी की चाबी मालिक अपने फैशन परस्त और व्यर्थ में पैसा उडाने वाले पुत्र के हाथ मे भी नही देता जो कि कल मालिक बनने वाला है। शेक्सपीयर ने कहा—कोई भी उत्तरदान ईमानदारी के सदृश बहुमूल्य नही है—No legacy is so rich as honesty

ईमानदार व्यक्ति चार प्रकार से उन्नति करता है। पहले वह दूसरो का विश्वास करके उन्हे आकर्षित करता है, दूसरे वह उनका विश्वास पात्र बनता है, तीसरे विश्वास के कारण उसका गौरव बढता है और चौथे गौरव बढ़ने से उसको सफलता मिलती है।

बेईमानी का फल इससे उलटा होता है। बेईमान व्यक्ति स्वयं दूसरो पर अविश्वास करता है, दूसरे, औरो का अविश्वास-भाजन बनता है, तीसरे, निंदा और अपयश का भागी बनता है और चौथे, उसे अपने कार्य मे सफलता नही होती।

प्रामाणिक व्यक्ति का सबसे बडा गुण सच बोलना है और सत्य की कभी हार नहीं होती। कबीर ने कहा है—

साँचे साप न लागई, साँचे काल न खाय।
साँचे को साँचा मिलै, साँचे मांहि समाय॥

बंधुओ! प्रामाणिकता से बढकर मनुष्य के लिये और कोई वस्तु नहीं है। प्रामाणिकता ही मनुष्य को उन्नति के शिखर पर ले जा सकती है और उसके जीवन मे दिव्यता ला सकती है।

●●

४ | महिमामयी नारी

"यत्र नार्यस्तु पूज्यते रमन्ते तत्र देवता ।"

इस छोटे से श्लोकाश से हमारी आज की वात शुरू होती है । इसमे कहा गया है कि जहा स्त्रिया पूजनीय दृष्टि से देखी जाती है, वहा देवता भी आनन्दपूर्वक क्रीडा करते हैं ।

इतिहास भी इस वात की साक्षी देता है कि नारी नर की सबसे वडी शक्ति रही है । नारी के वल पर ही वह अपने निर्दिष्ट पथ पर वढता चला गया है और अनेकानेक विपत्तियो का मुकाबिला करता रहा है । मनुष्य को सच्चे अर्थो मे मनुष्य वनाने का श्रेय नारी जाति को ही है । अनेकानेक महापुरुष हुए है जो नारी के सहज व स्वाभाविक गुणो से प्रेरणा पाकर अपने पथ पर अग्रसर हो सके है । इसलिये सदा से मानव नारी का कृतज्ञ रहा है और उसे श्रद्धापूर्ण दृष्टि से देखता रहा है । जयशकर प्रसाद ने इस युग मे भी यही कहा है—

नारी तुम केवल श्रद्धा हो, विश्वास रचत नग पगतल मे ।
पीयूष स्रोत सी बहा करो, जीवन के सुन्दर समतल मे ॥

नारी ने त्याग, प्रेम, उदारता, सहिष्णुता, वीरता तथा सेवा आदि अपने अनेक गुणो से मानव को अभिभूत किया है, उसे विनाश के मार्ग पर जाने से रोका है । वह छाया की तरह पुरुष के जीवन मे सगिनी बनकर रही है । पुत्री, वहन, पत्नी तथा माता बनकर उसने अपने पावन कर्त्तव्यो को निभाया है । इसलिये वडे आदरयुक्त शब्दो मे उसके लिये कहा है—

कार्येषु मत्री, करणेषु दासी,
भोज्येषु माता, शयनेषु रम्भा।
धर्मानुकूला, क्षमया धरित्री,
भार्या च षड्गुण्यवती सु दुर्लभा ॥

अर्थात् प्रत्येक कार्य मे मत्री के समान सलाह देने वाली, सेवादि मे दासी के समान कार्य करने वाली, भोजन कराने मे माता के समान, शयन के समय रम्भा के सदृश सुख देने वाली, धर्म के अनुकूल तथा क्षमा गुण को धारण करने मे पृथ्वी के समान, इन छह गुणो से युक्त पत्नी दुर्लभ होती है। जो नारी इन गुणो से अलकृत होती है वह अपने पितृकुल तथा श्वसुर कुल दोनो को ही स्वर्गतुल्य बना देती है। आनन्द व वैभव का उस गृह मे साम्राज्य होता है। ऐसे ही गृहो मे देवताओ का निवास माना जाता है।

प्राचीन काल मे, जिसे हम वैदिक काल भी कहते है, नारियो का स्थान बहुत ही महत्त्वपूर्ण तथा आदरयुक्त था। गार्गी, मैत्रेयी तथा लोपामुद्रा जैसी अनेक विदुषी नारिया हुई हैं जिन्होने वेदो की ऋचाएं भी लिखी है। हमारे जैन शास्त्रो मे भी अनेक विदुषी सतियो के नाम व कथानक प्राप्त होते हैं। महसती सीता, चन्दनबाला, ब्राह्मी तथा सुन्दरी आदि सोलह सतिया तो हुई ही है जिनके नाम को तथा गुणो को हम आज भी प्रतिदिन प्रभात मे याद करते है।

मैत्रेयी ससार को घृणा की दृष्टि से देखती थी। जब याज्ञवल्क्य अपनी विदुषी सहधर्मिणी मैत्रेयी को सब कुछ देकर वन जाने को प्रस्तुत हुए तब पतिपरायणा मैत्रेयी बोली—अगर ऐश्वर्य से भरी हुई पृथ्वी भी मुझे मिल जाएगी तो क्या मैं अमर हो जाऊगी ? याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया—धन से तुम अमर नही हो सकोगी पर सुखी हो जाओगी। मैत्रेयी ने कह दिया—जिससे मैं अमर नही हो सकूगी उसे लेकर क्या करूगी ?

कितनी गम्भीर दार्शनिकता से उसने जीवन की ओर तथा वैभव की ओर दृष्टिपात किया था ?

छाया के समान राम का अनुसरण करने वाली सीता ने बिना राम की सहायता के ही कर्त्तव्य निर्दिष्ट कर लिया था। वन गमन के सारे क्लेशो को सहने के लिये स्वय तैयार हो गई थी। किन्तु अकारण ही पति द्वारा निर्वासित की जाने पर भी उसने अपने धैर्य को नही छोड़ा। उसका सारा जीवन ही साकार साहस है, जिस पर दैन्य की छाया कभी नही पड़ी।

नारी साक्षात प्रेरणा है। वैष्णव रामायण के अनुसार उर्मिला—जिसने कर्त्तव्य पथ पर आगे बढते हुए अपने प्रियतम लक्ष्मण को नही रोका तथा चौदह वर्षो तक कठिन वियोग सहन किया। उर्मिला का यह त्याग तथा उसकी सहिष्णुता आज ससार मे अमर है।

बुद्ध के द्वारा परित्यक्ता यशोधरा ने अपूर्व साहस द्वारा कर्तव्य पथ खोजा। अपने पुत्र को परिवर्धित किया और अन्त मे सिद्धार्थ के प्रबुद्ध होकर लौटने पर कर्त्तव्य की गरिमा से गुरु बनकर उसके सामने गई। दीन, हीन बनकर अथवा प्रणय की याचिका बनकर नही। सती चदनबाला ने अनेक परिषह सहे। उसकी आत्म-शक्ति व तेज के प्रताप से लोहे की हथकड़ियाँ भी टूटकर बिखर गई और वह देव-पूज्य बन गई। महापतिव्रता सती सुभद्रा का नाम भी आज इतिहास मे स्वर्णाक्षरो से अकित है।

प्राचीन काल मे नारियाँ समाज मे हीन नही समझी जाती थी। पुरुषो के समान ही उन्हे सुविधाऐं मिलती थी। उन्हे सच्चे रूप मे अर्धांगिनी माना जाता था।

उस समय के भारत मे जितने आदर्श स्वरूप देवी-देवताओ की मान्यता थी, उनमे स्त्री रूप का महत्त्व अधिक था। विद्या की देवी सरस्वती, धन की देवी लक्ष्मी, सौन्दर्य की रति तथा पवित्रता की प्रतीक गगा थी। शक्ति के लिये महाकाली दुर्गा तथा पार्वती देवी की भी उपासना की जाती थी। वर्तमान मे भी विद्या के लिये सरस्वती की, सम्पत्ति की कामना होने पर लक्ष्मी की तथा शक्ति के लिये काली की उपासना की जाती है। यहा तक कि पशुओ मे भी बैल की नही, गाय की पूजा होती है। महापुरुषो के नामो मे प्रथम स्त्रियो के ही नाम मिलते है यथा सीता-राम, राधा-कृष्ण, गौरी-शकर। इस सबसे यही प्रतीत होता है कि महिमामयी नारी मनुष्य के जीवन का चहुँमुखी कवच है, जिसके कारण कठिनाइयाँ, दुख व परेशानिया पुरुष तक नही पहुँच पाती, जबतक कि वह विद्यमान है।

उस काल मे नारियो का आत्मिकविकास भी बहुत ऊँचा था। सामाजिक, धार्मिक व राजनैतिक क्षेत्र मे स्त्रियो को समान अधिकार था। अपनी विद्वत्ता एव प्रतिभा के सस्कार अपनी सतान पर अकित कर वे उन्हे पूर्ण गुणवान तथा नीतिमान बना देती थी। धर्म परायणा सती साध्वी तथा आत्मविश्वास से परिपूर्ण नारियो का मनोबल इतना दृढ होता था कि पुरुष उनकी अवहेलना नही कर पाते थे।

कृष्ण और सुदामा मित्र थे। वे बचपन में साथ-साथ पढ़े थे। बड़े होने पर कृष्ण तो द्वारिका के महाराजा बन गये पर सुदामा गरीब दरिद्र ब्राह्मण ही बने रहे। यद्यपि वे विद्वान और भक्त थे। उनकी पत्नी बड़ी पतिपरायणा थी। प्राय. सुदामा उससे अपने बचपन की, तथा कृष्ण से मित्रता की चर्चा किया करते थे। एक दिन उनकी पत्नी ने सुदामाजी से द्वारिका जाने के लिए आग्रह पूर्वक कहा। उन्हें समझाया कि जब श्री कृष्ण जैसे आपके मित्र हैं तो फिर आप इतनी तकलीफ मे क्यो दिन व्यतीत कर रहे हैं?

सुदामा सतोषप्रिय भक्त थे। उन्हें धन की आकाक्षा रच मात्र भी नही थी। प्रभु की भक्ति से ही उनका हृदय परिपूर्ण था। उन्होंने पत्नी से कहा—

मेरे हिये हरि के पद पंकज, बार हजार ले देखु परिच्छा।
औरन को धन चाहिये बावरि, ब्राह्मण को धन केवल भिच्छा॥

पर बावली पत्नी मानी नही। वह स्वय तो कष्ट उठा सकती थी पर पति के कष्ट से उसका हृदय व्यथित रहता था। फिर बोली—

द्वारका लौं जात पिए! एसे अलसात तुम,
काहे को लजात भई कौन सी विचित्रई।
जो पै सब जनम दरिद्र ही सतायो तो पै,
कौन काज आइ है कृपानिधि की मित्रई॥

यानि द्वारिका जाने मे तुम्हे कितना आलस्य है प्रिय! जाने मे लज्जा किस बात की है? मित्र के पास जाना कोई अनोखी बात है क्या? अगर सारा जीवन दरिद्रता मे ही बीते तो फिर करुणा के सागर कृष्ण की मित्रता कब काम आएगी?

विचारे सुदामा फिर क्या करते? पत्नी को मधुर उपालभ देते हुए द्वारिका जाने के लिए तैयार हुए—

द्वारिका जाहु जू द्वारिका जाहु जू आठहू जाम यही झक तेरे।
जो न कह्यो करिये तौ बड़ो दुख जैए कहा अपनी गति हेरे।

आठो पहर तूने तो द्वारिका जाओ, द्वारिका जाओ की रट लगा रखी है! मेरी इच्छा तो नही है मगर तेरा कहा न मानू तो भी मेरी गति नही है। यही तो बडा दुख है।

इस प्रकार पत्नी की अवहेलना न करके सुदामा कृष्ण के पास गए। जैसा कि उनकी सती पत्नी का विश्वास था, उन्होने कृष्ण के द्वारा अत्यधिक आदर और स्नेह प्राप्त किया। वे अतुल वैभव के अधिकारी होकर लौटे।

पत्नी की आज्ञा मानने वाले सुदामाजी की कथा सुनकर बहने बहुत प्रसन्न हो रही है। प्रसन्न होने की बात भी है। आप सभी सोच रही होगी कि हमारे पति भी इसी तरह हमारी आज्ञा का पालन करे। यह सभव नही है, पर बहनो! आपको अपने मे सतीत्व का तथा दृढ आत्मविश्वास का वह तेज भी तो पैदा करना होगा।

तो मै अभी तक यह बता रही थी कि प्राचीन-काल मे सुदामा की पत्नी महाकवि कालीदास की पत्नी तथा तुलसीदासजी की पत्नी रत्नावलि आदि ऐसी ऐसी नारिया हो गई है जिन्होने अपने पतियो के जीवन को बदल कर उन्हे महत्ता के शिखर पर पहुँचाया।

पर धीरे धीरे मध्यकाल मे परिस्थितिया कुछ बदल गई। स्त्रियो की स्वतत्रता कम हो गई और उनके प्रति पुरुषो की विचारधारा भी विपरीत दिशा मे बहने लगी। कुछ नए आदर्श बिना सिर पैर के बनाए गए, उनके लिए कहा गया—

काम क्रोध लोभादिमय, प्रबल मोह कै धारि।
तिन्ह मंह अति दारुन दुखद माया रूपी नारि॥

अर्थात् काम, क्रोध लोभ, मद व मोह आदि जो मनुष्य को दुख देने वाले है, उनसे भी अधिक दारुण सुख देने वाली मायामयी नारी है।

कहा गया कि स्त्रियो को कभी स्वतन्त्र नही रहने देना चाहिए। उसे कौमारावस्था मे पिता के, युवावस्था मे पति के तथा वृद्धावस्था मे पुत्र के आधीन रहना चाहिए। मनुस्मृति मे कहा है—

पिता रक्षति कौमारे, भर्ता रक्षति यौवने।
रक्षन्ति स्थविरे पुत्रा न स्त्री स्वातन्त्र्यमर्हति॥

इस विधान के अनुसार नारियो की शारीरिक, मानसिक तथा आत्मिक सभी प्रकार की उन्नति को रोक कर उनका स्थान घर तक ही सीमित कर दिया गया। फिर तो गृह साम्राज्ञी जैसे आदरयुक्त शब्द की जगह पैर की जूती कहकर उन्हे हीन साबित किया गया। बाल विवाह की प्रथा चालू करदी गई। दो, चार, छ, आठ वर्ष की कन्याओ के विवाह किये जाने लगे। जबकि यह उम्र उनके शिक्षा प्राप्त करने की होती थी। फलस्वरूप दस-दस बारह बारह वर्ष की उम्र वाली विधवाओ की भरमार हो गई और उनका जीवन बडा दयनीय होने लगा।

किन्तु बधुओ! जिस तरह घास-फूस से आग दब नही सकती और कई

गुना वेग से धधक उठती है, उसी तरह नारी जाति को दबाने की, उसके तेज को कुचलने की जितनी कोशिश की गई उतने ही वेग से उनका शौर्य समय समय पर प्रज्वलित हुआ। रानी दुर्गावती, झासी की रानी लक्ष्मीबाई आदि के उदाहरण इतिहास मे अमर रहेगे। राजपूत ललनाओ के त्याग व वीरत्व के भी अनेक अनेक ज्वलत उदाहरण है, जिन्होने अपने शौर्य की कीर्तिपताका पुन' लहरा दी। अपने हाथो से पति को कवच पहनाकर वे उन्हें युद्ध मे भेज देती थी और साथ ही स्पष्ट शब्दो मे चेतावनी भी दे देती थी--

कंत लखीजे दोहि कुल, नथी फिरंती छाह।
मुड़ियां मिलसी गेंदवो, मिले न धणरी बांह॥

प्रियतम ! देखो दोनो कुलो (मेरे और अपने) का ध्यान रखना तथा अपनी छाया को मत देखना। अगर तुम युद्ध से भागकर आए तो तुम्हे मस्तक के नीचे रखने के लिये तकिया मिलेगा। पत्नी की बाह नही मिल सकेगी।

वह पति के चले जाने पर रो-रोकर अश्रुधारा प्रवाहित नही करती थी वरन् पूर्ण विश्वास पूर्वक अपनी सखी से कहती थी—

सखी अमीणा कथ री, पूरी यह परतीत।
कै जासी सूर श्रंगड़े, के आसी रणजीत॥

हे सखी ! मुझे अपने प्रियतम पर पूरा विश्वास है कि या तो वह युद्ध मे जीतकर वापिस आऐंगे अथवा लडते हुए वीरगति को प्राप्त करेगे। इतना कहकर भी उसे संतोष नही होता और अत्यन्त प्रेम-विह्वल होती हुई पति की प्रशसा करती—

हू हेली अचरज करूं, घर मे बाथ समाय।
हाको सुणतां हूलसे, रण मे कांच न माय॥

हे सखी ! मुझे बडा आश्चर्य होता है कि मेरे प्रिय घर मे तो मेरी बाहुओ मे ही समा जाते हैं किन्तु युद्ध के नगाडे सुनकर हुलास के मारे कवच मे भी नही माते।

अपने पति के प्रति राजपूत नारियो मे कितना गर्व होता था। असीम प्रेम होता था, लेकिन पति के युद्ध से मुह मोडकर आने की अपेक्षा वे विधवा

हो जाना पसन्द करती थी। युद्ध मे वीर गति पाने पर उनके गर्व एव उत्साह का पारावार नही रहता था और अपने मृत पति को लेकर वे हसते हसते वापिस उनसे शीघ्रतम मिलने के लिये चिता पर चढ जाया करती थी। उस समय भी वे अपनी सखियो को कहना नही भूलती थी—

साथण ढोल सुहावणो, देणो मो सह दाह।

उरसा खेती बीज धर, रजवट उलटी राह॥

अर्थात् हे सखी! जब अपने प्रिय के साथ मे चिता पर चढू उस समय तुम बहुत ही मधुर ढोल बजाना। राजपूतो की तो यही उलटी रीति है कि उनकी खेती पृथ्वी पर होती है किन्तु फल आकाश मे प्राप्त होता है। इन उदाहरणो से यह साबित हो जाता है कि नारी ने ऐसे नाजुक समय मे भी, जबकि उन्हे अत्यन्त तुच्छ माना जाने लगा था, अपनी महिमा को कम नही होने दिया, बल्कि और गौरवान्वित ही किया। राजपूत नारियो के जीवित त्याग के ऐसे उदाहरण विश्व मे और कही भी नही मिल सकते। यह ठीक है कि उस समय की सतीत्त्व की कल्पना विवेकपूर्ण न हो और सतीत्व की कसौटी आत्मदाह है भी नही, तथापि इससे नारी के उत्सर्ग स्वभाव मे कोई कमी नही आती।

अब इस नवीन युग मे स्त्रियो ने अपना उचित स्थान पुन प्राप्त कर लिया है। वे सामाजिक, राजनैतिक तथा धार्मिक सभी क्षेत्रो मे बडी सफलता के साथ काम कर रही है। श्रीमती इन्दिरा गाँधी भारत की प्रधानमत्री है। पूरे भारत का प्रशासन आज उनके हाथो मे है। भारतकोकिला सरोजिनि नायडू गवर्नर बनी थी। विजयलक्ष्मी पडित अमेरिका मे राजदूत आदि के रूप मे अनेक महत्त्वपूर्ण पदो पर कार्य करती रही है। सुचिता कृपलानी उत्तरप्रदेश के शासन की सूत्रधारा है।

बहनो! आप लोगो को ऐसे आदर्श अपने सामने रखने चाहिये। इनसे प्रेरणा लेनी चाहिये। पुरुषो की हिसक वृत्ति तो चरम सीमा तक पहुँच चुकी है। उन्होने दो विश्व युद्ध कर लिये, अब तीसरे युद्ध की भी आशका है। अणुबम, परमाणुबम, हाइड्रोजनबम आदि आदि अनेक प्रकार के बम वे बना चुके है और उनसे भी अधिक भयकर शस्त्रो के आविष्कार कर रहे है। आप लोगो को पुरुषो की इस हिसक व विद्वेषपूर्ण वृत्ति को स्नेहजल से प्लावित करना है। तात्पर्य यही है कि पुरुषो की बराबरी करके और

उनके ममान अधिकार पाकर के भी आप लोगो को मतुष्ट नहीं होना है। आपको पुरुप जाति पर अपना प्रभाव डालना है, उनकी स्वच्छन्द मनोवृत्ति को सयत बनाना है और इस तरह विश्व शान्ति की स्थापना मे योग देना है।

आपका सबसे महान् कर्त्तव्य अपने नन्हे बालको पर सुसस्कार डालने का है। उनका हृदय बडा कोमल होता है। कुम्हार मिट्टी के कच्चे घडे को चाहे जैसी आकृति दे सकता है। कच्चे बास को चाहे जैसे मोडा जा सकता है। उसी तरह बच्चो की बुद्धि बडी सरल तथा अनुकरणशील होती है, अत माता चाहे तो अपने पुत्र को महान्, सदाचारी, वीर तथा प्रतापी बना सकती है।

शिवाजी को वीर उनकी माता जीजाबाई ने बनाया था। माता के ही सस्कारो के कारण आगे जाकर शिवाजी ने औरगजेब के छक्के छुडा दिये थे। गाधीजी को भी उनकी माता ने ही जगत् पूज्य बनाया था। विलायत जाने से पहले वे गाधीजी को एक जैन सत के पास ले गई और उन्हे मासाहार, परस्त्री-गमन तथा शराब पीने का त्याग करवा दिया। शकराचार्य को ज्ञान की चोटी पर उनकी माता ने ही पहुँचाया था।

आप चाहे तो अपने घर को स्वर्ग बना सकती है और आप चाहे तो नरक। अपने त्याग, प्रेम व स्वभाव के माधुर्य से घर को नन्दन- कानन बनाईये। आपका व्यक्तित्व इतना सुन्दर होना चाहिये कि प्रत्येक बात आपके पति सुदामाजी की तरह माने। आप मे अपूर्व शक्ति भरी हुई है सिर्फ उसे पहचानने की आवश्यकता है।

कुछ लोगो की विचारधारा होती है कि स्त्रियो का कार्य तो घर मे चूल्हा चक्की तक ही सीमित होना चाहिये, अधिक पढाने से क्या लाभ ? आप लोग इस भुलावे मे कदापि न आए। अपनी कन्याओ को बराबर शिक्षिता बनाये पर साथ ही उनमे उच्च सस्कार डालने का प्रयत्न करे, पढने लिखने का तात्पर्य अधिकाधिक फैशनेबिल बनना, अपने माता-पिता की अवज्ञा करना नही है। पढने का असली उद्देश्य अपने गृह का सुप्रबन्ध करना तथा आपत्ति-विपत्ति के समय पति की सहायता करना भी है। गलत रास्ते पर जाते हुए पति को चतुराई से मोडना भी शिक्षा का ही अग है। प्रसिद्ध विद्वान् लेखक प्रेमचन्दजी ने भी कहा है—

"पुरुष शस्त्र से काम लेता है तथा स्त्री कौशल से। स्त्री पृथ्वी की भांति धैर्यवान् होती है।" विक्टर ह्यूगो ने तो यहा तक कहा है—

"Man have sight, women insight"

अर्थात् मनुष्य को दृष्टि प्राप्त होती है तो नारी को दिव्य दृष्टि।

बहनो! आपको अपनी दिव्य दृष्टि खोनी नही है वरन् और प्रखर बनानी है। प्राचीन काल से आपकी जिस महिमा को देव भी गाते रहे है, उसे कायम रखना है। नारी सदा से महिमामयी रही है, इसे साबित करना है। तभी हमारे राष्ट्र का कल्याण होगा।

५
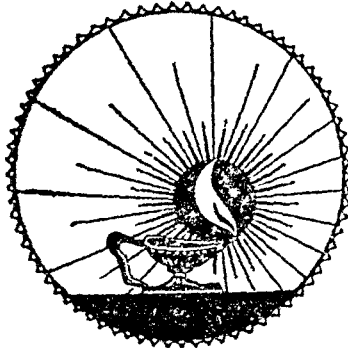
राखी के दो सूत

आज भारत का अन्यतम प्रधान पर्व रक्षा-बन्धन है। हमारा भारतवर्ष पर्व-प्रिय देश है। भारत के अलावा और देशो मे तो पर्व इने-गिने ही होते हैं, किन्तु भारत मे पर्वो की सख्या जानना भी वडा कठिन है। प्रत्येक पर्व के पीछे कुछ न कुछ इतिहास होता है। कुछ न कुछ महत्त्व होता है।

भारत मे पर्व अनेक मनाए जाते है पर उनमे भी कुछ मुख्य हैं। यहाँ ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र सभी वर्णों के अनेक महापर्व आते है।

जैनो का धार्मिक महापर्व सवत्सरी है, आज से वीस दिन पश्चात् आएगा। उसके वाद विजयादशमी आती है, जो क्षत्रियो का महापर्व होता है। विजयादशमी के वाद वैश्यो का महापर्व दीपावली आया करता है और उसके वाद शूद्रो का महापर्व होली। होली के पश्चात् रक्षा-बन्धन आता है जो कि आज उपस्थित ही है। यह ब्राह्मणो का पर्व माना जाता है। वर्णो के आधार पर पर्वो का यह विभाजन उन पर्वो की प्रकृति को मुख्य मान कर किया जाता है। इसका अर्थ यह नही है कि एक वर्ण किसी एक ही पर्व को मनाता है। साधारणतया सभी पर्व आज सार्वजनिक वन चुके है।

रक्षा-बन्धन का महत्त्व ब्राह्मणो के लिये अधिक दिखाई देता है। आज के दिन ब्राह्मण अपनी शुद्धि करते है। पवित्र नदियो मे अथवा पवित्र स्थानो मे जाकर स्नान करते है और उससे अपनी शुद्धि मानते है। मगर वधुओ! यह विचार करने की वात हे कि नदी अथवा समुद्र मे स्नान करने से पाप कैसे धुल सकते हे! पाप तो समता, सयम, तथा तपश्चर्या के सागर मे डुवकिया लगाने से ही धुल सकते हैं। विवेक जल के द्वारा ही मन का मैल छुडाया जा सकता है।

हाँ तो मैं बता यह रही थी कि इस पर्व मे एक तो आत्मशुद्धि की भावना काम करती है तथा दूसरी रक्षा की, ब्राह्मणो की मान्यता के अनुसार वर्षा की अधिकता तथा यातायात की असुविधाओ के कारण ऋषि-मुनि आषाढ महीने की शुक्ला एकादशी से चातुर्मास करने के लिये अपने अपने आश्रम को लौट आते थे और फिर कार्तिक शुक्ला एकादशी को देश-पर्यटन के लिये पुन आश्रम छोड देते थे। आषाढ शुक्ला एकादशी को 'देव-शयिनी ग्यारस' तथा कार्तिक शुक्ला एकादशी को देवठान (देवोत्थान) दिवस कहा जाता है।

विद्वान् ब्राह्मण जब चातुर्मास के लिये आश्रमो मे आते थे तब यज्ञ हुआ करते थे तथा यज्ञ की पूर्णाहुति इसी दिन हुआ करती थी। इस दिन क्षत्रिय राजा आश्रम के अध्यक्ष का पूजा-सत्कार तथा तिलक करते थे और वह राजा के दाहिने हाथ मे पीले रग का सूत्र रक्षा बन्धन देते थे और अपनी रक्षा का भार राज पुरुषो को सौप देते थे। इस प्रकार आश्रमो की रक्षा का उत्तरदायित्व राजाओ का धर्म हो जाता था।

धीरे धीरे मध्यकाल मे इस प्रथा मे काफी परिवर्तन हो गया। आश्रमो की प्रणाली बदल गई और ब्राह्मणो मे विद्वत्ता होने पर भी धन-लोलुपता आ गई। त्याग भावना लुप्तप्राय हो गई और वे राजाओ के आश्रय के ही इच्छुक हो गये। ब्राह्मणो के साथ साथ स्त्रियाँ भी रक्षाबन्धन की अधिकारिणी हो गई। स्त्रियाँ अपने भाई को राखी बाधती थी किन्तु अगर किसी अन्य व्यक्ति को राखी बाधती थी तो वह पुरुष उस स्त्री को अपनी बहन मानता था तथा सदा उसकी सहायता के लिये तत्पर रहता था।

मध्यकालीन इतिहास मे अनेक उदाहरण पाए जाते हैं, जिनसे पता चलता है कि सिर्फ हिन्दुओ ने ही नही, वरन अन्य जाति के शासको ने भी रक्षा बन्धन का सम्मान किया, तथा उसे भेजने वाली बहन की रक्षा की। जब गुजरात के मुसलमान शासक ने चित्तौड पर आक्रमण किया तो अपनी रक्षा का कोई उपाय न देखकर चित्तौड की महारानी कर्णवती ने बादशाह हुमायू के पास राखी भेज दी। उस समय यद्यपि हुमायू बडे सकट मे था और इसीलिये उसके सैनिको ने विरोध भी किया, किन्तु राखी के पवित्र बन्धन की रक्षा के हेतु हुमायू चित्तौड के लिये रवाना हो गया और वहाँ पहुचकर उसने कर्णवती की सहायता की।

रूपनगर के राजा की पुत्री की सुन्दरता के बारे मे सुनकर बादशाह उसे

पाने के लिये पागल हो उठा और उसने रूपनगर की ओर कूच कर दिया। वचाव तथा सतीत्व की रक्षा का अन्य कोई उपाय न देखकर रूपनगर की राजकुमारी ने राणा राजसिह को पत्र भेजा। पत्र पाते ही राजसिह वादशाह की राह रोकने की तैयारी करने लगे।

उनके एक सामत का नाम चूडावत था जव उन्होने सुना कि राणा वादशाह की राह रोकने के लिये रवाना हो रहे है तो वे जाकर राणा से वोले, मेरे रहते आपको सग्राम मे पधारने की क्या जरूरत है ? मुझे जाने की इजाजत दीजिये।

राजसिह का मन गद्गद् हो गया। वोले, मेरे शूरवीर सामत ! मुझे तुम्हारी भक्ति तथा शूरवीरता पर नाज है, किन्तु अभी कल तो तुम्हारा विवाह हुआ है। नववधू का मुह भी अभी तुमने देखा नही, अत तुम्हारे जाने की आवश्यकता नही है। किन्तु चूडावत माने नही तथा आग्रहपूर्वक राणा की आज्ञा लेकर गर्व भरे हुए अपने भवन को आए। आकर अपनी नववधू वीरागना हाडी रानी को सव वृत्तान्त वतलाया।

वहनो ! भाइयो मे से तो अनेको को हाडी रानी की कहानी ज्ञात होगी और आप लोगो मे से अनेको को नही, अत मै आपसे पूछती हूँ कि तुरन्त व्याह कर आई हुई उस रानी ने पति को युद्ध मे जाने के लिये तैयार देखकर क्या कहा होगा ? अगर आपके सामने ऐसा प्रसग आता तो आप क्या करती ? मैं समझती हूँ कि सर्व प्रथम तो आप राणा राजसिंह को तथा रूपनगर की राजकुमारी को गालियाँ देनी शुरू करती कि जिनके कारण पति-वियोग होने जा रहा था। उसके पश्चात् रोना शुरू करती और नाना प्रकार से पति को रोकने का प्रयत्न करती। क्यो वहनो ! सही है न ! कितनी स्त्रियाँ आज ऐसी है जो शादी के वाद ही पति को सहर्ष त्याग देने की क्षमता रखती है ! ऐसी वीर नारिया तो विरली ही हैं जो आज भी हिन्दुस्तान के चीन अथवा पाकिस्तान के साथ युद्ध करने मे अपने वीर पतियो को मन मे वियोग का दुख होते हुए भी कर्त्तव्य के नाते भेजती है।

अनेको भारत के जवान इन युद्धो मे शहीद हुए है, जिनके विवाहो को कुछ वर्ष कुछ महीने या कि कुछ दिन ही व्यतीत हुए होगे। यहाँ तक कि वहुत से तो सिर्फ वाग्दान (सगाई) किये हुए ही युद्ध मे काम आए है और तव भी उनकी पत्नियो ने पति के चित्र से अथवा उनके शव से विवाह करके आजन्म उन्हे ही अपना पति मानने की प्रतिज्ञा की है।

अस्तु, मै नवोढा, हाडी रानी के विषय मे कह रही थी। रूपनगर की राजकुमारी की रक्षा के लिये पति के जाने की बात सुनकर उस राजपूतनी का हृदय खुशी से भर गया और पति को न भेजने की तो बात ही क्या, वह स्वय भी युद्ध के लिये पति से आज्ञा मागने लगी—

हुकम राज रो होय तो, मै भी चालू साथ।
दुश्मन भी फिर देखले, म्हारा दो दो हाथ॥

अर्थात् आपका हुक्म हो तो मै भी आपके साथ रणागण मे चलू। कितना सुन्दर अवसर है। रानी दुर्गावती की तरह दुश्मन मेरी भी युद्ध कला को जरा देख लेगा।

हाडी रानी बोली—रूपनगर की राजकुमारी मेरी भी तो बहन हुई। क्या बहन की रक्षा करना बहन का कर्त्तव्य नही है? मै भी आपके साथ चलूंगी।

चूडावत का हृदय पत्नी की वीरत्वपूर्ण वाक्यावली को सुनकर एव भावनाओ को समझ कर गर्व से फूल उठा। पर उन्होने बडे स्नेहपूर्वक उसे रोका और स्वय चलने की तैयारी की। उनके रवाना होते समय भी रानी बिना मन कमजोर किये दृढ शब्दो से बोली—

सुखे पधारो राजवी पग मत दीजो टार,
कट भल जाजो खेत मे, पण मत आजो हार।
कृपण जतन धन को करे, कायर जीव जतन,
सूर जतन उण रो करे, जिणरो खावे अन्न।

अर्थात्—राजा! आप जारहे है तो सुख से पधारिये। पर यह याद रखियेगा कि आपका पैर कभी पीछे नही पडना चाहिये। भले ही आप युद्ध मे स्वर्ग प्राप्त करे किन्तु हारकर कदापि न लौटियेगा।

कजूस व्यक्ति धन का तथा कायर व्यक्ति अपने प्राणो का लोभ करता है। सच्चा शूरवीर अपने प्राण देकर भी अपने अन्नदाता के जीवन को बचाता है, उसका गौरव अक्षुण्ण रखता है, अत आप राणा राजसिह की कीर्ति को कम मत करना। सिर्फ इतना ही नही वह राजपूतनी स्पष्ट शब्दो मे यहाँ तक कह देती है—

वो सुहाग खारो लगे, जो कायर भरतार।
रडापो प्यारो लगे, जो शूरवीर भरतार॥

यानी आपके कायर बनकर लौट आने पर तो वह सौभाग्य भी मुझे कडवा लगेगा। पर इसके विपरीत आपके शूरवीर हो जाने पर तो मुझे विधवा हो जाना पडे तो भी वह वैधव्य भी मुझे प्रिय लगेगा।

बहनो ! वीर रानी ने इतनी दृढता से पति चूडावत को युद्ध के लिये रवाना किया पर इतना ही काफी नही था। भाग्य को तो उसकी पूरी परीक्षा करनी थी।

सरदार चूडावत महल से रवाना हो गये पर ड्योढी से बाहर पहुँचे ही थे कि खिड़की की ओर उनकी नजर गई और पुन पत्नी के प्रति प्रेम ने पलटा खाया। उन्होने सेवक को भेजा कि रानी से उनके अखड प्रेम की कोई निशानी ले आ।

सेवक की बात सुनकर रानी क्षण भर के लिये विचार मे पड गई, किन्तु दूसरे ही क्षण उसने कहा—"मेरा मस्तक लेता जा . ।" और पास ही पडी हुई तलवार से अपनी गर्दन पर भरपूर वार कर दिया।

सेवक के हाथ मे अपनी प्राणप्रिय पत्नी का मस्तक देखकर एक बार तो चूडावत की आखे फटी-सी रह गई ! पर फौरन ही उनके हृदय मे अदम्य उत्साह भर गया। उन्होने रानी के बालो के दो हिस्से करके गले मे उसका मस्तक लटका लिया और निश्शक युद्ध के लिये प्रयाण किया।

बहनो ! भारत की इस वीरता और बलिदान की तुलना विश्व के इतिहास मे नही मिल सकती। कहने का तात्पर्य यह है कि एक बहन की रक्षा के लिये भारत मे दूसरी बहन भी अपने प्राणो की आहुति दे देती थी, फिर भाई की तो बात ही क्या है ! रक्षा-बन्धन की लाज एक पुरुष ही नही वरन् स्त्री भी रखने की पूरी कोशिश करती थी।

आज तो अधिकतर बहने राखी बाधती है और भाई बधवाते है, पर लगता है कि दोनो ही रक्षा बन्धन के महत्त्व को नही समझते। भाई राखी बधवाकर यथाशक्य गहना, कपडा तथा रुपया देकर अपने कर्त्तव्य की इति श्री समझ लेते है और बहने भी भाइयो से यही कुछ पाने की इच्छा से राखी बाधती हैं। वे गाती भी यही है—"भैय्या जल्दी आना चूडा-चूदडी लेते आना।"

आज के दिन कभी किसी बहन को कचरे में हार मिल गया होगा, बस उस दिन से ही अब तक भी बहने रक्षाबन्धन के दिन कचरे के ढेर को पूजती है तथा गाती जाती है—"नौसर हार मिले।" कितना अध-विश्वास है ?

वहनो व भाइयो ! आज का दिन सिर्फ कलाई मे धागा बाधने व रुपया लेने के लिये ही नही है । वहनो को चाहिये कि वे राखी बाधते हुए अपने भाई को जीवन-सग्राम मे वहादुरी से लडते रहने की प्रेरणा देवे । देश की प्रत्येक नारी को वहन मानकर जव भी आवश्यकता हो किसी भी वहन की लज्जा वचाने व रक्षा करने की प्रतिज्ञा करावे तभी भारत माता का गौरव वढ़ेगा । किसी बहन ने अपने भाई को कितनी सुन्दर भावनाओ के साथ राखी वाँधी है ! उसने गाया है :—

हे शपथ तुझे राखी की भैया,
निज पथ पर वढते जाना ।
है तेरे राष्ट्र का प्राण यही, गौरव, वैभव, अभिमान यही,
सुखदेव, भगतसिह वीरो के, वलिदानो का वलिदान यही,
दुर्गा, झांसी की रानी की, दृढता का सूर्य महान यही,
चित्तौड़ की उठती ज्वाला मे पद्मा का शौर्य महान यही,
सदेश लिये इन वीरो के,
पद-चिन्हो पर वढते जाना ।

वहन कहती है—भैया ! तुम्हे इस राखी की शपथ है, कभी अपने कर्त्तव्य-पथ से विमुख मत होना, वल्कि दृढतापूर्वक वढते जाना । यह सिर्फ धागा ही नही है किन्तु अपने राष्ट्र का गौरव, वैभव तथा अभिमान भी है । मातृ-भूमि की रक्षा का कभी अवसर आए तो सुखदेव, भगतसिह आदि के वलिदान की कहानी याद रखना और जिस प्रकार दुर्गावती, झासी की रानी लक्ष्मीवाई ने अपने देश की रक्षा के लिये प्राण त्याग दिये उसी तरह अपने जीवन की भी वाजी लगा देना । तुम याद रखना कि अपनी मर्यादा व सतीत्व की रक्षा के लिये तो चित्तौड की सोलह हजार रानिया भी जौहर कर गई हैं । उन वीरो तथा वीरागनाओ के जीवन व त्याग से प्रेरणा लेकर तुम भी उनके पद-चिह्नो का अनुसरण करना ।

सिर्फ इतना ही नही, आगे वह वीर वहन और कहती है —

यह तार नहीं, तलवार है यह, शत्रू से जा टकरा जाना,
ममता जननी की, मेरा स्नेह हृदय बीच नहीं लाना ।
नव-दुलहन की मुस्कानो से पथ भ्रष्ट कभी मत हो जाना,
कर्त्तव्यशील वन करके तुम बाधाओ से लड़ते जाना ।

स्वार्थ त्याग की कितनी जवर्दस्त भावना है । वहन ने कहा है कि इसे राखी का तार नही वरन् तलवार समझना जो मैने तुम्हे मातृभूमि की तथा

देश की करोडो वहनो की रक्षा के लिये दी है। सिर्फ अपनी माता, वहन अथवा पत्नी के ही सुख का ध्यान मत रखना, अपितु देश की प्रत्येक नारी की इस तलवार से लाज रखना।

वधुओ! आज के दिन का वास्तविक महत्त्व तो यही है कि प्राणीमात्र की रक्षा का ध्यान रखा जाय। पशु, पक्षी, मनुष्य जो भी शरणागत हो उसकी रक्षा करने की प्रतिज्ञा ही आज का दिन सार्थक करना है। निराश्रित को आश्रय देना परमात्मा को प्राप्त करना है। 'वृहस्पति' स्मृति मे कहा गया है—

"रक्षच्छरणमायातं प्राणैरपि धनैरपि"

अर्थात्—शरण मे आए हुए प्राणी को प्राण देकर भी और धन देकर भी अभयदान देना चाहिये। महाभारत के शाति पर्व मे वताया हे—

"यस्य जीवदया नास्ति सर्वमेतन्निरर्थकम्"

जिसके हृदय मे जीव दया नही है, उसकी समस्त क्रियाएं फलहीन है। प्राणी मात्र पर की जाने वाली दया ही आत्मा को स्वर्ग मे ले जाती है।

एक योद्धा युद्ध मे सैकडो मनुष्यो का घात कर सकता है पर एक भी दुखी व्यक्ति की रक्षा करना तथा उसके आसू पोछना वडा कठिन है। महात्मा गाधी ने कहा है—"दुनिया का अस्तित्व अस्त्र-वल पर नही, वल्कि दया तथा आत्मवल पर है।" दया परमात्मा का निजी गुण है—Mercy is an attribute to God himself इसलिये कहा गया है कि जो सच्चा दयालु है वही सच्चा वुद्धिमान् है—"The truly generous is the truly wise."

दयालु व्यक्ति प्रत्येक प्राणी मे परमात्मा का अश मानता है। वह कहता है—

जिधर देखता हूं उधर तू ही तू है,
कि हर शम में जलवा तेरा हूवहू है।

वधुओ! थोडी देर पहले मैंने वताया था कि आज ब्राह्मणो की सवत्सरी है। वे आज के दिन पवित्र पानी मे स्नान कर अपने को शुद्ध करेगे तथा अपने पापो की आलोचना करेंगे। किन्तु यदि वे अतरग की शुद्धि नही करेगे तो उनकी तन शुद्धि निरर्थक है। कपाय चित्त तीर्थ-स्थानो पर स्नान करने से भी पवित्र नही हुआ करता। "दुष्टमन्तर्गतं चित्तं स्नानान्न विशुध्यति।" इसीलिये कहा गया है—

पाप-ध्यान कषायाणां निग्रहेण शुचिर्भवेत्

—पद्म पुराण

आर्त-रौद्र आदि दुष्ट ध्यानो का और क्रोध आदि कषायो का निग्रह करके पवित्र होना चाहिये। यही सर्वोत्तम स्नान है।

आशा है मेरे भाई व बहने समझ गए होगे कि तन शुद्धि की बजाय मन शुद्धि करना तथा राखी बंधवा कर अपनी एक बहन को धन-माल देने के बजाय प्रत्येक नारी की मर्यादा रखना ही रक्षाबंधन का महत्त्व है। साथ ही इन दोनो से भी बढकर आज के दिन का महत्त्व है विश्व के समस्त प्राणियो की रक्षा करने की कामना तथा प्रयत्न करना। एवमस्तु .. ।

मुक्ति-दिवस | ६

वधुओ! आज मुक्ति-दिवस है। पन्द्रह अगस्त! इस दिन भारत की सैकडो वर्षो की पराधीनता का अन्त हुआ था। आज के अठारह वर्ष पहले इसी दिन राष्ट्र ने सर्व प्रथम स्वतन्त्र वायुमण्डल मे सास ली थी। देश पर वलिदान होने वाले अमर शहीदो के रक्त से सीची हुई स्वतन्त्रता-वल्लरी मे आज के दिन ही पुष्प खिले थे। इस दिन के लिये लगभग चालीस वर्ष तक घोर तपस्या की गई थी। भारत के न जाने कितने वालक-वालिकाए अनाथ हुए, न जाने कितनी नारियो के सौभाग्य सिदूर पुछ गए। न जाने कितने घर उजड गए और परिवार के परिवार नष्ट हुए। किन्तु अन्त मे तपस्या सफल हुई तथा मुक्ति-देवी ने आकर भारत माता के चरण छुए और पराधीनता की वेडियो को खोलकर फेक दिया।

वास्तव मे पराधीनता विश्व के किसी भी प्राणी को नही भाती। पशु पक्षी भी स्वतन्त्र रहना चाहते है तो मनुष्य की तो वात ही क्या है? तुलसीदासजी का कथन—"पराधीन सपनेहुँ सुख नाही" विलकुल सत्य है। कहा गया है—

> एतावज्जन्म-साफल्यं, यदनायत्तवृत्तिता।
> ये पराधीनतां यातास्ते वै जीवन्ति के मृता.॥

अर्थात् स्वाधीनता का होना ही जन्म की सफलता हे। जो पराधीन होते हुए भी जीते है तो मरे हुए कौन है?

पराधीन प्राणी का जीवित रहना-न-रहना एक सा ही होता हे। परतन्त्र मनुष्य का हृदय जड हो जाता है। उसकी शक्तियो का विकास नही हो पाता तथा किसी भी कार्य को करने मे उत्साह नही रहता। मनुष्य की तरह

ही जो देश पराधीन होता है उसके नागरिको की किसी भी दिशा मे उन्नति नही होती। शिक्षा का अभाव, समृद्धि का अभाव आदि-आदि—चारो तरफ प्रत्येक तरह के अभाव जनता के हृदयो को कुण्ठित कर देते है।

भारत भी वर्षो तक पराधीन रहा, अग्रेजो के अन्याय तथा अत्याचारो का शिकार बना। उन्होने भारतवासियो को असभ्य, जगली माना और सदा उनके साथ पशुओ की तरह व्यवहार किया। उसी भारत का जी भरकर शोषण किया जो एक दिन सोने की चिडिया कहलाता था। उन्ही भारतवासियो को अशिक्षित माना जिनके यहा तक्षशिला तथा नालन्दा जैसे विश्वविद्यालयो मे दूर-दूर के देशो से ज्ञानपिपासु आकर ज्ञानामृत का पान करते थे। ऋषि-मुनियो की इस पवित्र देव-सम भूमि का अग्रेजो ने जी भरकर तिरस्कार अपमान किया। भारतवासियो की प्रत्येक विकास योजना पर प्रतिबन्ध लगा दिये। उनके अन्याय तथा अत्याचारो के विरुद्ध तनिक भी बोलने वाले को अथवा लिखने वाले को पकडकर कारागृह की काली दीवारो मे कैद रखा। ऐसे ही एक कैदी की जबान से निकले हुए कुछ उद्गार सुनिये। अर्ध-रात्रि मे कारागृह पर आकर बोलने वाली कोयल को ही वह अपना दुख सुनाता है :—

इस शात समय मे, अन्धकार को वेध, रो रही क्यो हो ?
कोकिल बोलो तो !
क्या देख न सकती जजीरो का गहना ?
हथकडियाँ क्यो ? यह ब्रिटिश राज्य का गहना।
कोल्हु का चर्रक चू—जीवन की तान,
मिट्टी पर अंगुलियो ने लिक्खे गान।
हूँ मोट खेंचता लगा पेट पर जूआ।
खाली करता हूँ ब्रिटिश अकड का कूआ।
मरने भी देते नहीं, तड़प रह जाना,
जीने को देते नहीं पेट भर खाना।
इन लोह सींकचो की कठोर पाशो मे,
क्या भर दोगी बोलो निद्रित लाशो मे ?
क्या घुस जाएगा रुदन तुम्हारा निश्वासो के द्वारा ?
कोकिल बोलो तो !

कितने दर्द भरे शब्द है भाइयो ! वे भी बिलकुल निरपराधो के। जिन्होने चोरी, डाका, हत्या अथवा बेईमानी जैसा कोई पाप नही किया था, सिवाय अन्याय तथा अत्याचार न करने की प्रार्थना के। स्वतन्त्रता प्राप्ति के लिये

भारतीयो ने हथियार नही उठाये फिर भी उन्हे गोलियो से भूना गया। जलियावाला बाग अग्रेजो की अमानुपिकता का हृदयवेधक स्मृतिचिन्ह है। भगतसिह, सहदेव, तथा राजगुरु जैसे सैकडो जवानो को सिर्फ अपनी स्वतत्रता का अधिकार मागने के कारण ही फासी पर लटका दिया गया।

जदो वीर भगतसिंह सहाब नू। दित्ता फासी हुकुम सुना,
ओदे होवन वाली नारनू, किसे पिंड विच दसिया जा।
टुर पई खातर प्रेमदी आखे रब्बा! ह्वे मेल करा,
जा पहुँची बीच लाहौर दे, मिली जेल दरोगे नूँ जा।
जदो हुकम होया सरकार दा, तूसि देवो पदा मेल करा,
हुर परी अशमान दी, दित्ती दर ते अलख जगा।
जदौं सिखां विच तकिया शेर ने, उभी सुन्दरी आश लगा,
जो दे अखा विच अत्थरू वेख के, देवी कौन है ? मुझें समझा।

अमर शहीद भगतसिह जब फासी होने से पहले जेल मे था उसकी वाग्दत्ता पत्नी किसी तरह लाहौर जेल तक पहुँची। अनेको मिन्नते करके वह भगतसिह मे मिल सकी। व्यथा के क्लांत तथा समस्त अपूर्ण अरमानो से भरा छटपटाता हृदय लिये वह कुछ क्षण तो अपने भावी पति को देखती रही किन्तु अन्त मे उसके धैर्य का बाध टूट गया और वह कातर होकर बोल उठी —

तेरी होवन वाली नार हाँ मेरे दिल देया शहेन्शा।
वे तू लाला मौत नूं सम्झया, मेरी दिती जोत बुझा।
मेरी मेंहदी सिन्नी रह गई मेरे मनो न लथया चा।
मैं हथ विच चूड़ा न वेखिया मेरे नवे नवे सन चा।
मै कल्ली इत्थे नहीं रेवणा मैनू अपने नाल ले जा" ।

अर्थात् मुझे अकेली छोडकर मत जाओ! मैं तो तुम्हारी होने वाली पत्नी हूँ, तुम्ही मेरे हृदय के मालिक और शहशाह हो। अपने आप मृत्यु को अगीकार करके मेरे अरमानो के दीपक को क्यो बुझा रहे हो?

मेरी ओर देखो, मेरी मेहदी भीगी रह गई है। अपनी आखो से मैंने शादी का चूडा भी नही देख पाया। हृदय मे इतने नये नये अरमान है, पर एक भी पूरा नही हुआ। इससे तो अच्छा है मुझे भी अपने साथ ले चलो।

जदों भारतमांदे लाल ने वेखो हस के क्या सुना।

भारत मा के लाल भगतसिह ने स्नेह-कातर अपनी होने वाली पत्नी की बात सुनी और उसी क्षण हंसकर बोला —

काहनू भुल के आई ए भोलिये काहनू भरनी ए ठंडे सा।
मेरी मगनी कद दी हो गई मेरे पूरे हो गए चा।
कल घोडी ते चढ जावना लया हथ बिच गाना पा।
आज लगेगी मेहदी रात नूं मेरा देसी रूप चडा।
मेरे सोहने वीर पजाब दे मैनू देनगें सेहरा सजा।
जंज चढेगी कल दोपहर नूँ कई सेहरा देनगे गा।
मेरी लाड़ी सोहनी जहान तो ओहदी कोई कोई रखदा चाह।

भोली नारी ! तुम क्यो भूल पडी हो ? क्यो ठडी ठडी सासे ले रही हो ? यह समझ लो कि मेरी तो मगनी (सगाई) कभी की हो गई। अब तो कल घोडी पर चढकर जाना है। देखो, हाथो मे गहने (हथकडिया) तो पहन ही लिये है, मेह्दी भी आज रात को लग जाएगी। मेरी कल दोपहर को बरात जाएगी। मेरे पजाब के वीर मुझे हाथो पर उठा लेगे और सेहरे गाएँगे।

मेरी होने वाली पत्नी भुवन मोहन रूप वाली है। ऐसी पत्नी की चाह भी कोई कोई ही करते है। तब स्त्री ने कहा —

ओ ! केडी करमा वालडी जिने तेनू लिया परमा।
ओने मेरा दर्द न वेखिया लिया अपना दर्द वण्डा।
टुकड़ा मेरे कलेजे दा लिया अपने कलेजे पा।

वह भाग्यशालिनी कौन है ? जिसने आप को भरमा लिया। उसने मेरे अन्तर्मन के दर्द को नही समझा और अपना दर्द बँटा लिया। मेरे कलेजे का टुकडा अपने कलेजे मे लगा लिया।

तब भगतसिह ने कहा —

सौ गलादी इको गल्ल ए तू भेण ते मै हो भरा।
तूं मेरे रास्ते चल के, कर देश दी सेवा मनला।

सौ बातो की एक ही बात है, तू बैन है और मैं तेरा भाई। यदि मेरे प्रति तेरा सच्चा प्यार हे तो मेरा अनुकरण कर अर्थात् देश की सेवा कर।

बधुओ ! कितना कितना त्याग करना पडा है, हमारे देश के नवयुवको को ! एक ही नही वरन् अनेक भगतसिह भारत की पराधीनता को दूर करने के लिए अपना सब कुछ और स्वय को भी उत्सर्ग कर गए हे। अपनी बिल-खती पत्नियो को, मासूम बच्चो को, वृद्ध माता-पिता और परिवार को छोड कर स्वतत्रता की बलिवेदी पर चढ गए है।

इनका बलिदान निरर्थक भी नही गया है। देशभक्तो के लहू ने समय की करवट बदल दी और भारत को स्वतत्र कर दिया। वैसे तो इतिहास हमे बताता है कि साम्राज्यवादी भावना राष्ट्रो मे सदा रही है। एक राष्ट्र दूसरे को निगल जाने की, उसे अपने अधीन कर लेने की कामना व प्रयत्न करता रहा और समय पाकर पराधीन राष्ट्रो ने भी, पुन स्वाधीनता प्राप्त की है। किन्तु उन राष्ट्रो की स्वतन्त्रता प्राप्ति तथा हमारे भारत की स्वतत्रता प्राप्ति के तरीको मे महान् अतर है। अन्य पराधीन देशो ने समयानुसार अपनी सैन्य-शक्ति बढाकर अथवा युद्ध के साधनो मे वृद्धि करके हिसात्मक तरीको से स्वतत्रता प्राप्त की।

आज रूस की जनता जिस स्वाधीनता का उपयोग कर रही है वह उन्हे सदा से ही प्राप्त नही थी। एक समय वहा 'जार' का निरकुश शासन था। उसके अन्यायो तथा अत्याचारो से पीडित जनता ने मौका पाकर क्राति कर दी तथा बडे खून-खच्चर के द्वारा जारशाही को समाप्त किया। इसी प्रकार फ्रास का इतिहास प्रसिद्ध रक्तपात की कहानी है। उस रक्त-रजित इतिहास को कौन नही जानता ?

किन्तु भारत की स्वतंत्रता प्राप्ति की कथा इससे बिलकुल विपरीत है। इस स्वतत्रता की बुनियाद हिसा नही वरन् अहिसा है। भारत ने अहिसा के द्वारा स्वतत्रता प्राप्त की है। इस युग मे जब कि मनुष्य विज्ञान के पख लगाकर हिसा और अशाति के मार्ग पर बढ रहा था, अपने स्वार्थो की पूर्ति मे अस्त्रबल का सहारा ले रहा था। हृदय मे शोषण की लालसाये लिये युद्ध, विनाश तथा रक्तपात को जन्म दे रहा था। ऐसे समय मे गाँधी जी ने मानव-जीवन की गति को ही बदल दिया। वे हिसा, युद्ध और पशुता की सीमा से मानवता को खीचकर सत्य, अहिसा तथा प्रेम के दायरे मे ले आये। इतने बडे तथा सदियो के परतत्र रहे हुए देश को उन्होने बिना हिसा के, बिना रक्तपात के, अहिसा द्वारा ही स्वतत्र कर दिया। कितनी चामत्कारिक घटना है। जिस भूमि पर दुर्योधन जैसे भाई ने पाडवो से कहा था—"बिना युद्ध किये सुई की नोक के बराबर भी जमीन नही दू गा' उसी भूमि को बिना खून की एक बू द भी बहाए गाधी जी ने हस्तगत कर लिया। सत्य, अहिसा और प्रेम का मर्म प्रगट करते हुए उन्होने मानव को आत्मबल से समस्त सकटो को सहन करने की शक्ति दी। विश्व को एक नया पथ, नया विचार, नई औषधि मिली।

गाधीजी जव दक्षिण अफ्रीका मे थे, उनकी मित्रता एक जर्मन निवासी इंजीनियर का काम करने वाले मिस्टर केलन बैंक से हो गई।

बैंक सदा गाधीजी के साथ रहते थे। एक वार उन्हे मालूम हुआ कि कुछ लोग गाधीजी को मारने का षडयन्त्र रच रहे है तो वे वहुत सतर्क रहने लगे। अपने साथ हर वक्त एक तमचा रखने लगे।

एक दिन गाधीजी को इसका पता चल गया। उन्होने मि बैंक से कहा—"क्या महात्मा टाल्स्टाय के शिष्य भी अपने साथ तमचा जैसा हिसक हथियार रखते है? क्या जरूरत पड गई है इसे रखने की।"

बैंक ने कहा—मुझे समाचार मिले है कि कुछ व्यक्ति आपकी हत्या करना चाहते है। इसलिये आपकी रक्षा के निमित्त इसे रखता हू।

गाँधी जी वडे आश्चर्य तथा आवेश के साथ बोले—"मेरी रक्षा आप करेंगे ? मित्र! यह सर्वथा असभव है। आत्मा अमर है। इसे कोई नही मार सकता। दूसरे, हम अहिसा के सिद्धात मे विश्वास करते है, इसलिये अपने तन-मन की रक्षा के लिये हमे अहिसा पर ही निर्भर रहना चाहिये, हिंसा पर नही। अहिसा के लिये जब हिसा का सहारा लिया जाता है तो जीवन मे वडी विसगति आ जाती है। तीसरे, यह शरीर तो नश्वर है। नष्ट होने वाला ही है। इस पर इतना मोह नही रखना चाहिये। अगर आप मेरे सच्चे मित्र है तो तमचा फैंक दीजिये"।

सज्जनो! ऐसे अहिसक जिस देश के रत्न थे वहा पराधीनता की कालिमा कैसे वनी रह सकती थी। आज से शताब्दियो पूर्व भगवान् महावीर तथा महात्मा बुद्ध आदि ने अहिसा की ही दुन्दुभि दिगदिगन्त मे गुंजाई थी। पीछे से शकराचार्य ने जिस ब्राह्मण धर्म का उपदेश दिया उसमे भी उन्होने धर्म का मुख्य तत्व अहिसा ही वतलाया। विश्व के समस्त धर्मो के अन्तस्तल का यदि गहराई के साथ अध्ययन किया जाय तो निष्कर्ष यही निकलता है कि सव धर्मो का मौलिक आश्रयभूत तत्व अहिंसा ही है। आत्मा के विकास का आधार अहिंसा है। धर्म क्रियाए कितनी भी उग्र क्यो न हो किन्तु जव तक उनमे अहिसा का अजस्र स्रोत नही वहेगा, वे आत्म-शुद्धि तथा आत्मोन्नति मे सहायक नही हो सकेगी। सूक्ति मुक्तावली में कहा गया है—"**मोक्षो ध्रुवनित्यमहिंसकस्य।**" जो सदैव अहिंसा का पालन करता है, वह निश्चय ही मोक्षगामी है। सूत्रकृताग सूत्र मे भी वताया गया है —

विरया वीरा समुट्ठिया, कोहकायरिया इमीसणा।
पाणें ण हणंति सव्वसो, पावाओ विरयाभिनिव्वुडा॥

अर्थात् जो पौद्गलिक सुख से तथा हिसा आदि पापो से विरक्त हैं, जो सम्यक्चरित्र की उपासना मे सावधान है, वे मन, वचन एव कार्य से प्राणियो की हिसा नही करते । ऐसे वीर पुरुप मुक्तात्माओ के समान शान्त है ।

ईसाई समाज के प्रभु ईसामसीह ने तो क्रॉस पर लटकते हुए प्रार्थना की थी । "हे प्रभु ! मुझे क्रॉस पर लटकाने वालो को क्षमा कर ।" सिखो के गुरु ग्रथ साहिव मे भी किसी भी प्रकार की हिसा न करने पर बल दिया है :—

जड सम महि एक खुदाई कहत हड, तड किउ मुरगी मारे ।

कहा है—जब सब प्राणियो मे खुदा का अश माना जाता है तो एक मुर्गी की भी हिसा क्यो करना चाहिये ।

सक्षेप मे यही कहना है कि जितने भी युग-पुरुप हुए है, सभी ने अहिसा के ही साधना-दीप को प्रज्वलित कर के भूले भटके मानव-समुदाय को मार्ग दिखाया है ।

आज विश्व ने अहिसा के महत्त्व को पूर्ण रूप से नही जाना है इसीलिये सव जगह विपमता है, दैन्य है, पीडा है और अशाति है । चारो ओर घृणा तथा द्वेप की ज्वाला सुलग रही है । मनुष्य मनुष्य का शत्रु वना हुआ है । मनुष्य होकर भी मनुष्य पशुता को अपनाए हुए है ।

ऐसे ससार मे स्थायी शाति होना तभी मभव है जवकि ससार से समस्त राष्ट्र परस्पर की कटुता को भुला दे 'वसुधैव कुटुम्वकम्' की भावना को लेकर समग्र मानव जाति के व्यक्ति अपने को विश्व परिवार का सदस्य समझे । युद्ध के विनाशकारी शस्त्रो को नष्ट कर दिया जाय । मानव इतिहास मे शाति और सुरक्षा के नाम पर भीपण युद्ध हुए हैं । रक्त की होलिया खेली गई है । किन्तु उन से क्या विश्वशांति प्राप्त हो सकी है ? एक युद्ध ने ससार को दूसरे युद्ध के मार्ग पर ला खडा किया है । क्योकि हिसा से और भी अधिक हिंसा का जन्म होता है । अग्नि से अग्नि शमन नही हो सकती । आज अनवरत युद्धो की साघातिक चोटो से पीडित विश्व स्पष्ट अनुभव कर रहा है कि मानव मात्र का सच्चा कल्याण सिर्फ अहिसा की अमोघ शक्ति मे ही सन्निहित है । आज के इस एटम के युग मे जवकि तृतीय विश्वव्यापी युद्ध की काली घटाएं ससार के क्षितिज पर छाई हुइ है, अहिंसा के प्रकाश की अत्यन्त आवश्यकता है अन्यथा मानव-मात्र को किस भयकर परिणाम का सामना करना पडेगा, यह कल्पनातीत है ।

आशा है आपने अहिंसा का महत्त्व समझा होगा । आज इसके विषय

मे अधिक कहने मे मेरा आशय यही है कि अहिंसा के द्वारा प्राप्त हुए इस स्वतन्त्रता दिवस के दिन हम सब सच्चे हृदय से अहिंसा का सकल्प करे।

इसके पालन से मानव को बाह्य तथा आतरिक दोनो क्षेत्रो मे शाति तथा सफलता प्राप्त होती है। बाह्य क्षेत्र मे सफलता की प्राप्ति का प्रमाण तो आज का दिन आपके सामने ही है। दूसरा है आतरिक क्षेत्र। इसमे आत्मा अहिसा के पालन करने से अनेक पापो से बच जाती है और निरतर मुक्ति की ओर अग्रसर होती है।

हिंसा का अर्थ किसी प्राणी का वध करना मात्र ही नही है। प्रभुता के मद मे चूर होकर निर्बलो का शोपण करना, अर्थ तथा राजनीति के क्षेत्रो मे विपमता पैदा करना, अपने स्वार्थ-साधन के लिये दूसरो के स्वत्वो का अपहरण करना तथा अनैतिक व्यापार करना भी हिसा ही है। अत इन सब का त्याग करके नैतिक आदर्शो की भित्ति पर समाज को खडा कर देना वास्तव मे अहिंसा को अपनाना है। अहिंसक व्यक्ति किसी का अनिष्ट करने वाले विचार की छाया भी अपने जीवन पर नही पडने देगा। प्रेम तथा मैत्री के भावो से उसका हृदय परिपूर्ण रहेगा तथा सयम और सादगीमय जीवन अपनाएगा। तभी देश की स्वतन्त्रता कायम रह सकेगी। स्वतन्त्रता के सच्चे मायने यही है।

आज हम स्वाधीन है पर हमारी स्वाधीनता भारत के एक-एक नागरिक से जबाव मागती है कि १५ अगस्त सन् १९४७ के बाद से अब तक मे भारत ने क्या क्या प्रगति की है? राजकीय स्वतन्त्रता तो एक देशीय है, किन्तु सार्वदेशिक स्वतन्त्रता कुछ और ही है। राष्ट्र स्वतन्त्र हो गया, किन्तु सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक तथा शैक्षणिक स्वतन्त्रता की दिशा मे हम कहा तक आगे बढे है यह हिसाब हमे आज के दिन करना है।

हमे पूर्ण आजादी प्राप्त करने के लिये अपनी बुद्धि, मन तथा इन्द्रियो को भी तो परिष्कृत करना है। जब तक हमारे मन विकारो से भरे हुए है, लालच, स्वार्थ तथा कठोरता इन मे बनी हुई है, तब तक हम पूर्ण स्वतन्त्र कहा है? जब तक हमे अपनी स्थिति से सतोष व शाति नही है तब तक स्वतन्त्रता कैसी? शाति के रहस्य को समझने पर ही हम स्वाधीन कहला सकेंगे।

एक बार एक बादशाह किसी नगर पर चढाई करने से पूर्व किसी सत के दर्शन कर उनका आशीर्वाद प्राप्त करने गया।

संत ने कहा—उस नगर को जीतने के वाद क्या करोगे ? वादशाह वोला—गुरुदेव उसके वाद और नगरो को जीतकर पूरे देश पर अपना शासन कायम करूगा। सत ने पूछा—उसके वाद ?

वादशाह कुछ सोच विचार कर वोला—उसके वाद शाति धारण कर लूगा। सत हस पड़े और वोले—जव तुम्हे इतना रक्तपात करके विजय प्राप्त करने के वाद शाति धारण करनी ही है तो अभी ही उसे क्यों नही धारण कर लेते ?

वादशाह पर इस वात का वड़ा प्रभाव पडा और उसने चढाई करने का विचार ही छोड दिया।

भाइयो ! शाति का रहस्य यही है कि मन की अभिलापाओ पर सयम रखना। भौतिक कामनाएं तो कभी खतम होती ही नही। एक की तृप्ति होने पर दूसरी सामने आ खडी होती है।

दूसरे आज ऊच नीच की भेद भावना ने देश की स्थिति को भी वडी विषम करदी है। इसी के कारण राष्ट्रपिता गांधीजी का खून हुआ तथा नोआखली के जैसा हत्याकांड हुआ। पाकिस्तान वना। इस पर तो हमारे रोप का पार न रहा किन्तु आज भारत मे भिन्न भिन्न जातियो के जो चार हजार पाकिस्तान वने हुए है उन पर हमारा ध्यान गया ?

आज से पच्चीस हजार वर्ष पहले भगवान महावीर ने जाति पाति के विरुद्ध कैसी क्रांति की थी। उन्होने स्पष्ट वताया था कि "चारित्रशील व्यक्ति ही ऊचा उठ सकता है।" उच्च जाति का होने से कोई महान नही माना जा सकता। जाति जन्म से नही मानी जाती, वह कर्म से मानी जाती है। उच्च कार्य करने वाला कोई भी व्राह्मण है और जघन्य कार्य करने वाला शूद्र। श्री उत्तराध्ययन सूत्र मे कहा भी है—

कम्मुणा बंभणो होइ, कम्मुणा होइ खत्तिओ।
कम्मुणा वइसो होइ, सुद्दो हवइ कम्मुणा॥

अर्थात् कर्म से व्राह्मण होता है, कर्म से क्षत्रिय, कर्म से वैश्य तथा कर्म से ही व्यक्ति शूद्र होता है।

जाति तथा धन से किसी को ऊचा अथवा नीचा मानना मन का विकार है, इसे दूर कर जव हम एक मानव जाति कायम करेगे तभी सच्ची स्वतन्त्रता मिली यह माना जाएगा। एक व्यक्ति दूसरे का शोपण करके धन इकट्ठा करे यह स्वतन्त्रता नही स्वच्छन्दता है। स्वतन्त्रता मे सयम होना चाहिये।

कर्त्तव्य पालन की क्षमता होनी चाहिये। स्वतन्त्रता कर्त्तव्य से बधी हुई होती है। नदी का कर्त्तव्य किनारो के अन्दर वहते हुए मनुष्य का कल्याण करना है। अगर वह कहे कि मैं दो किनारो मे वधी हुई नही रहूँगी तो क्या वह अपना पानी स्वच्छ रखते हुए सागर से मिल सकेगी? सितार के तार कीलो से विना वधे ही मधुर स्वर निकालना चाहे तो क्या निकाल सकेंगे?

जिस तरह भाप एक लोहे की नली मे वधकर वडे वडे स्टीमर तथा मशीने चला देती है उसी प्रकार हमारी आत्मा की शक्ति जव सयम मे वध जाती है तव वह असाधारण चमत्कार दिखा सकती है।

गाधीजी ने जव अग्रेजो से अहिंसापूर्वक लडाई शुरू की तव उनके पास सिर्फ १९ आदमी थे और अंग्रेजो के पास करोडो, किन्तु फिर भी गाधीजी ने आजादी लाकर छोडी, क्योकि उनके पास अहिंसा, सत्य तथा सयम का बल था जिससे अग्रेजी सल्तनत परास्त हो गई।

इगलैंड जैसे महान शक्तिशाली राष्ट्र को विना शस्त्र के परास्त कर देने वाले दैवी पुरुष गाधीजी ने अत मे अपने को भी उत्सर्ग कर दिया। आज भी उसका स्मरण पर एक एक भारतवासी का हृदय भर आता है और वह करुण-कठ से गा उठता है—

भारत मा रा लाल, थारी ओलूंड़ी (याद) आवे,
ओलूडी आवे जद म्हारो हिवडो भर जावे।
मोहन महिमा वालो नाम म्हारे मन भावे,
थाँरा गुण सिमराँ जद म्हारो दिलडो हिल जावे।
अहिंसा वालो झंडो बापू जग मे लहरावे,
इण झंडे रे नीचे सारी दुनियाँ झुक जावे।
भारत री वेड्याँ तोड़ी, जद जग मे जस पावे,
थारोडी महिमा रा गीत सव कोई गावे।
भारत मा रा लाल, थांरी ओलूड़ी आवे।

ऐसे थे वे युग पुरुष गाँधीजी, जिन्होने विश्व को चमत्कृत कर दिया और सदा के लिये भारत को एक सम्माननीय राष्ट्र बना दिया। पर उस सम्मान की रक्षा के लिये भारत के प्रत्येक नागरिक को कटिवद्ध होना चाहिये। प्रत्येक नागरिक को अपनी जिम्मेदारी का ज्ञान होना चाहिये। देश का हर व्यक्ति जव अपने जीवन को सत्यमय, अहिंसामय एव सयममय बनाएगा तभी

समाज का नैतिक विकास होगा। देश की राजनीति मे नीति का समावेश हुए विना कभी भी हम स्वतन्त्रता का माधुर्य प्राप्त नही कर सकते।

बडे दुख की बात है कि देश को स्वतन्त्र हुए आज अठारह वर्ष हो जाने पर भी हमारे यहा अमन-चैन नही है, राम राज्य के स्वप्न पूरे नही हुए। आज स्थिति यह है कि जनता सरकार को और सरकार जनता को दोप देती है। कारण यही है कि चारो ओर अनैतिकता का साम्राज्य है। शासन की वागडोर सम्हालने वाले सूत्रधार स्वार्थ, घूसखोरी तथा भ्रष्टाचार के शिकार हो गए है और नागरिक कर्त्तव्यहीनता, सामाजिक भेदभाव तथा चोर वाजारी आदि के।

विश्व मे एक महान, शातिप्रिय तथा अहिंसक देश कहलाने पर भी हमारे यहा की आतरिक स्थिति वडी डावाडोल है। आज हम गर्व से इस आध्यात्मिक और पवित्र भूमि के लिये नही कह पाते—

सिरमौर सा तुझको रचा था विश्व में करतार ने,
आकृष्ट था सवको किया तेरे मधुर व्यवहार ने।
देवत्व गुरुता, मान्यता प्रभुता रही तुझ मे सदा,
चहुं ओर सम्पत् मान औ ऐश्वर्य का यश व्याप्त था।

विश्व मे २२०० मजहव है पर उनमे से १६०० मजहवो को मानने वाला ऋषि मुनियो का यह पवित्र देश ही रहा है कि जहा पर दुनिया भर के दार्शनिक भ्रमण करते हुए आकर इकठ्ठे होते थे। जैन, वौद्ध, नैयायिक, वैष्णव आदि दार्शनिक सभी यहा की भूमि को पावन करते रहे थे।

भारत के युग पुरुपो ने सदा एक स्वर से अहिंसा, सत्य तथा सयम को जीवन की धुरी माना है। हमारा राष्ट्रीय झंडा भी अपने तीन रगो के द्वारा इन्ही का सदेश देता है। अगर आप इसे ग्रहण करेगे और अपने जीवन से स्वार्थ, ईर्ष्या फूट आदि दोपो को तिलाजलि दे देगे तो आपका यह मुक्ति दिवस मनाना तथा तिरगा झडा लहराना सार्थक होगा। आत्मा को विकारो से आजाद करके ही आप भारत की आजादी को स्थायी वना सकेंगे तथा आजादी के वास्तविक सुख का उपभोग कर सकेंगे।

●●

७ | मूर्खता; वरदान या अभिशाप....?

गगन मडल मे श्याम घटाऐं उमड-उमड कर आती है और गर्जन करती हुई बरस पडती है। वे यह नही देखती कि नीचे मैदान है, खेत है अथवा हरे भरे उपवन। निष्पक्ष भाव से वे सब को जल सीच देती है। पानी खेत मे गिरता है तो प्रत्येक पौधे को समान तरी मिलती है। उपवन मे गिरता है तो भी प्रत्येक वृक्ष, प्रत्येक लता तथा प्रत्येक पुष्प का पौधा जल ग्रहण करता है। कहने का मतलब यह है कि मेघमालाए आम, नारगी, नीम, बेला, गुलाब, चमेली, आक, धतूरा आदि सभी को एक सा ही मीठा जल प्रदान करती है।

किन्तु हम देखते है कि आम के फल मीठे होते है और नीम के कडवे। दोनो एक ही प्रकार के जल से अभिवृद्धि पाते है, फिर भी दोनो के फलो मे महान् अन्तर होता है। आम मीठा व सुस्वादु हो जाता है और नीम कडवा ही रह जाता है। क्या मेघो ने बरसने मे कभी पक्षपात किया है! क्या आम को मीठा पानी दिया और नीम को कडवा! नही! यह तो दोनो की अपनी-अपनी परिणाम की योग्यता है।

इसी प्रकार मनुष्यो मे भी होता है माता-पिता कि कई सन्तान होती है। सभी माता-पिता एक सरीखे उत्तम सस्कार डालने का प्रयत्न करते है किन्तु उनमे से कोई कोई उत्तम सस्कारो को ग्रहण कर पाते है। बाकी सस्कार हीन, असभ्य बने रहते है। उन पर किया हुआ प्रयत्न व्यर्थ हो जाता है।

माता-पिता की तरह ही गुरु के पास भी अनेक शिष्य विद्याभ्यास करने के लिये आते है। गुरु उन्हे एक साथ और एक सरीखा ज्ञान देते है। फिर

भी उनमें से कुछ तो विद्वान् तथा पंडित बन जाते हैं, कुछ अज्ञानी तथा मूर्ख ही बने रहते हैं।

न तो माता-पिता यह चाहते है कि उनकी कोई भी सन्तान संस्कार शून्य तथा उजड्ड बने और न गुरु ही चाहते है कि मेरा कोई भी शिष्य मूर्खराज कहलाए। किन्तु उनके हजार प्रयत्न करने पर भी अनेक शिष्य ज्ञान से कोरे रह जाते है और मूर्खराज की उपाधि धारण कर लेते हैं।

मूर्ख होने पर भी तारीफ की बात तो यह है कि उन्हे अपनी मूर्खता पर कोई पश्चात्ताप नही होता। वे अपनी मूर्खता को प्यार करते है और मूर्ख ही बने रहना अच्छा समझते है। एक मूर्ख अपने मूर्ख मित्र से कहता है,—

मूर्खत्वं हि सखे ममापि रुचितं, तस्मिन् यदष्टौ गुणा।
निश्चिन्तो बहुभोजनोऽति-मुखरो, रात्रिंदिवा स्वप्न-भाक्॥
कार्या-कार्य-विचारणान्ध-बधिरो मानापमाने सम।
प्रायेणामयवर्जितो दृढ-वपुर्मूर्ख सुखं जीवति॥

अर्थात् मित्र! मुझे मूर्खता प्रिय है क्योंकि मूर्खता मे आठ गुण हैं। (१) निश्चिन्तता (२) खूब खाना (३) लज्जा का अनुभव नही होना (४) दिनरात सोना (५) विचार का भार न होना (६) मानापमान के प्रति तटस्थता (७) रोग रहित होना (८) शरीर की बलिष्ठता। इस प्रकार इन आठ लाभो का फायदा उठाते हुए मूर्ख सुखपूर्वक जीता है।

बात ठीक है। मूर्खता का सर्व प्रथम गुण है निश्चितता। मूर्ख को न तो इस लोक का भय होता है और न परलोक का ही। न धन की भूख होती है और न ज्ञान की ही। उनके विचारानुसार समझदारी मे चिन्ता के सिवाय कुछ भी हासिल नहीं होता। जितना भी अधिक बुद्धिमान् बने, व्यक्ति उतना ही अधिक दुखी हो जाता है। किसी ने कहा है —

"चकवा चातक चतुर नर रहे आठो पहर उदास।
खर घुग्घु मूरख पशु, सदा सुखी पृथुदास॥

मूर्खता का दूसरा सुख इच्छानुसार भोजन है। आनदपूर्वक इच्छानुसार खूब-खाना और पडे रहना। भक्ष्य अभक्ष्य की कोई चिन्ता ही नही। आगम कहते हैं कि सुई के अग्रभाग जितने जमीकन्द में भी अनत जीव निवास करते है। और इतने जीवो की हिंसा करने वाला व्यक्ति जन्म जन्मातरो तक उसका फल भोगता है।

किन्तु जब आगम पढा ही नही तो इस बात का ज्ञान कहा? और

तब फिर पश्चात्ताप किस बात का ! उन्हे कबीर के इस दोहे से भी क्या मतलब कि.—

जैसा अन्न जल खाइये, तैसा ही मन होय ।
जैसा पानी पीजिये, तैसी बानी सोय ॥

मूर्खो का मन तो सदा ही प्रसन्न रहता है, चाहे वे कुछ भी खाते रहे ।

मूर्खता का तीसरा महान् लाभ यह है कि उसके कारण लज्जा का कभी अनुभव नही होता । मूर्खो को न गौरव की आकाक्षा होती है और न ही इज्जत जाने का भय रहता है । न वे अच्छे कार्य करके वाह-वाही की कामना करते हैं और न बुरे कार्यों को करके उपालभ प्राप्त होने से डरते हैं । मारवाडी मे कहावत है —

भूताँ रे काँइ भायला, पवन रे कॉई पिलाण ।
निर्लज ने काँई ओलभो बिगडचारा काँई बखाण ॥

दिन-रात मे जब जी चाहे आनन्दपूर्वक सोना भी मूर्खता की ही देन है । ज्ञानाभ्यास, आत्म चिन्तन, स्वाध्याय अथवा धर्म चर्चा मे मूर्खों का समय तो बर्बाद होता नही, वह बचा हुआ समय वे सुखपूर्वक सोने मे व्यतीत करते हैं । दूसरे, वे पढते-पढाते भी नही हे अत उनका सम्पर्क भी अधिक व्यक्तियो से नही होता । फलस्वरूप न उन्हे किसी की स्मृति आती है और नही किसी प्रकार का कभी दुख भी होता है । उनका तो सिद्धान्त है —

किस किस को याद कीजिये, किस किस को रोइये ।
आराम बडी चीज है, मुँह ढक के सोइये ॥

पाँचवाँ गुण है—विचार भार न होना । बुद्धिमान् व्यक्ति के दिमाग मे सैकडो विचार होते है । साधु-सतो के दिमागो मे सदा पापो से बचने के, जनता को सन्मार्ग पर चलाते रहने के विचार रहते हैं । विद्वानो के मस्तिष्को मे हमेशा आगम, पुराण, वेद इतिहास, महावीर, बुद्ध, गाधी, कालिदास, चाणक्य, टालसटाय, रस्किन, प्लेटो, गेटे आदि आदि घूमते रहते है । वैज्ञानिको के दिमाग मे नए आविष्कारो के विचार तथा राकेट आदि उडते रहते है और डाक्टरो के दिमागो मे नित्य नूतन दवाइयो के तथा आपरेशनो के औजारो के विचार रहते है, किन्तु मूर्खराज का दिमाग इन सब झझटो से मुक्त व हलका रहता है । यहाँ तक कि घर की भी उन्हे फिक्र नही रहती, न परिवार की सुख-समृद्धि का ख्याल, न अतिथि-सत्कार की चिन्ता उन्हे सताती है । उनका जीवन बेफिक्री मे ही बीतता रहता है ।

मूर्ख व्यक्ति को महान् योगी की तरह मान-अपमान की भी कोई परवाह नहीं रहती। चाणक्य ने कहा है—

> वरं प्राण—परित्यागो मा मान—भङ्गेन जीवनात्।
> प्राणत्यागे क्षणं दुःखं मानभङ्गे दिने दिने॥

अर्थात् मानभङ्गपूर्वक जीने से प्राण त्याग देना श्रेष्ठ है। प्राणत्याग मे क्षण भर दुख होता है किन्तु मान भग होने पर प्रतिदिन।

मूर्ख व्यक्ति पर चाणक्य के इस श्लोक का कोई प्रभाव नहीं पड़ सकता, क्योंकि उसके लिये मान व अपमान दोनों ही बराबर होते हैं। न उसे सम्मान पाकर खुशी होती है और न ही अपमान होने पर दुख अथवा क्रोध। कहते हैं—

> मूरख से क्या बोलिये, सठ से कहा बसाय।
> पाहन से क्या मारिये चोखा तीर नसाय॥

मूर्ख व्यक्ति के पास रोग भी जल्दी नहीं फटक सकता। जिन व्यक्तियों को अधिक चिन्ताएँ रहती है, या जिन्हे अधिक कार्य करना पड़ता है, उन्हे तबैदिक आदि कई रोग हो जाते है, किन्तु सदा नीरोग वही रहता है जो निश्चिन्त रहता है।

मूर्खता का आठवाँ वरदान है शरीर की बलिष्ठता। जो व्यक्ति दिमाग से अधिक काम करते है वे प्राय निर्बल रहते हैं। अधिक पढने लिखने से अथवा अधिक विचार—भार बना रहने से व्यक्ति के सिर में दर्द हो उठता है, आँखे कमजोर हो जाती है, पाचन शक्ति खराब हो जाती है और इसके कारण शरीर कमजोर हो जाता है।

किन्तु मूर्ख को ये सब दुख नहीं होते, वह तो खूब खाता है, सोता है तथा बेफिक्र रहने के कारण बलिष्ठ हो जाता है। कहा भी गया है—

> अपस्सुतायं पुरुसो बलिबद्दो व जीरति।
> मंसानि तस्स वड्ढन्ति पञ्ञा तस्स न वड्ढति॥

—धम्मपद

अज्ञान मनुष्य बैल की तरह बढता है। उसका मास तो बढता है, लेकिन उसकी प्रज्ञा अर्थात् बुद्धि नहीं बढती।

बधुओ! इस प्रकार मूर्खो की दृष्टि मे मूर्खता उनके लिये वरदान स्वरूप होती है। उनका मत है कि एक बुद्धिमान् की अपेक्षा एक मूर्ख

व्यक्ति ससार मे अधिक आनन्दपूर्वक जीवन व्यतीत कर सकता है और मूर्ख रहकर भी हर दिशा मे सफलता प्राप्त करता है ।

कहा जाता है कि महाकवि कालिदास पहले वज्र-मूर्ख थे । फिर भी उनका विवाह एक महा विदुषी राजकुमारी से हो गया ।

किंवदती इस प्रकार है कि एक राजा की कन्या बडी ही विदुषी थी । उसने प्रतिज्ञा की कि जो मुझे शास्त्रार्थ मे हरा देगा उससे ही विवाह करूगी ।

बडे-बडे धुरधर पडित उससे शास्त्रार्थ करने आए पर उस राजकन्या से हार गए । उन्हे बडा क्रोध आया और क्रोध के कारण उन्होने निश्चय किया कि किसी तरह राजकुमारी का विवाह किसी महामूर्ख से करवा देना चाहिये ताकि गर्व खडित हो जाए ।

ऐसा सोचकर वे लोग किसी महामूर्ख की खोज मे निकले । ढूँढते ढूँढते एक जगल मे पहुँचे । वहा देखा कि एक व्यक्ति पेड की डाल पर बैठा था और उसी डाल को वह कुल्हाडी से काट रहा था । पडित बडे खुश हुए, उन्होने सोचा कि ससार मे इससे बढकर मूर्ख मिलना कठिन है । उसे समझा बुझाकर वे राजमहल की ओर रवाना हुए । उस मूर्ख (कालीदास) को उन्होने कह दिया कि दरबार मे तुम जबान से कुछ मत बोलना, सिर्फ इशारे ही कर देना । मूर्ख मान गया ।

राज्य दरबार मे पडितो ने यह प्रचार कर दिया कि एक महान् विद्वान् पडित आए हैं, राजकुमारी से शास्त्रार्थ करने । किन्तु आज उनका मौन है अत वे इशारो से ही बात करेगे ।

राजकुमारी दरबार मे आई और कालिदास को भी पडित लोग सलीके के वस्त्रादि पहनाकर ले आए । राजकुमारी ने कालीदास को इशारे से एक अगुली बताई कि 'ब्रह्म एक है' । मूर्खराज कालीदास ने समझा कि राजकुमारी मेरी एक आँख फोडने को कह रही हैं, अत उसने फौरन दो अगुलियाँ दिखादी कि मैं तुम्हारी दोनो आँखे फोड दूँगा । उधर पडितो ने राजकुमारी को दो अगुलियो का अर्थ यह बताया कि एक नही, 'ब्रह्म' और 'माया' इस प्रकार दो हैं ।

राजकुमारी उत्तर सुनकर सतुष्ट हुई । कालीदास के मौन के कारण उसने अधिक विवाद नही किया और उठ खडी हुई । कालीदास को विजेता घोषित किया गया और उसी दिन राजकुमारी का विवाह मूर्खशिरोमणि कालीदास से कर दिया गया । इसीलिये शायद वेताल कवि ने कहा है —

बुधि विन करै वेपार, दृष्टि विन नाव चलावै।
सुर विन गावै गीत, अर्थ विन नाच नचावै॥
गुन विन जाय विदेश, अकल विन चतुर कहावै।
बल विन बांधे जुद्ध हौंस विन हेत जनावै॥
अन इच्छा इच्छा करे,
अन दीठी वार्ता कहै।
वेताल कहे विक्रम सुनो,
यह मूरख की जात है॥

मचमुच ही मूर्खो मे वडे वडे बुद्धिमान भी डरते हैं। एक फ्रांसीसी कहावत है—"एक अकेला मूर्ख भी ऐसा प्रश्न कर सकता हे चालीस बुद्धिमान् लोग मिलकर भी उत्तर नही दे सकते।" तथा "जितने प्रश्नो का उत्तर बुद्धिमान् सात वर्षो मे दे सकता है उमसे कही अधिक प्रश्न मूर्ख एक घण्टे मे पूछता है।'—"Foolish man ask more question in an hour than wise man can answer in seven years"

बुद्धिमान् व्यक्ति मूर्खो की मडली मे मौन रहता है अथवा वहा ठहरता ही नही—'मूढ मडली मे सुजन ठहरत नाहि विसेखि'। क्योकि जहां अपनी सैकडो की हानि महकर भी बुद्धिमान् विवाद नही करता, वहा मूर्ख विना कारण ही कलह कर वैठता है और हजार प्रयत्न करने पर भी अपने गलत विचार नही छोडता। भर्तृहरि ने कहा है कि मनुष्य घडियाल के मुख से वलपूर्वक मणि निकाल सकता है और भयकर लहरो वाले समुद्र को तैर कर पार कर मकता है, क्रोधित सर्प को पुष्प की भाति सिर पर धारण कर मकता है, परन्तु हठी मूर्खो के चित्त को नही मना सकता :—

प्रसह्य मणि मुद्धरेन्मकर—वक्त्र—दंष्ट्रांकुरात्
समुद्रमपि संतरेत् प्रचलदूर्मिमालाकुलम्।
भुजंगमपि कोपितं शिरसि पुष्पवद्धारयेत्
न तु प्रति विनिष्ट मूर्ख जनचित्त माधारयेत्॥

लेकिन वन्धुओ! मूर्खता को वरदान मानने वाले व्यक्ति की भी समार मे कमी नही है। विश्व मे अनेक विचारधाराओ के व्यक्ति होते है। मूर्खता को अथवा अज्ञानता को प्रश्रय देने वाले अज्ञानवादी कहते है—समार मे अनेक त्यागी, वैरागी, पण्डित, विद्वान् और साहित्यकार सभी अपने-अपने ज्ञान का वर्णन करते हैं परन्तु उन सवका ज्ञान परस्पर विरोधी होता है। एक मत का आचार्य जो ज्ञान वताता है उसे अन्य आचार्य मिथ्या

कहते है और फलस्वरूप सभी ज्ञान मिथ्या प्रतीत होते है। इसलिये अज्ञान ही सर्वश्रेष्ठ है। अतएव मनुष्य को ज्ञान के पचडे मे न पडकर अज्ञान को स्वीकार करना चाहिये।

वे आगे और भी कहते है कि ज्यो-ज्यो ज्ञान बढता है त्यो-त्यो दोप भी बढते जाते हैं, क्योकि जानने वाला अगर अपराध करता है तो उसे पाप लगता है और न जानते हुए दोप करने वाला पाप मे मुक्त रहता है। जिस प्रकार कि एक अबोध बालक के द्वारा किया हुआ कोई अपराध मनुष्य व कानून की दृष्टि मे भी तीव्र दण्ड के योग्य नही माना जाता। किन्तु ज्ञानी अथवा जानकर कोई पाप करता है तो वह दण्ड का भागी होता हे।

हमारी दृष्टि मे अज्ञानवादियो का यह समस्त कथन गलत प्रतीत होता है। प्रथम तो यह कि अगर सभी ज्ञान परस्पर विरोधी होने के कारण मिथ्या हैं तो फिर अज्ञानवाद भी तो मिथ्या ही माना जायगा।

दूसरे, बालक मे व एक मूर्ख व्यक्ति में भी बड़ा अन्तर होता है। बालक की तो मन की शक्तियो का तथा उसके गुणो का विकास नही हो पाता अत वह अपराध की सृष्टि कर बैठता है, किन्तु उसमे गुण ग्रहण करने की इच्छा तथा ज्ञान प्राप्ति की आकाक्षा होती है। वह अपनी भूलो को बडे सहज भाव से स्वीकार कर लेता है तथा उनके लिये शर्मिन्दा भी होता है और पश्चात्ताप भी करता है। जैसा कि मैंने अभी भर्तृहरि के श्लोक द्वारा बताया, बालक कभी एक मूर्ख की तरह अपने अज्ञान या मूर्खता को सही मानने का हठ नही करता।

आप मेरा अभिप्राय समझ गए होगे। यह भी समझ गए होगे कि मूर्खता वरदान नही है वरन् अभिशाप ही हे। मूर्ख व्यक्ति ससार मे बिना सीग तथा पूँछ के पशु की तरह ही होता हे। कबीर ने कहा भी है कि विधाता ने—"बैल गढन्ता नर गढा, चूका सीग अरु पूँछ।"

वास्तव मे मूर्ख व्यक्ति कभी भी समाज मे सम्मान का अधिकारी नही होता। चाहे वह सुनहरे जरी के कपडे भी पहन ले, फिर भी वे मूर्ख के ही कपडे रहेगे—"A fool have his coat embroidered with gold, but it is a fool's coat still"

कोई भी बुद्धिमान् व्यक्ति मूर्खों के सम्पर्क मे रहना पसन्द नही करता। भर्तृहरि ने कहा है —

वर पर्वत-दुर्गेषु भ्रातं वनचरैः सह।
न मूर्खजन-संपर्कः सुरेन्द्र-भवनेष्वपि ॥

अर्थात् पर्वतों और वनो मे वनचरों के सग विचरना श्रेष्ठ है किन्तु मूर्खों के सग स्वर्ग मे भी रहना बुरा है,क्योकि उनका सग स्वर्ग में भी शान्ति नही लेने देगा ।

मूर्खों की सगति करने से भी बुद्धिमान् व्यक्ति उपहास का पात्र बन जाता है और उसकी गणना मूर्खों मे होने लग जाती है । जैसे कि कलवार के घर अगर कोई दूध भी पीता हो तो भी मनुष्य यही समझेगे कि यह शराब पी रहा है'—

असत संग के वास सो, गुन अवगुन ह्वै जात ।।
दूध पिवै कलवार घर, मदिरा सर्वहि बुझात ।।

किसी और कवि ने भी सुन्दर ढग से बताया है कि मूर्ख की सगत मे कुछ भी सार नही है —

उजाड़ को कूप, चण्डाल को रूप,
होली को भूप, कछू न कछू ।
नीच को नेह, भगी को गेह
चैत को मेह, कछू न कछू ।
ऐठ को अन्न, निर्धन को मन्न,
कंजूस को धन्न, कछू न कछू ।
मूर्ख को संग करो मत प्यारे,
संगत सार कछू न कछू ।।

कहते है कि तुच्छ विचार वाले मूर्खों की सगति से मनुष्य की बुद्धि तुच्छ हो जाती है, समान श्रेणी के मनुष्यो की सगति से ज्यो की त्यो बनी रहती हे और उच्च विचार वालो के सम्पर्क से वह उत्कर्ष को प्राप्त होती है ।

हीयते हि मतिस्तात ! हीनैः सह समागमात् ।
समैश्च समता मेति, विशिष्टैश्च विशिष्टताम् ।।

—महाभारत

मूर्ख व्यक्ति को समझाना भी बडा कठिन होता है, कठिन ही नही वरन असभव सा लगता है । कहा जाता है—"ज्ञान-लव-दुर्विदग्ध ब्रह्मापि तं नरं न रजयति ।" अल्पज्ञ मूर्ख को ब्रह्मा भी नही सुधार सकता ।

बेत का वृक्ष जिस प्रकार बादलो के अमृत बरसाने पर भी नही फलता-फूलता उसी प्रकार ब्रह्मा के समान गुरु मिलने पर भी मूर्ख का हृदय नही चेतता—

फूलहिं फरहिं न बेंत, जदपि सुधा बरसहिं जलद ।
मूरख हृदय न चेत, जो गुरु मिलहिं विरचि सम ।

मूर्ख को शिक्षा देने जाना भी ठीक वैसा ही है जैसे कि भैंस के आगे बीन वजाना—

मूरख आगे कवित्त पढ्यो जनु,
भेंस के आगे मृदग बजायो ।

अभी थोडी देर पहले मैंने बताया था कि मूर्ख व्यक्ति कालिदास का उदाहरण देकर मूर्खता को वरदान सिद्ध करते है । यह ठीक नही है । एक व्यक्ति अधेरे मे ढेला फेकता है सयोगवश वह कभी नियत स्थान पर जा लगता है, उसी प्रकार कालिदास का भी उदाहरण समझना चाहिये । सयोगवश ही कभी ऐसा हो सकता है अन्यथा तो मूर्खता के कारण कभी कभी प्राण जाने की नौवत आजाती है ।

एक वावाजी अपने दो चेलो सहित घूमते फिरते हुए एक नगर के पास पहुँचे । उनका नाम तथा परिचय पूछने पर वहाँ के एक व्यक्ति ने कहा—वावाजी ! "अंधेर नगरी है, चौपट्ट राजा, टके सेर भाजी टके सेर खाजा ।"

वावाजी यह सुनकर कि यहा भाजी तथा मिष्टान्न सभी टके सेर मिलते हैं, वडे ही प्रसन्न हुए और वही रहने का विचार अपने चेलो पर प्रकट किया। उनका एक चेला वडा बुद्धिमान् था । उसने मूर्ख राजा के राज्य मे रहने से अपने गुरुजी को वहुत रोका, पर गुरुजी तो टके सेर मिठाई की वात सुनकर अन्धेरनगरी पर लट्टू हो गए थे । वे किसी भी तरह नही माने । लाचार होकर बुद्धिमान् शिष्य अपने गुरु का साथ छोड कर दूसरे किसी गाव की ओर चल दिया । वावाजी अपने दूसरे शिष्य के साथ अन्धेर नगरी मे जाकर रहने लगे ।

समय वीतता गया और वावाजी सस्ती मिठाइया खा-खाकर खूव मोटे ताजे हो गये । एक दिन सुवह सुवह उठकर क्या देखते है कि सिपाही उन्हे देखकर उनकी ओर चले आरहे है । वावाजी घबराकर कुटिया मे जाने लगे पर तव तक सिपाहियो ने आकर उन्हे पकड लिया और राज्य दरवार की ओर ले जाने लगे ।

वावाजी ने गिडगिडाते हुए कारण पूछा तो उन्होने वताया कि आज एक चोर को फासी दी जाने वाली थी पर चोर दुवला था और फासी का फदा

कुछ बडा हो गया अत: महाराज ने आज्ञा दी है कि "किसी भी मोटे आदमी को लाकर फासी लगा दो।"

अब बाबा को मूर्ख राजा की नगरी मे रहने की अपनी मूर्खता पर बड़ा भारी पश्चात्ताप हुआ और वे सिर धुनने लगे।

सयोगवश उसी समय उनका बुद्धिमान् चेला, जो किसी दूसरे गाव मे रहता था, अपने गुरुजी से मिलने आया।

सब सुन समझकर उसने बाबाजी को सान्त्वना दी तथा उनके कान मे कुछ कह दिया। बाबाजी कुछ सतुष्ट हुए और चुपचाप फासी की टिकटी के समीप पहुचे। चेला पीछे पीछे आ रहा था। फासी दिये जाने वाले स्थान पर राजा, मत्री, दरबारीगण तथा जनता भी उपस्थित थी। बाबाजी को चबूतरे पर ले जाया गया। पर चेला भी उनके साथ साथ ऊपर चढ गया और अपनी पूर्व योजना के अनुसार वे दोनो आपस मे लडने लगे कि फासी पर मुझे चढने दो।

यह झगडा देखकर राजा ने कारण पूछा, तो बाबाजी ने बताया— महाराज! इस समय ऐसी शुभ घड़ी है कि इस समय जिसकी मृत्यु होगी वह सीधा स्वर्ग मे जाएगा। अत: कृपा करके मुझे शीघ्र फासी दिलवा दीजिये अन्यथा यह शुभ समय चला जाएगा।

राजाजी तो मूर्खराज थे ही, यह सुनते ही स्वय फासी के फदे के पास आकर खडे हो गए और बोले—"वाह मेरे राजा रहते हुए और कोई स्वर्ग कैसे जा सकता है? हम जाऐंगे स्वर्ग।" इतना कहने के साथ उन्होने फदा अपने गले मे डाल दिया और जल्लाद को कड़ी आज्ञा उसे खेचने की दी। कुछ मिनटो मे ही महाराज स्वय स्वर्ग पधार गए।

बाबाजी भगवान् का नाम लेते हुए लौटे और उसी समय अधेर नगरी को प्रणाम कर वहा से चलते बने।

इस प्रकार बन्धुओ! एक मूर्ख की जान बची पर दूसरे की चली गई। यह है मूर्खता का फल। इस प्रकार कभी-कभी मूर्खो को अपने प्राणो से भी हाथ धोने पडते हैं।

मनुष्य के पास बुद्धि-बल से बढकर श्रेष्ठ और कोई दूसरी चीज नही होती। बुद्धि के बिना मनुष्य कभी भी सफलता प्राप्त नही कर सकता। बुद्धि के द्वारा ही मनुष्य का मनुष्यत्व प्रकट होता है। बुद्धिमान् व्यक्ति दूसरो की त्रुटियो से शिक्षा लेते है किन्तु मूर्ख (उन बाबाजी की तरह) अपनी त्रुटियो

से सीख लेता है—"Wise man learn by other men's mistakes, fools by their own" एक कहावत है—बुद्धिमान् मनुष्य का एक दिन मूर्ख के जीवन भर के बराबर होता है—"A Wise man's day is worth a fool's life" भावार्थ इसका यही है कि मूर्ख रहकर लम्बी उम्र पाने की अपेक्षा बुद्धिमान् बनकर कम जीना अच्छा है । जिस प्रकार एक गाडी भर लकडी की अपेक्षा चन्दन का एक टुकडा भी अच्छा, क्योंकि वह सुगन्ध तो प्रदान करता है । विद्वान् दार्शनिक हेयर ने कहा है—"The intellect of the wise is like glass, it admists the light of heaven and reflects it" बुद्धिमान् की बुद्धि दर्पण के सदृश है । वह स्वर्ग का प्रकाश लेकर उसे परावर्तित कर देती है ।

मूर्ख कभी भी बुद्धिमान व्यक्ति की तुलना नही कर सकता । चाहे वह बुद्धिमान की अपेक्षा धन मे श्रेष्ठ हो, सौन्दर्य मे श्रेष्ठ हो अथवा शारीरिक स्वास्थ्य मे श्रेष्ठ हो । किसी ने कहा है—

गज तुरग शतै प्रयान्ति मूढा
धनरहितास्तु बुधा· प्रयान्ति पद्भ्याम् ।
गिरिशिखर गतापि काक पक्तिः
पुलिनगतैर्न समत्वमेति हंसै ॥

अर्थात् सैकडो हाथी घोडो पर चलने वाले मूर्ख लोग पैदल चलने वाले धन रहित बुद्धिमानो की बराबरी नही कर सकते, क्योकि पर्वत के शिखर पर निवास करने वाले कौए नदी के तट पर विहार करने वाले हसो की बराबरी नही कर सकते ।

बधुओ ! यह शरीर हमे मूर्खतापूर्वक व्यर्थ ही व्यतीत करने के लिये नही मिला हे । मानव देह मे ही ईश्वर के दर्शन हो सकते है अत इसे नारायण की नगरी भी कहते है । यह शरीर वह पारसमणि है जिसके द्वारा हम स्वर्ग से भी अधिक मूल्यवान, मोक्ष को प्राप्त कर सकते है । बशर्ते कि हम मूर्खता का, अज्ञानता का त्याग करदे । अज्ञानी व्यक्ति न आत्मा को समझ सकता है और न आत्मा की शक्ति को, वह सिर्फ ससार मे पशुवत् पेट भरता हुआ जीवन यापन करता है । प्रसिद्ध आँग्ल कवि टेनिसन ने मानव जीवन का उद्देश्य बताया है—"To strive, to seek, to find and not to yield" पुरुपार्थ और प्रयत्न करते हुए अधिक से अधिक ज्ञान का उपार्जन और प्रभु की भक्ति ।

उपनिषद् मे भी कहा गया है—

इह चेदवेदीदथ सत्यमस्ति न चेदिहावेदीन्महती विनष्टि ·

यहा इसी शरीर मे इसी जीवन मे ब्रह्म को जान लिया, ईश्वर के दर्शन कर लिये तो जीवन सफल है, अन्यथा जीवन निष्फल है, व्यर्थ है।

इस शरीर रूपी नाव को चलाने की कला ज्ञान के द्वारा ही सीखी जा सकती है। मूर्खता के कारण तो मझधार मे डूबना पडता है। अतएव अधिक से अधिक ज्ञान प्राप्त करके जीवन को सार्थक बनाना चाहिए ?

८ | जीवन-सरोवर के महकते कमल
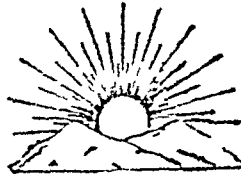
प्रतिदिन हमारे मन मे एक ही बात आती है कि हम जीवन निर्माण किस तरह करे। प्रत्येक प्राणी कामना करता है कि हम दिन प्रति-दिन उन्नति करते जायँ, प्रगति-पथ पर बढते जायँ। कोई भी प्रगति पथ पर पीछे रहना नही चाहता। सभी अपना भविष्य उज्ज्वल बनाना चाहते है। पर बने कैसे! यह नही सूझता और अगर कोई सुझाता है तो उसके अनुसार प्रयत्न किया नही जाता। यह बडी ही अजीब स्थिति है।

केवल इच्छाऐ करते रहने से लक्ष्य की प्राप्ति नही होती। हवाई किले बनाने से क्या फायदा! उसमे जाकर रहा तो जा नही सकता। अगर कोई मन से ही अपने को साधु मान कर बैठ जाए तो क्या कोई उसे साधु समझेगा ?

यह विश्व एक उद्यान है। इसमे प्रत्येक प्रकार के पुष्प खिलते है, पर पुष्प सार्थक वही है जो विश्व मे अपनी महक प्रसारित कर जाए। जिस फूल मे सुगन्ध नही है वह सुन्दर होने पर भी शिरोधार्य नही होता। हम सब जानते है कि प्रत्येक पुष्प—जो खिलता है वह मुरझाने के लिये ही होता है। समय पर उसे सूख कर गिर जाना होता है। किन्तु अन्त मे मुरझा जाने की चिन्ता के कारण असमय मे ही उसे कोई नष्ट नही करना चाहता। उसका जितने काल का जीवन है, उसका सदुपयोग किया जाता है।

बन्धुओ! मेरे कहने का आशय यह है कि एक पुष्प जब तक खिला रहता है तब तक वह अनवरत अपनी महक दूसरो को देता रहता है। प्रत्येक

क्षण वह ससार के प्राणियो को प्रफुल्लित करने का प्रयत्न करता रहता है। अपनी छोटी सी जिन्दगी का एक क्षण भी वह कभी निरर्थक नही करता। क्या आपमे से किसी ने फूल को कभी अपना कार्य वद करते देखा है ? क्या किसी ने देखा है कि किसी समय वह प्रमाद के कारण अपनी महक फैलाना वद कर देता है ? मुर्दे की तरह निश्चेष्ट पडा रहता है ? कभी नही। प्रकृति प्रदत्त अपने कार्य को वह ईमानदारी से करता चला जाता है।

मनुष्य को भी प्रकृति से शरीर और इतने अगोपाग मिले हैं—किस लिये ? काम करने के लिये, आत्मोन्नति के लिये तथा विश्व के अन्य प्राणियो को यथाशक्य सुख पहुँचाने के लिये। किन्तु क्या मनुष्य इसका पूर्ण और सही उपयोग करता है ? क्या अपने शरीर के द्वारा वह दूसरो का सहायक बनता है अथवा अपनी इन्द्रियो को सही मार्ग पर चलाते हुये अपने कल्याण के लिये प्रयत्न करता है ? जिस शरीर के लिये तुलसीदासजी ने कहा है—"नर तन सम नहि कवनिउ देही, जीव चराचर जाचत तेही।" क्या उसको पाकर मनुष्य ने इसके द्वारा भवसागर से पार उतरने का कोई प्रयत्न किया है ?

एक पुष्प की तरह मनुष्य के शरीर से भी यही आशा की जाती है कि वह सतत ससार के सभी प्राणियो के लिये अपने सद्गुणो की सुगध प्रसारित करता रहे। अपने सद्गुणो के द्वारा वह अपने जीवन का निर्माण करे तथा औरो को सहयोग प्रदान करे।

इसीलिये मनुष्य के अगो को भी फूलो की उपमा दी जाती है। मुख-कमल, नयन-कमल, कर-कमल, चरण-कमल और हृदय-कमल, हम लोग कहा करते हैं। किसी के सुन्दर मुख के लिये कहते है—गुलाव के फूल की तरह खिला हुआ है। वात क्या है ? क्यो मनुष्य के अगो को फूलो की उपमा देते हैं ? सर्प के मुख को मुख-कमल क्यो नही कहते ? गाय भैस के पैरो को चरण-कमल क्यो नही कहते ? इसलिये कि —

> वाचामृत यस्य मुखारविंदे, दानामृतं यस्य करारविंदे।
> दयामृतं यस्य मनोऽरविंदे, त्रिलोक वन्द्यो हि नरोवरोऽसौ॥

जिनके मुख से वाणी का अमृत वरसता है और जिनके हाथो से दान का अमृत वरसता है एव जिनके हृदय से दया का स्रोत वहता है—ऐसे ही महान् पुरुषो के अग कर-कमल, हृदय-कमल अथवा मुख-कमल कहे जा सकते है।

कहा जाता है "अमुक के मुह से तो वस पत्थरो की वर्षा होती है अथवा

"अमुक व्यक्ति इस तरह मधुर बोलता है जैसे फूल झड रहे हो।" किन्तु न तो पत्थरो की मुह से वर्षा होती है और न ही फूलो की। यह तो बोलने का ढग है। जो प्रिय लगे वह फूल लगता है और अप्रिय लगे वह पत्थर। अप्रिय बोलने वाले को तिरस्कृत होना पडता है और मधुरभाषी सम्मानित होता है।

एक बार एक कौआ उडता जा रहा था। रास्ते मे उसे एक कोयल मिली। कोयल ने पूछा—चाचा! इतने वेग से उडते हुए कहा जा रहे हो? कौए ने कहा—अभी मै जहाँ निवास करता था वहा के व्यक्ति मेरा आदर नही करते। मै कुछ भी बोलता हू तो पत्थर मारते है। इसलिये मै अपना स्थान बदल रहा हू। दूसरी जगह जाकर रहूगा।

कोयल हँसते हुए बोली— चाचा! स्थान परिवर्तन कर रहे हो सो तो ठीक है, पर वाणी का परिवर्तन करोगे या नही? आवश्यक तो यही है। कहा भी है—

कबहु न भाषिय कटुवचन, बोलिय मधुर सुजान।
जेहि ते नर आदर करें, होय जगत कल्यान॥

एक बीमार व्यक्ति के पास दो व्यक्ति पहुँचते है। पहला बीमार की बीमारी के विषय मे, उसके इलाज के विषय मे पूछता है। अपने सहायक बनने का आश्वासन देता है तथा जीवन और जगत के रहस्य को समझाता है। शरीर की नश्वरता के विषय मे बडे सुन्दर तरीके से बतलाता है। परिणामस्वरूप रोगी शात व सन्तुष्ट होता है और अपनी स्थिति खराब होने पर भी मन को दृढ बनाकर प्रत्येक आने वाली परिस्थिति के लिये तैयार हो जाता है। पर दूसरा व्यक्ति रोगी को सान्त्वना देने के बजाय कुछ कटु वाक्य सुना देता है जैसे—"जो कर्म बाँधे है वे तो भुगतने ही पडेगे। रोने से क्या फायदा आदि।" परिणामस्वरूप रोगी अधमरा हो जाता है। कबीर ने सत्य ही कहा है—"मधुर वचन है औषधी, कटु वचन हे तीर।" कडवे वचन तो हसी-मजाक मे कहने पर भी हृदय मे चुभ जाते है। ऐसे वचनो को ही पत्थर की उपमा दी जाती है।

नेत्र-कमल हम उन नेत्रो को कहेगे जिनमे सौम्यता हो। जिनसे सदा स्नेह-रस छलकता रहता हो। आँखे सारे शरीर का दीपक है। आँखो मे ही मनुष्य की आत्मा का प्रतिबिम्ब पडता है। आखे ही मनुष्य के चरित्र, व्यक्तित्व और अन्त प्रवृत्ति का दर्पण होती है। मन मे कोई लज्जाजनक बात आते ही आँखे झुक जाती है, आनन्द का भान होते ही चमकने लगती

है। करुणा का उद्रेक होने पर बरस पड़ती हैं और इसके विपरीत रोष आते ही जल उठती हैं। जो बात वाणी नहीं कह पाती, वही बात आँखें आसानी से कह देती हैं। मन को आँखों पर शासन करना बड़ा कठिन होता है। रहीमजी ने कहा है —

मन सो कहां रहीम प्रभु, दृग सो कहा दिवान ।
दृगन देखि जेहि आदरे, मन तेहि हाथ बिकान ।।

इस प्रकार आँखें मन को भी अपनी इच्छा के अनुसार नचाने लगती है। सुन्दर वस्तु आँखें देखती हैं पर मन उसे पाने के लिये पागल हो उठता है। किन्तु जिनके नेत्र कमलवत् पवित्र होते हैं उन्हें कुदृश्य नहीं लुभा पाते। राग-रंग, सिनेमा, थियेटर आदि की बजाय उन्हें सन्त-दर्शन अथवा पवित्र स्थानों को देखने की कामना रहती है। कवि रसखान के नेत्रों को हम नयन-कमल कह सकते हैं कि जिनके नेत्र सदा श्रीकृष्ण के निवास और विहार किये हुए ब्रज को देखने के लिये तरसते रहे। ब्रज के वन बाग, तड़ाग (तालाब) और कैर के कुंजों पर वे करोड़ों सोने-चांदी के महलों को भी न्यौछावर कर देने की इच्छा रखते थे —

रसखानि कबौं इन आँखिन सो ब्रज के वन, बाग तड़ाग निहारौं ।
कोटिक वे कलधौत के धाम करील के कुंजन ऊपर वारौं ।।

आशा है आप समझ गए होंगे कि कौन से नयन "कमल-नयन" कहला सकते हैं। क्रूर, लंपट तथा हिंसक नेत्रों को सर्प अथवा शेर की उपमा दी जा सकती है, कमल की नहीं।

अब हम कर-कमलों पर आते हैं—कर यानी हाथ। हाथों के द्वारा अच्छे और बुरे कार्य भी किये जाते हैं। हाथों के द्वारा प्राणियों को मारा-पीटा जा सकता है। पशुओं का वध किया जा सकता है। मनुष्य का गला घोंटा जा सकता है। हाथों के द्वारा ही दीन-दुखी, अपाहिजों की सेवा की जा सकती है, दान दिया जा सकता है। साहित्य का व धर्म-ग्रन्थों का सृजन भी हाथों के माध्यम से ही किया जाता है।

क्रूर कर्म करने वालों के हाथ हाथ नहीं कहला सकते। प्राणियों के गले जिन हाथों से जकड़े जाते हैं उन्हें नाग-पाश कहना उचित है। इसके विपरीत जीवन दान देने वाले हाथ वास्तव में हाथ हैं। जो मनुष्य अपने हाथों के द्वारा सदा दिया करते हैं, वे ही हाथ 'कर कमल' कहलाने के अधिकारी हैं।

अथर्ववेद मे कहा है —

शतहस्त समाहर सहस्र हस्त सकिर

—अथर्ववेद ३ । २४ । ५

सेकडो हाथो मे सचय करो तथा हजारो हाथो से वाटो। विक्टर ह्यूगो ने कहा है—

As the purse is emptied the heart is filled

ज्यो ज्यो धन की थैली खाली होती जाती है मन भरता जाता है अर्थात् सतोप व प्रफुल्लता से परिपूर्ण होता जाता है।

हाथ का भूपण दान है, क्रूर कर्म नही — "**हस्तस्य भूषणं दानम्।**" महाकवि कालिदास कह गए है—'**आदान हि विसर्गाय सता वारिमुचामिव।**' जैसे वादल पृथ्वी से जल लेकर फिर पृथ्वी पर ही वरसा देते है वैसे ही मज्जन भी जिस वस्तु का ग्रहण करते है उसका दान भी करते है। दान दिखावे के लिये अथवा कीर्ति वढाने के लिये नही किया जाना चाहिये। बाइविल मे लिखा है— "तुम्हारा दाया हाथ जो देता है उसे वाया हाथ न जानने पाये।"

दान की महिमा तथा मिठास को सिर्फ धन जोड कर रखने वाले पापाण हृदय के व्यक्ति नही जान सकते, ऐसे व्यक्तियो के लिये तो महात्मा विदुर कहते है कि उन्हे गले मे पापाण बाधकर जल मे डुवा देना चाहिये—

द्वावम्भसि निवेष्टव्यौ गले बद्ध्वा दृढां शिलाम्।
धनवन्तमदातार दरिद्र चातपस्विनम्॥

दान न देने वाले धनिक, तथा तप न करने वाले दरिद्र दोनो को गले मे पत्थर बाँधकर जल मे डुवा देना चाहिये। हम विदुर के इन शब्दो से सहमत नही हो सकते, किन्तु उसका आशय यही है कि इनका धन और जीवन निरर्थक है।

इस प्रकार वन्धुओ! अगर हमारे करो को हमे कमलवत् मानना है तो उनकी महक ससार के सभी प्राणियो तक हमे पहुँचानी पडेगी, अन्यथा इन्हे कर-कमल कहना इनका उपहास करना है, जैसे किसी दरिद्र को कुवेरदास कहना। करो का सदुपयोग नाना प्रकार के शुभ कार्यो मे किया जा सकता है और तभी उन्हे वास्तव मे कर-कमल वनाया जा सकता है।

क़दम चूम लेती है, खुद आ के मंजिल,
मुसाफिर अगर आप हिम्मत न हारे ।

इस शरीर रूपी सरोवर का सबसे महत्त्वपूर्ण तथा महकने वाला कमल हृदय है । इसे हृदय-कमल कहना समुचित ही है । हृदय-कमल के द्वारा ही अन्य अगो को सौरभ प्राप्त होता है । आत्मानन्द रूपी अमृत-जल से हृदय रूपी कमल पोषित होता है । जो साधक पूरक, रेचक व कुम्भक क्रियाओ के द्वारा अपनी कुण्डलिनी को जगा लेते हैं वे इस आनन्दामृत का पान स्वय करते है तथा औरो को कराते है । आत्मानन्द की अनुभूति मे महान् पुरुषो को कोई दूसरी तकलीफ महसूस ही नही होती । लेकिन हृदय की यह स्थिति तब होती है, जबकि हृदय की दुर्गुण रूपी कीचड सूख जाए, हृदय की कलुषता नष्ट होकर उसकी शुद्धि हो जाए ।

धर्म का प्राण हृदय-शुद्धि ही है । तन्दुलमत्स्य आतरिक अशुद्धि तथा दुर्वृत्ति के कारण ही सातवे नरक की ओर प्रयाण करता है । किन्तु चक्रवर्ती भरत ने केवल आतरिक सद्वृत्तियो के कारण ही कैवल्य का वरण किया । स्वर्ग तथा नरक हृदय की आतरिक वृत्तियो पर ही निर्भर होते हैं । अगर हृदय की वृत्तियां विकार ग्रस्त होगी तो स्वर्ग की आशा करना मरुभूमि मे बगीचा लगाने की इच्छा करने के सदृश है, जो कभी सभव नही होगा । किन्तु अगर मन की वृत्तिया पवित्र होगी तो कोई भी ब्रह्माण्ड की शक्ति आत्मा को नरक की ओर नही भेज सकती ।

हृदय की सद्वृत्तिया सच्चे ज्ञान पर अवलम्बित है । जिसने सम्यक्ज्ञान के द्वारा अपनी आत्मा के स्वरूप को पहचान लिया है उसी के हृदय मे सद्वृत्तिया निवास करती है । कविवर पडित दौलतरामजी ने अपनी छहढाला की चौथी ढाल मे ज्ञान की महिमा बताई है .—

ज्ञान समान न आन जगत में सुख को कारन,
रस परमामृत जन्म-जरा-मृत्यु रोग निवारन ।
कोटि जन्म तप तपे, ज्ञान बिन कर्म्म झरै जे,
ज्ञानी के छिन मे, त्रिगुप्ति ते सहज टरै ते,

अर्थात् ससार मे ज्ञान के समान और कोई सुख देने वाला नही है । जन्म जरा तथा मृत्यु इन तीनो महाव्याधियो के लिए ज्ञान ही सर्वोत्तम औषधि है । ज्ञान के न होने पर करोडो जन्मो मे जो कर्म कर पाते हैं, उन्हे ज्ञानी त्रिगुप्ति (मन-वचन और काय की क्रियाओ को रोककर) के द्वारा क्षण भर मे सहज ही नष्ट कर लेता है । आगम मे भी कहा है —

जं अन्नाणी कम्म खवेइ बहुहि वासकोडीहि ।
तं नाणी तिहि गुत्तो, खवेइ ऊसासमित्तेण ॥

ज्ञानी पुरुप का हृदय दर्पण के सदृश होना चाहिए जो किसी वस्तु को विना दूपित किये ही परावर्तित कर देता है । The heart of a wish man should resemble a mirror, which reflects every object without being sullied by any —**कनफ्यूशियस**

महर्पि वेदव्यास ने भी कहा है—तीर्थो मे सबसे श्रेष्ठ तीर्थ विशुद्ध हृदय है तथा पवित्र वस्तुओ मे अति पवित्र भी विशुद्ध हृदय ही है—"**तीर्थानां हृदय तीर्थं, शुचीना हृदयं शुचि** ।"

सिर्फ बुद्धि के होने से ही मनुष्य महान् नही बन सकता । हृदय मे सद्गुणो की स्थापना करने का प्रयत्न छोडकर जो व्यक्ति केवल बुद्धि के विकास की ओर ही ध्यान देते है, वे बहुधा हृदय-शून्य अथवा दूसरे शब्दो मे हृदय-हीन हो जाते है । उन व्यक्तियो मे धैर्य नही रह पाता । क्योकि मैं पहले ही आपको बता चुकी हू कि धर्म का स्थान शुद्ध हृदय ही है । मस्तिष्क मे तो सिर्फ तर्क-वितर्क के लिये ही जगह होती है । अनेक बार मनुष्य तर्क-वितर्क तथा कुतर्को के जाल मे उलझकर धर्म को खो देते है । एक मोटा-सा उदाहरण है —

एक बार एक दार्शनिक सडक पर जा रहा था, सामने एक बिगडा हुआ हाथी आ रहा था । महावत उसे सभालने मे असमर्थ था, अत लोगो मे सडक से परे हो जाने के लिये कहता हुआ चिल्ला रहा था ।

दार्शनिक अपनी धुन मे था, उसने महावत की बात नही सुनी । वह तर्क करने लगा कि हाथी मुझे कैसे मारेगा ? अगर मुझे छूकर मारेगा तब तो महावत उस पर बैठा ह उसे क्यो नही मरता ? वह नही मरता तो मैं भी नही मरूगा । अगर बिना छुए मारेगा तो, बिना छुए मारेगा ही कैसे ? और उस स्थिति मे तो, वह कही भी मार सकता है ।

बस यही सोचते हुए दार्शनिक महोदय निश्चिन्ततापूर्वक चलते रहे और हाथी ने उनका काम तमाम कर दिया ।

बधुओ ! इस प्रकार बिना हृदय की भावनाओ को समझे बुद्धि का गर्व करने वालो को ऐसे परिणाम भुगतने पडते है । इसी तरह के कुतर्क करके लोग धर्म तथा ईश्वर के अस्तित्व को नही मानते, किन्तु जब कालान्तर मे पापो का फल भोगना पडता है तब पश्चात्ताप करते है । पर उनसे फिर

कर-कमलो की तरह ही चरण भी कमल कहलाते है। इनका महत्त्व कर-कमलो मे तनिक भी कम नही है। हम देखते हैं कि प्रत्येक कार्य आरम्भ करने मे पहले मनुष्य अपने उपास्य के चरणो मे नमस्कार करते है। आचार्य सिद्धसेन दिवाकर कल्याण मन्दिर स्तोत्र की रचना श्री जिनेश्वर देव के चरणो की वदना करने के पश्चात् ही की है—

कल्याणमन्दिरमुदारमवद्यभेदि भीताभय-प्रदमनिन्दितमङ्घ्रि पद्मम्।
संसार सागर निमज्जदशेष-जन्तु पोतायमानमभिनम्य जिनेश्वरस्य.. ।

शरीर मे पैरो का स्थान सबसे नीचा होने पर भी पूजा उन्ही की होती है। मदिरो मे भगवान् की प्रतिमा के पैरो के पास ही अर्घ्य चढाया जाता है। साधु - सतो महात्माओ के चरणो पर ही भक्तगण मस्तक रखते है। संतान माता-पिता गुरु तथा बडे-जनो के चरण छूकर ही आशीर्वाद प्राप्त करते है। कितना महत्त्व है चरणो का। दिव्यात्माओ के चरणो की तो रज भी महान् चामत्कारिक मानी जाती है। रामचरितमानस मे तुलसीदासजी ने बताया है कि ऋषि पत्नी अहल्या शाप के कारण पत्थर की शिला हो गई थी। पर जब रामचन्द्रजी वन मे विचरण कर रहे थे उस समय उनका पैर उस शिला पर पड गया और उनकी चरणरज मे अहल्या शाप से मुक्त होकर पुनः अपने असली रूप मे आ गई।

राम की चरण रज का ऐसा चमत्कार सुन लेने के कारण जब रामचन्द्रजी एक बार गगा पार करना चाहते थे तब केवट ने उन्हे नाव पर नही बैठाया। बोला—

चरण कमल रज कहुँ सब कहई, मानुष करनि मूर कछु अहई।
छुअत सिला भई नारि सुहाई, पाहन ते न काठ कठिनाई॥
तरनिउ मुनि घरनी होई जाई, बाट परइ मोरि नाव उड़ाई।
जो प्रभु पार अवसिगा चहहू, मोहि पद पदुम पखारन कहहू॥

प्रभु! तुम्हारे चरण-कमलो की धूल के लिये सब लोग कहते हैं कि वह मनुष्य बना देने वाली कोई जडी है, जिसके छूतेही पत्थर की शिला सुन्दरी स्त्री हो गई। फिर मेरी नाव तो पत्थर से नरम काठ की है। अगर यह आपके चरणो के स्पर्श से किसी मुनि की पत्नी बनकर चली जाएगी तो मैं क्या करूगा? अत अगर आप अवश्य ही गगा पार जाना चाहते है तो कृपा करके पहले अपने चरण-कमल धो लेने की आज्ञा दीजिये। मुझे आप से कुछ उतराई नही लेना है, बस पैर धोकर ही नाव पर बिठा लूगा। हे राम!

मुझे आपकी दुहाई तथा दशरथजी की सौगंध है। भले ही लक्ष्मण मुझे तीर से मारे, पर जब तक आपके पैरों को नहीं पखार लूंगा हरगिज नाव पर नहीं चढाऊंगा :—

पद कमल धोई चढाई नाव न नाथ उतराई चहौं।
मोहि राम राउरि आन दशरथ सपथ सब सांची कहौं॥
बरु तीर मारहु लखनु पै जब लगि न पाय पखारिहौं।
तब लगि न तुलसीदास नाथ कृपालु पार उतारिहौं॥

केवट की बातें सुनकर राम हंसने लगते हैं और कह देते हैं—भाई! तू वही कर जिससे तेरी नाव न जाय। केवट खुश होकर पानी लाता है और राम के चरण कमलों का प्रक्षालन करता है। तत्पश्चात् सारे परिवार सहित स्वयं उस जल को पीकर फिर रामचन्द्र लक्ष्मण व सीता को गंगा के उस पार ले जाता है।

आप भक्तों की भावनाओं को तो समझ गए होंगे। अब समझना और सोचना तो यह है कि अपने पैरों को इतना चामत्कारिक और शुभ कैसे बनाया जाय कि ये चरण-कमल कहलाने लगें।

इसका एक ही उपाय है। वह यह कि महान् पुरुषों के गुणों को हम अपनाएं। उनके पद चिह्नों पर चलने का प्रयत्न करें। अपने कदम दूसरों के कल्याण के लिये बढ़े। शुभ कार्यों के लिये बढाने से कभी भी हिचकिचावें नहीं, तभी संसार में बार बार का आवागमन मिटेगा। किसी कवि ने कहा भी है —

कदम नेक राहों पे धरता चला जा,
मिटेगा ये आवागमन धीरे-धीरे।

सेवा, परोपकार तथा दूसरों को सुख पहुँचाने के लिये हमारे कदम सदा तत्पर रहने चाहिये। अपने लिये तो इस लोक में सभी जीते हैं। पशु-पक्षी भी अपना भला-बुरा समझ लेते हैं पर जिस तरह नदियां अपना जल नहीं पीती, वृक्ष अपने मधुर फल स्वयं नहीं खाते उसी तरह भव्य जीव अपने शरीर को दूसरों के लिये त्यागने को भी तैयार रहते हैं। वे कभी भी साहस नहीं छोडते। चाहे आग में भी कूदना पडे तो भी उनके कदम रुकते नहीं, अविलम्ब नट जाते हैं। उन्हें ही सफलता मिलती है अपने लक्ष्य की पूर्ति में। कहते हैं :—

क्या होता है ? क्योंकि मनुष्य भव, उत्तम कुल और जैन शास्त्रों का पढना-पढाना ये सब साधन खो दिये जावें तो फिर समुद्र में खोये गए चिन्तामणि के सदृश मनुष्य पर्याय कठिन होता है—

यह मनुष्य पर्याय, सुकुल सुनिवो जिनवानी।
इह विधि गए न मिले, सुमनि ज्यों उदधि समानी॥

प्रत्येक को समय तथा जीवन का सदुपयोग करना चाहिए। जीवन में धर्म केसर के सदृश होता है। केसर की चार पखुडिया भी दूध में डाल दी जाय तो दूध स्वादिष्ट व सुगन्धित हो जाता है। इसी प्रकार हृदय में यथाशक्य थोडा भी धर्म अगर बसा रहे तो मनुष्य पर्याय सार्थक हो जाती है। एक पजाबी कवि का कथन है :—

ए ही वेला ई सुनहरीचुक जाई ना।
गेड़े मुड़के चौरासियां दे खांई नां॥
वेखीं अपने उद्धार दा उधार न करीं—
ओ मन ! याद रखीं॥

अर्थात् जीवन की यह सुनहरी वेला अगर बीत गई तो फिर चौरासी के चक्कर रूपी खाई मे तुझे गिरना पडेगा। इसलिये हे मन ! याद रख कि इस ससार सागर से मुक्त होने का प्रयत्न इसी भव मे करना है। मुक्ति को अगले जन्म के लिए उधार मत रखना।

धर्म प्रेमी सज्जनो ! आशा है आपने हृदय का महत्त्व समझ लिया होगा। शेक्सपियर ने तो हृदय का मूल्य स्वर्ण के सदृश बताया है :—"A good heart is worth gold" पर मेरी दृष्टि मे हृदय का मूल्य इतना अधिक है कि उसके मुकाबले मे कोई भी वस्तु नही रखी जा सकती। प्रफुल्लित हृदय-कमल मे ही भगवान का निवास होता है। उसके सकुचित रहने पर सद्वृत्तियो की महक प्रसारित नही होती।

अब हमारी आज की बात समाप्त होती है। आप लोगो ने अच्छी तरह समझ लिया होगा कि इस शरीर रूपी सरोवर के कमलागो मे से किस प्रकार सौरभ का प्रसार होता है और क्यो इनकी उपमा कमल अथवा अन्य पुष्पो से की जाती है।

●●

१

हॅसते-हॅसते जीना

हँसते हँसते जीना जीवन की बडी भारी सफलता है। हमी जीवन का एक अग है और प्रकृति के द्वारा दिये गए सर्वोत्तम दिव्य उपहारो मे से एक है। यह प्रकृति की सबसे बडी नियामत है। हसी और उल्लास का नाम ही जीवन है। हसमुख व्यक्ति के हृदय का विपाद और अवसाद हसी के तेज झोको से क्षणमात्र मे रुई की तरह उड जाता है। कहा गया है—

Always laugh when you can, it is a cheap medicine of all diseases

जब भी सम्भव हो, सदा हसो ! यह समस्त रोगो की सस्ती दवा है।

प्रसन्नमुख व्यक्ति जहाँ कही भी पहुँच जाता है वही पर एक सुन्दर वातावरण बन जाता है। कितना भी गम्भीर और उदासी से भरा हुआ वातावरण हो, प्रफुल्ल व्यक्ति उसे सहज और प्रसन्नतापूर्ण बना लेता है। साधक जीवन की बात और है, मगर सामाजिक तथा पारिवारिक जीवन को सुन्दर मधुर तथा मरस बनाने के लिये मनुष्य को हसमुख तथा प्रफुल्ल-चित्त बने रहने का प्रयत्न करना आवश्यक है।

जो व्यक्ति सदा गमगीन रहता है, सुस्ती तथा उदासी उसे हर वक्त घेरे रहती है। वह अपने काम मे सफल नही होता। कहावत भी है—"जो आदमी रोता हुआ जाता है, वह मरे की खबर लेकर ही लौटता है।"

एक महत्त्वपूर्ण बात और भी है। वह यह कि दुनिया सदा हसने वाले का साथ देती है। रोने वाले व्यक्ति के पास कोई भी व्यक्ति बैठना नही चाहता। एक अग्रेजी की कविता की दो पक्तियो मे यही बात बडे सुन्दर ढग से कही गई है—

Laugh and the world laugh with you,
Weep and you weep alone

हंसो और सारा संसार तुम्हारे साथ हंसेगा। रोओ और तुम्हें अकेला रोना पड़ेगा।

बन्धुओ! हंसने से जीवन में अनेकों लाभ प्राप्त होते हैं। सर्वप्रथम तो हंसने से साहस बढ़ता है। हम देखते हैं कि देश की रक्षा के लिये युद्धों में जाने वाले बहादुर हंसते हंसते प्रयाण करते हैं। हंसने वाले व्यक्ति ही जीवन की बाजी लगा सकते हैं। जब हिन्दुस्तान परतंत्र था, इसे स्वतन्त्र करने के लिये अनेकों होनहार नवजवानों ने हंसते हंसते अपने जीवन का बलिदान कर दिया। सरदार भगतसिंह अपने साथियों के साथ हंसते हंसते फांसी पर चढ़ गए थे। स्वयं तो हंस ही रहे थे सारी दुनिया के लिये भी वे खुश रहने का संदेश दे गए—"खुश रहें अहले वतन हम तो सफर करते हैं।'

देश भक्तों की तरह भगवान् के भक्त भी हंसते-हंसते ही अपने प्राणों को न्यौछावर कर देते हैं। प्राण जाने पर भी वे अपने आराध्य तथा धर्म की निन्दा नहीं सुन सकते और धर्म-परिवर्तन नहीं कर सकते।

गुरु गोविन्दसिंह के दो मासूम बच्चे हंसते हंसते ही दीवाल में चुने गए पर उन्होंने धर्म-परिवर्तन नहीं किया। प्रह्लाद को स्वयं उसके पिता हिरण्यकश्यपु ने अनेक तरह से मार डालने की कोशिश की, किन्तु उसने तब भी अपने पिता को भगवान् मानना स्वीकार नहीं किया।

एक किंवदंती है। इतिहासप्रसिद्ध कवि गंग को अकबर बादशाह ने हाथी के पैरों के नीचे कुचलवा दिया और उसके समस्त परिवार को घानी में डाल कर पेल दिया। क्योंकि कवि ने अकबर बादशाह को अपना आश्रयदाता नहीं माना था। अपने गोविन्द के अलावा वह और किसी की परवाह नहीं करता था। वह मस्त कवि हंसते गाते बलिदान हो गया। कहानी इस प्रकार है—

गंग कवि बादशाह अकबर के दरबारी तथा मित्रों में से एक थे। कई वर्षों तक वे अकबर के साथ रहे। एक दिन दरबार में अकबर ने कहा—कविराज! तुम्हें मेरे दरबार में रहते हुए अनेक वर्ष हो गये। समय-समय पर तुमने नाना प्रकार की कविताएँ सुना-सुना कर हमें बहुत प्रसन्न किया है पर मेरी प्रशस्ति में तुमने अब तक कोई कविता नहीं बनाई।

कवि गंग ने पूछा—महाराज! आप कैसी कविता सुनना चाहते हैं?

अकबर बोले—मै बादशाह हू, सब को आश्रय तथा सहारा देता हूँ। मेरे प्रसन्न होने पर व्यक्ति मालामाल हो सकता है और अप्रसन्न होने पर धूल मे मिल सकता है। अत तुम कविता मे और कुछ भी लिखो पर अन्त मे यह जरूर लिखना कि 'सब मिल आस करे अकबर की।"

गग कवि ने कहा—तथास्तु। और कुछ समय बाद ही उस भरे दरबार मे उन्होने अपनी छोटी सी कविता सुनाई—

एक को छोड़ दूजे को रटे, रसना जु कटे उस लब्बर की,
आज की दुनिया गनिया को रटे, सिर बाधत पोट अटब्बर की।
कवि गग तो एक गोविन्द भजे, वह सक न माने जब्बर की,
जिनको न भरोसा हो उनका, सब आस करे वो अकब्बर की।

कविता सुनकर बादशाह आग बबूला हो गए और गग कवि मे बोले—तुम्हे बादशाह की तौहीन का फल चखना पडेगा।

कवि ने निडर होकर मुस्कराते हुए फिर कहा—

एक हाथ घोडा और एक हाथ खर।
कहना था सो कह दिया अब करना हो सो कर॥

लाल पीले हुए बादशाह ने उसी क्षण एक हाथी बुलवाया और गग को उसके नीचे डाल देने का आदेश दे दिया।

बहादुर कवि हसते हुए और यह गाते हुए हाथी के समीप चला गया—

कभी न राड्या रण चढ्या कभी न बाजी बभ।
सकल सभा को आशिष है, विदा होत कवि गग।

कहते है—अकबर बादशाह ने सिर्फ गग कवि को ही नही, वरन् उसके पूरे परिवार को मरवा दिया। किन्तु समय सदा एक सरीखा नही रहता, न ही मन की स्थिति सदा एक जैसी रहती है।

एक दिन अकबर को कुछ कागजातो के बीच मे गग कवि की एक कविता मिली उसमे लिखा था—

जट कहा जाने भट का भेद, कुम्हार कहा जाने भेद जगत का,
प्रीत की रीत अतीत कहा जाने, भील कहा जाने पाप लगे का।
गूढ की बात मे मूढ कहा जाने, भेंस कहा जाने खेत सगे का,
गंग कहे सुन शाह अकब्बर, गधा कहा जाने नीर गगा का।

पढकर अकबर की आँखे खुली और उसे कवि गग को मरवा डालने का

बडा भारी पश्चात्ताप हुआ। उसने चारो ओर आदमी भेजे कि अगर गग कवि के परिवार मे कोई बच्चा हो तो ले आओ। मैं उसे सम्मान देकर अपने पाप का प्रायश्चित्त करूगा।

मालुम हुआ कि जब गग के परिवार वालो को मरवाया जा रहा था उस समय गग कवि की पत्नी पीहर गई थी उसी समय उसके एक पुत्र हुआ था वह जिन्दा है।

अकबर बादशाह ने उसे बुलाने के लिये तुरन्त आदमी भेजा।

गग का बालक छोटा सा था पर अपने पिता के जैसा ही मस्त तथा बेफिक्र। वह बडा ही होनहार था। उस छोटी सी उम्र मे भी वह बड़ी सुन्दर-सुन्दर कविताऐ लिखने लगा था। पिता की तरह बडा स्वाभिमानी और गौरवशाली था। कहते भी है—

शूरवीर के वश मे, शूरवीर सुत होय।
ज्यो सिंहनी के गर्भ मे, स्याल न उपजे कोय॥

अकबर बादशाह बच्चे को देखकर बहुत प्रसन्न हुआ और उसने बडे स्नेह मे बच्चे को अपने पास बुलाकर पूछा—क्या तुम भी अपने पिता की तरह कविताए बनाना जानते हो? बालक के 'हा' कहने पर अकबर ने उसे कविता सुनाने के लिये कहा, साथ ही कहा—अपने पिता की तरह मत सुनाना।

बच्चा हस पड़ा। बोला—पिता की तरह नही सुनाऊँगा पर उनका इतिहास तो बताया जाय। इस पर उसके पिता के विषय मे बताया गया और अन्त मे यह भी बताया गया कि उसे हाथी के पैरो के नीचे कुचलवा दिया गया था।

बालक बोला—यह नही हो सकता। सच बात मै बताता हूं और वह बडे गर्व से बोला—

देवन को दरबार भरचो, जब पिंगल छंद बनाय के गायो।
कोऊ से अर्थ कियो न गयो, तब नारद को परसन्न सुनायो॥
मृत्यु लोक में गग कवीश्वर, गंग को नाम सभा मे सुनायो।
चाह भई परमेश्वर के, तब गग को लेन गनेश पठायो॥

कितना सुन्दर पद था? छद का अर्थ जब किसी के समझ मे नही आया तो नारद ने कवि गग के विषय मे बताया और परमेश्वर ने तब गनेश (गणेशजी) अर्थात् सूड वाले—हाथी को कवि गग को लाने के लिये भेजा।

अकबर बादशाह ने उस बच्चे की कविता सुनकर दातो तले अगुली दबा

गी, बड़े ही प्रभावित हुए । खुश होकर उन्होंने उसे बहुत सा इनाम दिया और सम्मानपूर्वक विदा किया ।

तात्पर्य यही है कि प्रसन्नता व मस्ती मनुष्य को मृत्यु तक की भी परवाह नही करने देती ।

प्रसन्नता से दूसरा लाभ है शरीर का निरोग रहना । मनुष्य अपने मन का प्रतिबिम्ब होता है । जैसा उसका मन होता है वैसा ही उसका चेहरा रहता है । जीवन जीने की कला का रहस्य है—प्रसन्नता, उल्लास एव मुस्कान । अभी मैंने कहा था कि हँसना एक ऐसी अमोघ औपधि है जो अनेक रोगो को जड मूल से ही मिटा देती है । किसी विद्वान् ने कहा है —

To be free minded and cheerfully disposed at hours of meals, and of sleep, and of exercise, is one of the best precepts of long lasting

भोजन, निद्रा तथा व्यायाम मे चिन्तारहित तथा हँसमुख स्वभाव दीर्घायु का सर्वोत्तम साधन है ।

क्रोध, भय, चिन्ता तथा ईर्ष्या—ये सब मन के रोग है । इनसे ग्रस्त रहने वाला व्यक्ति कभी भी स्वस्थ नही रह सकता । तपेदिक आदि अनेक बीमारिया मन की चिन्ता तथा उदासी के कारण हो जाती है । किन्तु इन सब मानसिक रोगो की एकमात्र रामबाण दवा है—प्रसन्न रहना और मुस्कराते रहना । प्रसन्नता तथा हँसी रोगो को जड मूल से न मिटा सके तो भी उनसे होने वाली वेदना से छुटकारा दिलाती है ।

हँसने से तीसरा लाभ यह है कि मनुष्य सर्वप्रिय हो जाता है । हसमुख व्यक्ति के प्रति सभी सहज ही आकर्पित हो जाते है । आप अपने किसी स्नेही व्यक्ति से मिलते है, तब आप सिर्फ मुस्करा दे, उतने मे ही वह व्यक्ति आपको अपना बडा हितैपी तथा शुभचिन्तक मानने लगता है ।

हसी तथा मुस्कान का चमत्कार जादू की तरह होता है और तुरन्त ही असर करता है । तारीफ की बात तो यह है कि एक पैसा भी उसके लिये आपको खर्च नही करना पडता और मुस्कान पाने वाला व्यक्ति निहाल हो जाता है । कहा भी है—

"Smile enriches those who receive, without impoverishing those who give"

मुस्कान पाने वाला मालामाल हो जाता है, और देने वाला दरिद्र नही होता।

वहनो ! स्त्री को तो प्रसन्न-मुखी ही कहा गया है। अगर आप सदा प्रसन्न रहेगी तो घर प्रसन्नता के वातावरण से भरा रहेगा, कोई भी दिन भर के परिश्रम से क्लान्त पुरुष सध्या को जब घर लौटता है तब वह अपनी पत्नी की एक मुस्कान तथा अपने मासूम बच्चो की खिल-खिलाहट पर अपना सारा श्रम भूल जाता है। आचार्य मनु ने आप की ही तरफदारी करते हुए कहा है —

स्त्रियां तु रोचमानायां सर्वं तद्रोचते कुलम्।
तस्या त्वरोचमानायां सर्वमेव न रोचते॥

स्त्री यदि प्रसन्न रहे तो सारा परिवार प्रसन्न रहता है। यदि वह मनहूस बनी रहती है तो समग्र वातावरण मनहूसी से भर जाता है।

विक्टर ह्यूगो ने भी कहा है "Man have sight, women insight" मनुष्य की दृष्टि होती है और नारी को दिव्य दृष्टि। किन्तु यह सच तब होता है जबकि आप सदा प्रसन्नता से भरी रहे। क्रोधी और चिडचिडे स्व-भाव की वहनो को दिव्यदृष्टि होना कभी भी सम्भव नही है। उनके लिये तो कबीरदासजी ने दूसरी ही बात कही है—

साप बीछि को मत्र है, माहुर झारे जात।
विकट नारि पाले परी, काटि करेजा खात॥

बुरा मानने की बात नही हैं वहनो ! सचमुच ही हँसमुख नारी घर को स्वर्ग बना देती है। और मुहफट तथा ईर्ष्यालु स्त्री घर को नरक। सदा हास्य से घर को मुखरित करने वाली नारी स्नेह तथा सौजन्य की देवी होती है। वह नर-पशु को मनुष्य बनाती है, अपनी मधुर वाणी से जीवन को अमृतमय बनाती है। उसके नेत्रो से भी आनन्द का दर्शन होता है। ऐसी नारी के हास्य मे निराशा-मिटाने की अपूर्व शक्ति होती है। वह स्वय बडे से बडा दुख भी होठो पर मुस्कराहट लेकर सह लेती है।

हसने वाला व्यक्ति व्यापार मे भी सफल होता है। एक चीनी कहावत है—"जिस मनुष्य का मुखमण्डल मुस्कराता हुआ न हो उसे दुकान नही खोलनी चाहिये।" दुकानदार अगर चिडचिडे व रुक्ष स्वभाव का होता है तो ग्राहक एक बार मे दुवारा उस दुकान पर पैर रखने की इच्छा नही

करता । इमके विपरीत हसमुख और सहनशील व्यापारी के मधुर स्वभाव के कारण ग्राहक बार बार उसी की दुकान पर चला आता है ।

प्रसन्नतापूर्वक किया हुआ भोजन भी शरीर को पूरा लाभ पहुँचाता है । भोजन करते समय उदासी अथवा क्रोध होने पर भोजन पचाने के लिये आमाशय मे झरने वाला पाचक रस सूख जाता है और खाना बराबर नही पचता । प्रसन्नतापूर्वक भोजन करने से पाचक रस अधिक से अधिक मात्रा मे भोजन मे मिलता है और उसे ठीक ढग से पचा देता है । दार्शनिक हर्बर्ट ने कहा है—

"A cheerful look makes a dish a feast"

हसमुख चेहरे से दिया गया जलपान ही स्वादिष्ट भोजन हो जाता है ।

शिक्षण देने वाले शिक्षक को तो हसमुख रहना अनिवार्य है । कभी न हसने वाले शिक्षक से छात्र कापते रहते है । भय के कारण न तो वे ठीक तरह से पढ ही पाते है और न ही अपना पाठ याद कर पाते है । डॉट-फटकार तथा मार-पीट के भय का भूत उनकी नजरो के सामने सदा नाचता रहता है । किन्तु हसते हसते प्यार से पढाने वाले अध्यापक के द्वारा पढाया गया एक-एक पाठ तथा सिखाई हुई एक एक कला छात्रो के मस्तिष्क मे सहज व शीघ्र बैठ जाती है । यह बडी प्रसन्नता की बात है कि आज इस दिशा मे काफी प्रयत्न हो रहा है । शिक्षको को ट्रेनिग दी जाती है और मजबूर किया जाता है कि वे छात्रो को हसते मुस्कराते हुए ही बिना मारपीट के पढाए ।

शिक्षको की तरह ही डाक्टरो को भी हसमुख होना आवश्यक है । हसमुख डाक्टर को देखकर ही बीमारो की मानो आधी बीमारी खतम हो जाती है ।

डाक्टर रूक्ष स्वभाव का हो और मरीज से वह दवा, पथ्य इ जेक्शन आदि के बारे मे डाँट फटकार कर कहे तो बीमारो का दिल बैठ सा जाता है । इसके विपरीत अत्यत स्नेह तथा सान्त्वनापूर्ण व्यवहार डाक्टर से पाने पर मृतप्राय रोगी के शरीर मे भी नवजीवन का संचार हो जाता है । शिक्षको की अपेक्षा भी डाक्टरो का हसमुख होना अधिक आवश्यक है क्योकि बीमार का जीवन-मरण ही उनके ऊपर बहुत कुछ निर्भर होता है ।

बन्धुओ, अब अधिक क्या कहूँ, सिर्फ यही की हसना मनुष्य के लिये

कल्पवृक्ष के समान हित-कर है जिसके द्वारा मनुष्य को प्रत्येक दिशा मे सफलता रूपी फल मिलता है। हसना जीवन है और रोना मृत्यु।

जीवन के इस महायुद्ध मे भले ही कितने भी सकट आए, कितनी भी विपत्तियाँ आए किन्तु अगर मनुष्य उन स्थितियो मे भी हसता हुआ रह सकता है तो वह जीत सकता है। उदास निराश व्यक्ति हिम्मत खो बैठता है और विनाश को प्राप्त होता है।

हसी वरदान है और उदासी अभिशाप। इसीलिये एक सत ने भगवान से कितनी मर्मस्पर्शी प्रार्थना की है —

'जब जिन्दगी के कगारो की हरियाली सूख गई हो, पक्षियो का कलरव मौन हो गया हो, सूरज के चेहरे पर ग्रहण की छाया गहरी होती जा रही हो, परखे हुए मित्र और आत्मीय-जन काँटो के रास्ते पर मुझे अकेला छोड़कर चल दिये हो और आसमान की सारी नाराजी मेरी तकदीर पर बरसने वाली हो, तो हे मेरे प्रभु! तुम मेरे साथ इतना अनुग्रह करना कि उस समय भी मेरे होठो पर हसी की एक उजली रेखा खिच जाये।"

—योन नगोची (जापान का महाकवि)

१० | अंत भला सो सब भला...!

पानी केरा बुदबुदा, अस मानुष की जात ।
देखत ही छिप जायगा, ज्यो तारा परभात ॥

The human body is like a bubble which burst in no time and will disappear as stars in the morning

जिस प्रकार पानी मे बुलबुले वनते है और विगडते है उसी प्रकार जीव जन्म लेते है और मरते हैं। सध्या होने के वाद गगन मडल मे तारो का आविर्भाव होता है किन्तु प्रभात मे सूर्य की प्रथम किरणो के साथ ही उनकी चमक जाती रहती है और वे निस्तेज होकर छिप जाते है। यही क्रम ससार मे जीवो का रहता हे। वे जन्म लेते है और मरते है।

इस नश्वर जीवन का कोई भरोसा नही है। कच्ची मिट्टी के घडे मे भरे हुए पानी का भरोसा नही किया जा सकता क्योकि तनिक से धक्के से ही घडा फूट जाता है। ठीक इसी प्रकार जीवन-डोरी भी तनिक से आघात से टूट जाती है। आयुष्य खतम हो जाता है।

जो जीव जन्मा हे वह अवश्य ही मरेगा **"जन्मिना प्रकृतिर्मृत्यु ।"** मरण को कोई मिटा नही सकता। मरण तो शरीर का अन्तिम कार्य तथा अनिवार्य स्वभाव है। **"मरणं प्रकृति शरीरिणाम् ।"**

वालक जन्म लेता हे, समय उसे बाल्यावस्या, युवावस्था, वृद्धावस्था तथा अत मे मृत्यु-अवस्था तक ले आता है और उसी क्षण जीव का साथ छोड देता है। प्राणी खतम होते जाते हैं पर समय अनवरत यही कार्य करता रहता हे। वह कभी खतम नही होता। भर्तृहरि ने कहा है—**"कालो न याति वयमेव याताः"** समय समाप्त नही हुआ, किन्तु हम ही अर्थात् प्राणी

मात्र ही समाप्त हो गए है। समय का चक्र बडा ही विषम है। तभी तो कहते हैं—'**कालस्य कुटिला गति.।**"

मृत्यु समान भाव से सबको निगलती रहती है "**साम्येन ग्रसतेऽन्तकः**" यह किसी का पक्षपात नही करती। न ही यह प्रतीक्षा करती है कि किसी ने अपना कार्य कर लिया है अथवा नही —

"**न हि मृत्यु प्रतीक्षते कृत चास्य न वाऽकृतम्।**"

ऐसी स्थिति मे भी, जब कि मृत्यु अवश्यमेव आने वाली है और कभी भी,किसी भी क्षण आ सकती है। मनुष्य भौतिक वस्तुओ के सग्रह मे ही सना रहता है। वह उस सम्पदा के उपार्जन की ओर ध्यान नही देता जो उसके साथ जाने वाली है। मानव इस ससार मे इस तरह रहता है मानो जीवन शाश्वत है और ससार नित्य। सब कुछ जानते व समझते हुए भी वह ध्यान नही रखता कि एक दिन उसे इस ससार से विदा लेनी है। उस दिन का स्मरण उसे नही रहता। ऐसे ही व्यक्ति के लिये किसी कवि ने कहा है—

वा दिन को कर सोच हृदय मे।
वनज किया व्यापारी तूने, टाडा लादा भारी रे।
ओछी पूंजी जूआ खेला, आखिर बाजी हारी रे॥
आखिर बाजी हारी करले चलने की तैयारी॥
इक दिन डेरा वन मे ॥

ससारी आत्मा जब जन्मान्तर लेने के लिये एक देह का परित्याग करती है तब केवल अपने आत्म-द्रव्य को लेकर ही प्रस्थान करती है। यह शरीर उसके साथ नही जाता। इसको निर्माण करने वाले तत्त्व अपने अपने मूल तत्त्वो मे जा मिलते है। आत्मा के परलोकवासी होते ही सोना - चाँदी, जमीन - जायदाद कुटुम्ब परिवार सब यही रह जाता है।

इसलिये मनुष्य का गौरव तथा प्रतिष्ठा इसी मे है कि वह अपने शाश्वत एव निष्कलक निर्वाण पद को प्राप्त करे। जन्म और मरण यह आत्मा का वास्तविक स्वरूप नही है, यह तो आत्मा पर एक कलक है, जिसे धोकर ही वह अनन्त शाति तथा सुख प्राप्त कर सकता है।

प्रत्येक मानव को प्रतिक्षण यह ध्यान रखना चाहिये कि वह अपने आप मे सर्वतन्त्र स्वतन्त्र द्रव्य है। अन्य वस्तुओ से उसका कुछ भी नाता रिश्ता नही है। वह सदा से अकेला रहा है और सदा अकेला रहेगा। शरीर तो उसका नही ही है, यहाँ तक कि उसकी आत्मा के साथ एक क्षेत्रावगाही-

कार्मिक वर्गणाओ से भी उसका कोई सम्बन्ध नही है । आत्मा तीनो काल मे अकेली है । कुटुम्ब परिवार सभी सिर्फ नदी-नाव के सयोग की तरह है—

चेतन तू तिहु काल अकेला !
नदी नाव संजोग मिलै ज्यो, त्यो कुटुम्ब का मेला ।
यह संसार असार रूप, सब ज्यों पट पेखन खेला ।।

जिस प्रकार पट बीजने की क्रीडा असार है और अनित्य है उसी प्रकार ससार का रूप भी असार तथा अनित्य है ।

अजुली मे लिया हुआ पानी प्रतिक्षण एक-एक बूद के रूप मे गिरता रहता है और एक समय आता है जबकि सम्पूर्ण अजुलि जल से रिक्त हो जाती है । ठीक इसी प्रकार आयु-भी प्रतिक्षण घटती रहती है किन्तु तब भी मनुष्य चेतता नही । वह अज्ञानता के कारण बडे बडे अनर्थ तथा भूले करता जाता है । उसे इस बात का विवेक नही रहता कि कौनसी वस्तु उसके लिये हितकारी है और कौनसी हानिकारक । ऐसी मूढ अवस्था मे वह हितकारी वस्तु को छोड देता है तथा अहितकारी वस्तु को अपना लेता है । किसी कवि ने ऐसे नादान व्यक्ति के लिये कितनी मार्मिक झिडकी दी है—

तैं क्या किया नादान, तैं तो अमृत तजि विष लीन्हा !
लख चौरासी योनि मांहि तैं, श्रावक कुल में आया ।
अब तजि तीन लोक के साहब नवग्रह-पूजन धाया ।।
बुधजन मिलै सलाह कहैं तन, तू वा पै खिजि आवै ।
जथा जोग को अजथा मानैं, जनम जनम दुख पावै ।।

कहा है, रे मूर्ख ! तूने यह क्या किया । तूने तो अमृत छोडकर विप ले लिया । चौरासी लाख योनियों मे अनादि काल से भ्रमण करते हुए बडी कठिनाई से तो श्रावक कुल मे जन्म लिया पर अब जब कि तुझे आत्म-कल्याण के लिये श्री जिनेन्द्र देव को अपना आदर्श बनाना चाहिये था, तू नवग्रहो की पूजा करने मे लग गया ।

तेरी मति तो ऐसी हो गई है कि जो तुझे सत्परामर्श देते है उन पर भी तू खीझ उठता है । सत्य को असत्य तथा असत्य को सत्य मानता है और जन्म मरण के चक्र को चलाता रहता है । यह गया हुआ मनुष्य जन्म फिर प्राप्त नही होता । और यह ज्ञात होने पर प्राणी अन्त समय मे पश्चात्ताप करता है । ठीक उसी तरह जैसे एक व्यक्ति अपनी अमूल्य मणि को समुद्र मे फेंककर आजीवन विलखता रहता है ।

अतिम समय मे मनुष्य विकल होकर सोचते हैं कि हम आजतक अपनी आत्मा को नही पहचान सके और न इसकी विशुद्ध स्वाभाविक परिणति प्राप्त कर सके। हमने पर पदार्थों के पद को ही अपना आत्मीय पद मान लिया और उसी मे तन्मय हो गए। हमारा जो शुद्ध बुद्ध आनन्दमय चैतन्य स्वभाव था उसका भूल कर भी चिन्तन नही किया। अपने नरक, तिर्यञ्च मनुष्य और देव-भाव को ही अपनी आत्मा की परिणति समझी और हमारी निर्मल, पवित्र, अखण्ड, तथा अविनाशी आत्मा के जो गुण थे उनका अब तक कभी चिन्तन नही किया :—

हम तो कबहुं न निज घर आए,
पर पद निज पद मानि मगन ह्वै, पर परनति लपटाये।
शुद्ध बुद्ध सुखकन्द मनोहर, चेतनभाव न भाये॥
नर पशु देव नरक निज जान्यो, परजय बुद्धि लहाये।
अमल, अखण्ड, अतुल, अविनाशी, आतम गुन नहि गाये॥

परिणाम यह हुआ कि आत्मा इन्द्रिय सबधी सुख मे राग वृद्धि करता रहा और इन्द्रिय सम्बन्धी दु.ख मे द्वेष वुद्धि। इस प्रकार इसने कर्म-बध की परम्परा को और प्रश्रय दिया तथा ससार-बंधन की शृखला मे अधिक से अधिक जकडता चला गया। जिस प्रकार तोता अपनी आत्म-गति अर्थात् आकाश-गति को भूलकर नलिनी के फन्दे मे फसता है और फिर पश्चात्ताप करता है, उसी प्रकार आत्मा अपने सही रूप को भूल कर स्वय ही अत समय मे पश्चात्ताप की आग मे जलती है, दुख उठाती है :—

"अपनी सुधि आप, आप दुख उपायो।
ज्यों शुक नभ चाल विसारि, नलिनी ललकायो।

बधुओ! आशा है मेरे कथन का मर्म आप समझ गए होगे। इसका यही सारांश है कि जो प्राणी आत्मा के सही स्वरूप को न समझ कर सदा पर-पदार्थों मे ही आसक्त रहकर जीवन बिता देते हैं, उन्हे अन्त समय मे बडे दु खपूर्वक पश्चात्ताप करना पडता है। उस समय अपनी भूल को सुधारने का उनके पास न तो समय ही होता है और न शक्ति ही। फल-स्वरूप वे अकाल मृत्यु को प्राप्त होते हैं। तथा अनेकानेक पुण्यो के कारण जो मनुष्य की देह मिली थी वह व्यर्थ चली जाती है। नर-जन्म पाकर भी इस भवसागर का एक भी चक्कर कम नही हो पाता —

गुजराती कविवर ने कहा है —

बहु पुण्य केरा पुंज थी,
नर देह मानव नो मल्यो,
तो ये अरे भव सिंधु नो,
आँटो नहीं एके टल्यो।

तो अब हमे करना क्या है ? यही कि जब तक जीवन है, सतत यह ध्यान रखना है कि इस ससार मे धर्म के सिवाय और कोई भी चीज अपनी नही है। सिर्फ इसी पर भरोसा किया जा सकता है और यही इस जन्म मे तथा इतर जन्म मे हमारा सहायक बन सकता है। इसके अलावा विपत्ति मे और कोई सहायक नही बनता। जितने भी हमारे सगे-सबधी नातेदार तथा रिस्तेदार है, सब स्वार्थ के साथी हैं, अपना काम निकल जाने पर कोई भी पूछने वाला नही है .—

यावद्वित्तोपार्जन — शक्त,
स्तावन्निजपरिवारो रक्त.।
पश्चाज्जर्जरभूते देहे,
वार्ता पृच्छति कोपि न गेहे।

जब तक मनुष्य धन कमाने मे समर्थ होता है तभी तक उसके कुटुम्बी-जन उसमे प्रेम करते है। जब शरीर जर्जर हो जाता है तो घर मे कोई उसका हाल भी नही पूछता।

दूसरी बात यह सदा ध्यान मे रखने की है कि जीवन का कोई भरोसा नही। न जाने किस दिन यहाँ से प्रस्थान हो जाए। जीव जब जन्म लेता हैं मौत तो मानों तभी से ताक लगाए रहती है और किसी क्षण भी झपट कर ले जाती है। अत इस क्षणिक जीवन मे धन-सपत्ति आदि का गर्व करना व्यर्थ है —

कबिरा गर्व न कीजिये, काल गहे कर केस।
ना जानौ कित मारि है, क्या घर क्या परदेस ॥
कबिरा नौबत आपनी, दिन दस लेहू बजाय।
यह पुर पट्टन यह गली, बहुरि न देखो आय ॥

कितनी मार्मिक बात है। सचमुच ही एक बार मनुष्य पर्याय खो देने पर फिर वापिस इसका पाना दुर्लभ है। इसीलिये हमे अपने जीवन का एक-एक क्षण सार्थक कर लेना चाहिये। ऐसा जीवन बिता लेना चाहिये कि इसे छोडते समय तनिक भी दुख अथवा पश्चात्ताप न हो। मृत्यु के समय हमारा मन सतुष्ट रहे और मन मे समाधि भाव बना रहे।

इसके लिये बडे प्रयत्न व अभ्यास की आवश्यकता है। बडी साधना की जरूरत है। मन को जब तक विविध विकल्पो व चिन्ताओ तथा भौतिक कामनाओ से विमुख करके आत्माभिमुख नही करेंगे तब तक आत्म-स्वरूप का साक्षात्कार होना असभव है। साधक का जीवन आदि से अत तक बडा कठिन होता है। उसे जीवन-पथ को पार करते समय सतत सावधानी रखनी चाहिये। तनिक सी भी असावधानी उसके बडे भारी प्रयत्न पर पानी फेर सकती है। किसी कवि ने यही भाव अपने शब्दो में दर्शाया है :—

ऐसे सुमिरण कर मेरे भाई !
पवन थमे मन कितहूँ न जाई।
पच परावर्तन लखि लीजे, पाचो इन्द्री को न पतीजे।
'द्यानत' पाँचो लच्छि लहीजे, पच - परम-गुरु शरन गहीजे।।
सो तप तपो वहुरि नहि तपना, सो जप जपो वहुरि नहि जपना।
सो व्रत धरो वहुरि नहि धरना, ऐसो मरो वहुरि नहि मरना।।

अर्थात्—भाई, तुम इस तरह अपनी विशुद्ध आत्मा का स्मरण करो, जिससे प्राण-वायु स्तभित हो जाय और मन किंचित्मात्र भी चलायमान न हो। पहले पच परिवर्तनो पर दृष्टि डालो जिससे तुम्हे अपनी चिरकालीन ससार भ्रमण की कथा का वोध हो सके। तत्पश्चात् पाँचो इन्द्रियो का निग्रह करो और कभी भी पच परमेष्ठियो की शरण न छोडो।

ऐसी तपस्या करो, जिससे सदा के लिये इस भव भ्रमण से छुटकारा मिल सके। ऐसा जाप करो कि फिर जन्मान्तर मे कभी फिर जाप करने की आवश्यकता ही न पड़े। ऐसे व्रतो का पालन करो कि फिर किसी जन्म मे व्रत ग्रहण ही न करने पडे और मरण भी ऐसा पडित मरण (समाधि पूर्वक) मरो कि वार-वार मरण के दुख से निवृत्ति हो जाय।

बधुओ ! आपके मन मे प्रश्न होगा कि क्या मरने मरने मे भी कोई फर्क है ? सभी की आत्मा इस शरीर को छोडकर चली जाती है तो इस शरीर को छोडने मे भी क्या विभिन्नताए है ?

आत्मा के शरीर को छोड़ कर जाने की क्रिया मे तो भिन्नता नही है किन्तु मरते समय प्राणी के जो परिणाम रहते है, उसके मन मे जो भाव रहते हैं, उनमे बडी विभिन्नता होती है। उस दृष्टि से मरण के भेद किये जाते हैं। शास्त्रकारो ने मरण के सत्तरह भेद वताए है, किन्तु मुख्यरूप से हम दो भेद करते है।

(१) बाल मरण (अकाम मरण)
(२) पडित मरण (सकाम मरण)

जो व्यक्ति मृत्यु की वेला उपस्थित होते ही सोचता है—हाय ! अपने भुज-बल से उपार्जित इस धन-सम्पदा तथा प्राणो से भी प्रिय अपने स्वजनो को छोड़कर जाना पडेगा । इन्हे कैसे छोड़ू ? इनकी देख-भाल कौन करेगा ? कौन इस सम्पत्ति का उपयोग करेगा ? हाय ! क्या कोई औषधि और शक्ति ऐसी नही है जो मुझे मृत्यु के मुख मे जाने से बचा सके ! साराश यही कि मृत्यु का क्षण आते ही जो मनुष्य उससे बचने का भरसक प्रयत्न करता है, ममत्व और मोह का पुतला बन जाता है, उसका प्रत्येक वस्तु से राग भाव इतना तीव्र हो जाता है कि उन्हे छोडते हुए वह मर्मान्तिक वेदना का अनुभव करता है और सम्यक्‌दर्शन, ज्ञान तथा चारित्र से सर्वथा रहित होता है, ऐसे व्यक्ति का मरण बाल मरण या अकाम मरण कहलाता है ।

इसके अलावा जो व्यक्ति किसी मर्मान्तिक दुख से घबरा कर, विष खाकर, जल मे डूब कर, आग मे जलकर अथवा पहाड आदि ऊची जगहो से गिरकर आत्महत्या करता है उससे भी अन्तिम समय मे भाव अशुद्ध होते है और उसका मरण बाल मरण कहलाता है ।

सत्थ-ग्गहणं विस-भक्खणं, जलण, च जल-प्पवेसो य ।
अणायार-भंडसेवी जम्मण-मरणाणि बंधति ॥

—उत्तराध्ययन सूत्र

इसके विपरीत जिस व्यक्ति को आत्मा का यथार्थ ज्ञान होता है, मृत्यु उसके मन मे तनिक भी भय अथवा दुख का सचार नही कर पाती, वह आत्मा के अलावा समस्त वस्तुओ को पर समझता है । उसे मृत्यु के समय पर अपनी विभूति और परिवार आदि को छोडते समय किञ्चित् भी दुख नही होता । वह समझता है —

यावत्पवनो निवसति देहे,
तावत्पृच्छति कुशलं गेहे ।
गतवति वायौ देहापाये,
भार्या बिभ्यति तस्मिन् काये ।

जब तक शरीर मे सास चलती है तब तक घर मे लोग कुशल मगल पूछते हैं । देह मे की श्वास-क्रिया बद होते ही पत्नी भी इस शरीर से भय-भीत होकर भाग खड़ी होती है ।

वह सोचता है— शरीर नाशवान् है पर आत्मा नष्ट नही होती। मृत्यु तो प्रभु का आमंत्रण है। अगर जल्दी आ जाए तो इसमे दु.ख या शोक की वात ही क्या है !

ज्ञानी व्यक्ति सोचता है कि अज्ञानतापूर्वक तो मैंने अनेक वार जन्म मरण किया और असीम दुखो को उठाया पर अब तो मुझे आत्म-प्रतीति हो गई है। अत इस मृत्यु के अवसर पर दुख अनुभव करने की आवश्यकता ही नही है।

वह तो यहा तक विचार करता है तथा प्रतीक्षा करता है कि मुझे वह सुयोग्य क्षण कव प्राप्त होगा जव कि मेरे आत्मा की समस्त वैभाविक परणतिया और विकल्प पूर्ण रूप से निर्मूल हो जाएँगे और आत्मा की शुद्ध, स्वाभाविक एवं निराकुल अवस्था प्रकट हो जाएगी।

इस प्रकार समाधि भाव के साथ, रत्नत्रय की आराधना पूर्वक, साम्य भाव मे जो मृत्यु का आलिगन करते है उनका मरण, पडित मरण (सकाम मरण) कहलाता है।

मेरी वड़ी गुरु वहन श्री झमकू कुवरजी म. तो ४५ दिन तक संथारे मे रही थी। और जव तक उनके शरीर मे शक्ति रही वे वडे ही प्रसन्न मन से सवसे वातचीत तथा विचारविमर्श करती रही थी। यहा तक कि आप सुनकर आश्चर्य करेंगे—वे अपने सथारे के समय भी अपने अधूरे ज्ञान को पूरा करती रही, याद करती रही।

अनाथी मुनिजी के अध्ययन की अन्तिम २० गाथाएं उन्होने मुझसे पूछ-पूछ कर याद की।

वंधुओ ! क्या इतने उत्कृष्ट तथा शान्तिपूर्ण भाव मृत्यु के समय सभी के रह पाते है ? वे तो एक अलौकिक आत्मा थी। उनकी मृत्यु के पश्चात् वह स्थान, जहा वे लेटी हुई थीं, अपने आप हमारे देखते-देखते ही गुलाव के सूखे फूलो की पंखुड़ियो से भर गया। हजारो व्यक्ति उन्हे देखने उमड पडे। यहां तक कि श्रावक गण उनके फूल (अस्थिया) चुनने श्मशान गये तव भी सारे पथ मे अनेक जगह फूल व पखुडिया गिरती हुई दिखाई दी।

इस ससार मे आज भी ऐसी महान् आत्माओ की कमी नही है। मेरे गार्हस्थिक पिता पूज्य मुनिराज श्री मागीलालजी महाराज ने कई महीने पहले अपनी मृत्यु का समय वता दिया था और मृत्यु से तीन दिन पहले भी फिर सभी को आगाह कर दिया कि "तीन दिन और अपने हैं।" यहा तक

कि जिस रात्रि को उन्होने देह त्याग किया उस शाम को भी कहा —"आज तो चलाचली का दिन है ।" जिस समाधि-मरणपूर्वक उनके प्राण-पखेरुओ ने प्रयाण किया, पूरा भवन महा अलौकिक तथा आखो को चोधिया देने वाले प्रकाश से क्षण भर के लिये भर गया था ।

कहने का तात्पर्य सिर्फ यही है कि प्रत्येक प्राणी को पण्डितमरण का महत्त्व समझ कर उसके लिये पहले से ही अभ्यास करना चाहिये । अभ्यास, बन्धुओ ! मरने का नही किन्तु प्रत्येक परिस्थिति मे समभाव रख सकने का तथा शुभचिन्तन करते रहने का करना है ।

इतिहास मे हम पढते है कि बडे से बडे पापी भी अन्त समय मे शुभ भावो के कारण अपने जीवन को सफल कर गये । गोशालक वर्षों तक महावीर भगवान् की निन्दा करता रहा तथा उनका अनिष्ट करने का इच्छुक बना रहा, किन्तु अन्त समय मे पश्चात्ताप करके और समाधि भाव से मरण को प्राप्त होकर देवलोक मे गया ।

इसके साथ ही यह ध्यान मे रखना है कि कोई व्यक्ति भले ही जप, तप, साधना करे और समभाव रखे, जीवन मे किसी का अनिष्ट चिंतन न करे किन्तु पूर्वबद्ध आयुकर्म के प्रभाव से अगर मृत्यु के समय उसके परिणामो मे विकृति आ जाए या वह मोह का शिकार बन जाए तो उसे शुभ गति प्राप्त नही होती । उसकी साधना पर एक बार तो पानी फिर ही जाता है ।

स्कन्दक मुनि अपने ५०० शिष्यो सहित अपनी बहन पुरन्दरयशा को प्रतिबोध देने के लिये, दण्डकारण्य देश मे अपने बहनोई महाराजा कुम्भकार के नगर को पधारे । पर कुम्भकार के मत्री पालक ने अपने पूर्व अपमान का बदला लेने के लिये षड्यन्त्र रचा ।

उसने नगर के बाहर वाटिका मे, जहा पर स्कन्दक मुनि ठहरे थे, ५०० हथियार गडवा दिये और राजा को आकर कह दिया कि आपके साले जो श्रमण के वेश मे है, वास्तव मे डाकू है । विश्वास न हो तो उद्यान की भूमि खुदवाकर उनके छिपा कर रखे हुए हथियार देख लीजिये ।

राजा कानो का कच्चा था । उसने वाटिका की खुदवाई की और हथियार पाकर गुस्से से पागल हो गया । तुरन्त ही उसने मत्री पालक को आदेश दे दिया कि इन साधुओ को प्राणदण्ड दिया जाय ।

मन्त्री को और क्या चाहिये था ? वह एक कोल्हू लेकर गया और एक-एक मुनि को उसमे डालकर पेलने लगा । प्रत्येक मुनि सथारे का प्रत्याख्यान

लेकर कोल्हू मे जा बैठता और मन की निर्वैर तथा साम्य भावनाओ के कारण क्षण भर मे सद्गति प्राप्त कर लेता है ।

४९९ शिष्यो का पालक मंत्री ने खून वहा दिया फिर भी स्कन्दक मुनि अडिग वने रहे । अन्त मे उनका एक वाल-शिष्य वचा, तव स्कन्दक मुनि से नही रहा गया । वे वोले—मैं इसको अपने सामने मरते नही देख सकूगा, अत पालक ! तुम पहले मुझे कोल्हू मे पेल दो ।

पर पालक नही माना । उसने जान वूझकर आचार्य के सामने उस वाल-साधु को भी कोल्हू मे पेल दिया । उसके पश्चात् वाल-साधु भी मोक्ष मे जा पहुँचा । इसके वाद स्कन्दक मुनि को भी कोल्हू मे पेला गया किन्तु उस वाल साधु के प्रति मोह जागृत होने के कारण तथा मन पूरी तरह निर्वैर न रह पाने के कारण वे मोक्ष मे नही जा सके ।

सज्जनो ! यह है पडित मरण का प्रभाव । जिस स्कन्दक मुनि ने जीवन मे परम शुद्ध मुनि धर्म का पालन किया, उन्ही के ५०० शिष्य तो उनके देखते-देखते मोक्ष को चले गये किन्तु स्वय आचार्य के परिणामो मे अन्त समय मे स्थिरता न रही अत वे मुक्त होने से वचित रह गये ।

इस उदाहरण से आप यह भी समझ ले कि पडित मरण अथवा सकाम मरण उसी का होता है जिसके मृत्यु-समय मे भाव शुभ होते हैं व राग द्वेप रहित होते हैं । यह जरूरी नही है कि जो साधु हो गया है यानी जिसने वाना वदल लिया है उसका ही सकाम मरण होगा ।

चाहे दिगम्वर हो अथवा श्वेताम्वर, व्राह्मण हो या राजपूत, जो अपनी प्रजा के द्वारा उचित अनुचित का निर्णय कर लेता है वह ज्ञानी कहलाता है । ऐसा व्यक्ति जीवन मे प्रतिदिन समाधिमरण की कामना करता है और अन्त समय मे पापो की आलोचना करके सथारा करता है ।

उत्तराध्ययन सूत्र में भी कहा गया है कि पण्डितमरण न तो सभी भिक्षुओ को होता है और न सभी गृहस्थो को—

ण इम सव्वेसु भिक्खुसु, ण इमं सव्वेसुऽगारिसु ।

गृहस्थ हो या भिक्षु, जिसने कषायो का अन्त कर दिया वे सयम और तप का पालन कर देवलोक मे जाते है :—

ताणि ठाणाणि गच्छन्ति, सिक्खित्ता संजमं तवं ।
भिक्खाए वा गिहत्थे वा, जे संति परिणिव्वुडा ।।

—उत्तराध्ययन सूत्र

प्रत्येक व्यक्ति को, जो आत्म साधना करना चाहता है अप्रमादी होना चाहिये। उसे चाहिये कि वह सतत कषायो को नष्ट करने का प्रयत्न करता रहे। तुच्छ, निस्सार व पतन की ओर ले जाने वाली दुष्प्रवृत्तियो को पकड कर रखने वाला व्यक्ति आत्म-साधना मे सफल नही हो सकता। जब तक शरीर विद्यमान है तब तक मानव सद्‌गुणो का सचय करता रहे, कर्मो की शृङ्खला को तोडता चला जाए। तभी वह अपनी मजिल की ओर पहुँच सकता है और अपना अन्त समय सुधार सकता है क्योकि समस्त जीवन वडे सुन्दर ढग मे वीते पर आखिरी समय मे अगर परिणाम विगड जाए तो सारे जीवन का प्रयत्न व्यर्थ चला जाता है।

आप एक सुन्दर विल्डिग का निर्माण करते हैं। वडी सावधानी से तथा सुन्दर कारीगरो के द्वारा उसे तैयार करवाते है किन्तु भाइयो! अगर उस पर छत न डलवाए तो उसके वनवाने से क्या लाभ हो सकता है? एक कुए से आप पानी खीचते है। सो हाथ की रस्सी उसमे लगती है। पानी निकालते निकालते आप ६६ हाथ की रस्सी तो खीच लेते है पर सिर्फ एक हाथ की वाकी रहने पर असावधानी के कारण हाथ से रस्सी छोड देते है तो वताइये कि ६६ हाथ की रस्सी खीचने से क्या फायदा हुआ?

यह ससार एक महासागर है। क्रोध मान, माया व लोभ रूपी घडियाल इसमे प्रतिक्षण मु ह वाए मनुष्य को भक्षण करने के लिये घूमते रहते है। राग तथा द्वेप रूपी भवर हैं जिनमे पडकर मनुष्य फस जाता है। इस सागर को भी एक व्यक्ति किसी तरह पार करता है लेकिन किनारा कुछ ही फासले पर रह जाता है। उस समय अगर प्रमाद करके वह तैरना छोड दे तो क्या होगा वताइये? यही कि पूरा समुद्र पार करने का प्रयत्न व्यर्थ चला जाएगा।

आत्म-साधना के इच्छुक का जीवन आदि से अत तक कटकाकीर्ण है। कही भी उसे निरापद स्थान मिलना मुश्किल है अतः ऐसे मार्ग पर चलने के लिये पृथक प्रयत्न करना चाहिये।

किसी भी व्यक्ति को यह भूलकर भी नही सोचना चाहिये कि हमारे दादाजी अथवा पिताजी वहुत कुछ कर गए। उन्होने खूब दान किया, अनाथो की रक्षा की व असहायो की सेवा की। अत' अब हम न करे तो भी क्या? याद रखिये, आपके पेट मे वही जाएगा जो आप स्वय अपने हाथ से मु ह मे डालेगे। इसी प्रकार उस कार्य का ही फल आपको मिलेगा जो आप करेगे।

किसी भी मनुष्य को कभी यह नही सोचना चाहिये कि वचपन मे

पिताजी के साथ धर्म-स्थानों में जाया करता था और युवावस्था में शक्ति के साथ कुछ कर लेता था। अब तो वृद्धावस्था आ गई है अतः विश्राम करूंगा। यह तो ठीक उसी प्रकार होगा जैसे एक व्यक्ति किसी यात्रा पर जाने के लिये महीनों तैयारी करे। कपड़े सिलवाए, धन इकट्ठा करे और यात्रा के लिये उपयोगी अन्य समस्त साधन जुटाए। जाने के दिन घर के ताले आदि बन्द करके स्टेशन पर भी पहुँच जाए। किन्तु ट्रेन आने के दो-चार मिनिट पहले ही वह सो जाए फिर कहिये यात्रा के लिये की हुई छः महीने की तैयारी किस काम आई? गाडी तो उसकी छूट ही गई।

कुछ व्यक्ति यह सोचते हैं कि अभी तो युवावस्था है, शरीर में शक्ति है तो खूब व्यवसाय आदि करके धन का उपार्जन करलें। धर्म तो बुढ़ापे में ही कर लेंगे पर होगा क्या?

आज कहै कल्ह भजूंगा, काल कहै फिर काल,
आज काल के करत ही, औसर जासी चाल।

जो व्यक्ति यौवनकाल में कुछ न करके बुढ़ापे में, जब कि उसकी देखने की, सुनने की, चलने की व परिश्रम करने की शक्ति खत्म हो जाती है, ईश्वर भक्ति करने की सोचता है वह महामूर्ख है। क्योंकि कार्य तो बहुत महान् है पर आयु बहुत थोड़ी। उस पर भी जीवन का कोई ठिकाना नहीं है कि कब मृत्यु के थपेड़े से जीवन-दीप बुझ जाए।

बंधुओ! अगर अपने जीवन को सफल बनाना है तो आज से ही अपने कल्याण में लग जाइये। आज से ही क्या इसी क्षण से। जो कुछ अब तक हुआ सो हुआ। Grive it not. It is never too late to mend जो हो गया उसकी चिन्ता छोड़कर भविष्य जीवन का निर्माण करिये—

बीती ताहि बिसारि दे, आगे की सुधि लेइ।
जो बनि आवे सहज मे, ताही मे चित देइ॥
ताही मे चित देइ बात जोई बनि आवै।
दुर्जन हंसै न कोई, चित्त में खता न पावै॥
कह गिरधर कविराय, यहै करू मन परतीती।
आगे को सुख समुझ, होइ बीती सो बीती॥

बीते हुए को भूलकर आज से ही अपने आगामी जीवन तथा मृत्यु के लिये तैयारी करनी चाहिये।

मृत्यु का नाम सुनते ही मनुष्य के मन में भय व दुख का संचार होने

लगता है। वह सोचता है कि अगर वश चले तो वह कभी भी मरने के लिये तैयार न हो। पर भाइयो! मृत्यु को इतना भयानक नही समझना चाहिये। भयानक तो जीवन है, मृत्यु नही। हमे मृत्यु कष्ट नही पहुँचाती। कष्ट तो बीमारी पहुँचाती है। मृत्यु विचारी तो व्यर्थ कोसी जाती है और कोसे जाते है डाक्टर वैद्य :—

"वैद्यराज! नमस्तुभ्यं यमराज-सहोदरम् ॥"

हे वैद्यराज! तुम्हे नमस्कार है, क्योकि तुम यमराज के सहोदर हो।

खैर... मैं यह कह रही थी कि मृत्यु को जैसा बहुत लोग सोचते है, वैसी भयानक वह नही है। यह तो शातिमयी है। उसने नया जीवन मिलता है। ईसामसीह ने मरते समय कहा था :—

"ऐसा लगता है कि जैसे मेरे एक रोम मे फूल खिल रहे हो।"

हैनरी थोरो ने भी मृत्यु के समय ये शब्द कहे थे—"समार को छोडने मे कोई कष्ट नही है।"

गेटे के शब्द थे—"प्रकाश और अधिक प्रकाश।"

स्वामी दयानन्द सरस्वती को जब शीशा घोलकर पिलाया गया तो उन्होने पिलानेवाले मे अत्यन्त प्रसन्न-मुख होकर कहा—"तेरी इच्छा पूरी हो।"

साराश यही है कि मृत्यु पुराने वस्त्र बदल कर नए पहनने या पुराने घर को छोडकर नए घर मे निवास करने की तरह है। इमसे डरने की आवश्यकता नही है। जो मरना जानते है उनके लिये मौत तनिक भी भयकर नही है। मिल्टन ने कहा है—

"मृत्यु वह सोने की चाबी है जो अमरता के महल को खोल देती है।"

सुकरात ने भी मनुष्य को समझाया है —

Be of a good cheer about death and know this of a truth, that no evil happen to a good man, either in life or after death.

अर्थात्—मृत्यु के बारे मे सदैव प्रसन्न रहो और इसे सत्य मानो कि भले आदमी पर जीवन मे या मृत्यु के पश्चात् कोई बुराई नही आ सकती, रवीन्द्रनाथ टैगोर का कथन है कि—"मृत्यु तो प्रभु का आमन्त्रण है। जब वह आए तो द्वार खोलकर उसका स्वागत करो और चरणो मे हृदय धन सोपकर अभिवादन करो।"

तो सज्जनो! जब प्रत्येक जन्मे हुए प्राणी को मरना ही है तो उससे

डरना या कांपना तथा हाय-हाय करना अज्ञानता है। प्रत्येक को निडर रहकर सोचना चाहिये कि जब मरना ही है तो मैं कैसी मृत्यु को अपनाऊ? किसी को भी अन्त समय मे माया-मोह बढाकर अथवा राग-द्वेष रखकर मरने की कामना नही करनी चाहिये। मन का स्वभाव है अत इसमे राग-द्वेष विषय-कषाय आदि का आविर्भाव हो जाता है पर उस स्थिति मे भी मनुष्य को यह सोचना चाहिये कि अगर ऐसी स्थिति में मैं मृत्यु को प्राप्त हो जाऊ तो क्या होगा? यह सोचकर उसे पापो के लिये अविलम्ब पश्चात्ताप करना चाहिये तथा जिससे किसी- भी प्रकार का वैर-भाव हो उससे क्षमायाचना करनी चाहिये तथा क्षमा देना भी चाहिये।

जीवन के अतिम क्षण जिस समय उपस्थित हो मोह-ममता का सर्वथा त्याग कर देना चाहिये। हम देखते है कि उस समय भी परिवार शाति से मरने नही देता। कभी स्त्री आकर कहती है कि 'आप तो चले अब मेरी क्या दशा होगी ?" कभी बच्चे आंखो मे आंसू लिये आकर खड़े हो जाते हैं। और कभी माता-पिता अपनी फिक्र प्रदर्शित करते हैं।

पर ऐसे समय मे भी मनुष्य को भूलना नही चाहिये कि मेरी आत्मा के प्रयाण करते ही यही सब कुटुम्बीजन मेरे शरीर से भी डरेंगे। अकेला कोई यहा पाच मिनिट भी नही बैठेगा। जल्दी से जल्दी इसे फूक आने की तैयारी करेंगे। और उसके बाद कुछ समय मे ही मेरी याद भी कुटुम्बियो के हृदयो मे धुधली पड़ जाएगी।

यह सोचने पर स्वय ही मोह-ममता तथा राग-द्वेष मन से दूर हो जाएँगे और प्राणी को पडित मरण प्राप्त होगा। ऐसे व्यक्ति को मृत्यु तनिक भी कष्टप्रद नही मालूम होती वरन् आनन्द-दायिनी प्रतीत होगी।

अन्तिम समय का सुधारना सम्पूर्ण जीवन को सुधारना है। अत उस समय तनिक भी असावधानी अथवा उपेक्षा नही होनी चाहिये।

शरीर का नाश तो होगा ही पर यह वस्तुत मृत्यु नही है। वास्तविक मृत्यु तो पापो की वासनाओ का नाश होने मे है और इनका नाश होना आवश्यक है अन्यथा आत्मा के दूसरा कलेवर प्राप्त कर लेने पर भी ये पीडा का कारण बनेगी। आशा है आप समाधि-मरण का अर्थ समझ गए होगे और यह भी समझ गए होंगे कि "अन्त भला सो सब भला।" मैंने रविवार के कारण आपका काफी समय ले लिया है।

●●